

आधुनिक भारत का इतिहास



छात्र हित में निर्गत पूर्व प्रकाशन प्रति

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
तीनपानी बाई पास रोड़, ट्रान्सपोर्ट नगर के पास, हल्द्वानी-263139
फोन नं. 05946-261122, 261123
टॉल फ्री नं. 18001804025
फैक्स न. 05946-264232, ई-मेल info@uou.ac.in
<http://uou.ac.in>

अध्ययन बोर्ड समिति

डॉ. गिरिजा प्रसाद पाण्डे, प्रोफेसर इतिहास एवं निदेशक समाज विज्ञान विद्याशाखा,
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
प्रोफेसर रविन्द्र कुमार, इतिहास विभाग, समाज विज्ञान विद्याशाखा, इग्नू, नई दिल्ली
डॉ. लाल बहादुर वर्मा, प्रोफेसर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
डॉ. रामेश्वर प्रसाद बहुगुणा, इतिहास विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली
डॉ. मदन मोहन जोशी, सहायक प्रोफेसर एवं समन्वयक इतिहास,
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

अध्यक्ष

सदस्य

सदस्य

सदस्य

सदस्य

पाठ्यक्रम संयोजन एवं संपादन

डॉ. मदन मोहन जोशी, सहायक प्रोफेसर एवं समन्वयक इतिहास,
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी, नैनीताल

इकाई लेखन

ब्लॉक एक

इकाई एक: 18वीं शताब्दी का भारत : राजनीतिक परिदृश्य, डॉ. राजेन उपाध्याय, इतिहास विभाग, नामची राजकीय विद्यालय, दक्षिण सिक्किम,, सिक्किम
इकाई दो : अंग्रेजों की भारत विजय : एक विमर्श, डॉ. राजेन उपाध्याय, इतिहास विभाग, नामची राजकीय विद्यालय, दक्षिण सिक्किम,, सिक्किम
इकाई तीन ब्रिटिश सत्ता का विस्तार : विचारधारा एवं वाणिज्यवाद, डॉ. राजेन उपाध्याय, इतिहास विभाग, नामची राजकीय विद्यालय, दक्षिण सिक्किम,, सिक्किम

ब्लॉक दो

इकाई एक ब्रिटिश विस्तार की नीतियां एवं कार्यक्रम, विस्तार के उपकरण : युद्ध एवं कूटनीति, डॉ. रमा जैसवाल, डी- 170, गामा 1, ग्रेटर नोयडा, गौतम बुद्ध नगर,
इकाई दो : आंग्ल-फ्रांसीसी प्रतिस्पर्धा : कर्नाटक युद्ध, प्रो. एस.बी. सिंह, प्राचार्य, सर्वोदय विद्यापीठ, पी.जी. कालेज
इकाई तीन : बंगाल में अंग्रेजी सत्ता की स्थापना (प्लासी से 1772 तक) प्रो. एस.बी. सिंह, प्राचार्य, सर्वोदय विद्यापीठ, पी.जी. कालेज

ब्लॉक तीन

इकाई एक आंग्ल-मराठा संघर्ष, डॉ. मिथिलेश मिश्रा, भारती कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
इकाई दो : लार्ड हेस्टिंग्स और ब्रिटिश सर्वोच्चता डॉ. मिथिलेश मिश्रा, भारती कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
इकाई तीन : विलियम बैंटिक, डॉ. मिथिलेश मिश्रा, भारती कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

ब्लॉक चार

इकाई एक : रणजीत सिंह: जीवन एवं उपलब्धियां, डॉ. समर मोइज रिजवी, इतिहास एवं संस्कृति विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, विश्वविद्यालय, दिल्ली
इकाई दो: लार्ड डलहौज डॉ. समर मोइज रिजवी, इतिहास एवं संस्कृति विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, विश्वविद्यालय, दिल्ली
इकाई तीन: लोकप्रिय जनजातीय तथा असेनिक विद्रोह डॉ. समर मोइज रिजवी, इतिहास एवं संस्कृति विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, विश्वविद्यालय, दिल्ली,

ब्लॉक पांच

इकाई एक : 1857 का विद्रोह इलियास हुसैन, इतिहास विभाग, मोतीलाल नेहरू कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
इकाई दो : आंग्ल-अफगान संबंध डॉ विकास रंजन कुमार, इतिहास विभाग, राज0 स्नात0 महा0 बाजपुर, ऊ0सि0नगर,
इकाई तीन : औपनिवेशिक भारत : प्रशासनिक संरचना डॉ. सिराज मुहम्मद, इतिहास विभाग, एम.बी.पी.जी. स्नात. महा., हल्द्वानी ।

ब्लॉक छह

इकाई एक : काउन का भारत के प्रशासन पर नियंत्रण : केन्द्रीय, प्रांतीय एवं जनपद प्रशासन डॉ. नूतन सिंह, इतिहास विभाग, वाई.डी. कालेज, लखीमपुर, उत्तर प्रदेश
इकाई दो: ब्रिटिश सत्ता का रजवाड़ों के साथ संबंध डॉ. नूतन सिंह, इतिहास विभाग, वाई.डी. कालेज, लखीमपुर, उत्तर प्रदेश
इकाई तीन: भारत एवं पड़ोसी देश : तिब्बत, नेपाल, बर्मा, फारस एवं फारस की खाड़ी डॉ विकास रंजन कुमार, इतिहास विभाग, राज0 स्नात0 महा0 बाजपुर,

ब्लॉक सात

इकाई एक: भारत पर ब्रिटिश शासन का प्रभाव डॉ. सौरभ बाजपेई, सेण्टर फॉर हिस्टोरिकल स्टडीज, जे.एन.यू. नई दिल्ली
इकाई दो: स्वतंत्र भारत : देशी रियासतों का विलय डॉ. सौरभ बाजपेई, सेण्टर फॉर हिस्टोरिकल स्टडीज, जे.एन.यू. नई दिल्ली
इकाई तीन: स्वतंत्र भारत : पड़ोसी देशों से संबंध: पाकिस्तान, चीन, नेपाल, बर्मा एवं श्रीलंका डॉ. सौरभ बाजपेई, सेण्टर फॉर हिस्टोरिकल स्टडीज, जे.एन.यू. नई दिल्ली

प्रकाशन वर्ष: अगस्त, 2018

कापी राइट: / उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

संस्करण: सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन प्रति

प्रकाशक: कुलसचिव, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल, उत्तराखण्ड ।

आधुनिक भारत का इतिहास

पृष्ठ संख्या

ब्लॉक एक	
इकाई एक:18वींशताब्दी का भारत : राजनीतिक परिदृश्य	1—11
इकाई दो :अंग्रेजों की भारत विजय : एक विमर्श	12—25
इकाई तीन ब्रिटिश सत्ता का विस्तार : विचारधारा एवं वाणिज्यवाद	26—37
ब्लॉक दो	
इकाई एक ब्रिटिश विस्तार की नीतियां एवं कार्यक्रम, विस्तार के उपकरण : युद्ध एवं कूटनीति	38—53
इकाई दो :आंग्ल—फ्रांसीसी प्रतिस्पर्धा : कर्नाटक युद्ध	54—65
इकाई तीन :बंगाल में अंग्रेजी सत्ता की स्थापना(प्लासी से 1772 तक)	66—76
ब्लॉक तीन	
इकाई एक आंग्ल—मराठा संघर्ष	77—87
इकाई दो :लार्ड हेस्टिंग्स और ब्रिटिश सर्वोच्चता	88—97
इकाई तीन :विलियम बैंटिक	98—106
ब्लॉक चार	
इकाई एक :रणजीत सिंह : जीवन एवं उपलब्धियां	107—117
इकाई दो:लार्ड डलहौजी	118—128
इकाई तीन::लोकप्रिय जनजातीय तथा असैनिक विद्रोह	129—139
ब्लॉक पांच	
इकाई एक :1857 का विद्रोह	140—151
इकाई दो :आंग्ल—अफगान संबंध	152—158,
इकाई तीन :औपनिवेशिक भारत : प्रशासनिक संरचना	159—171
ब्लॉक छह	
इकाई एक :काउन का भारत के प्रशासन पर नियंत्रण : केन्द्रीय, प्रांतीय एवं जनपद प्रशासन	172—188
इकाई दो:ब्रिटिश सत्ता का रजवाड़ों के साथ संबंध	189—207
इकाई तीन:भारत एवं पड़ोसी देश : तिब्बत, नेपाल ,बर्मा , फारस एवं फारस की खाड़ी	208—218
ब्लॉक सात	
इकाई एक:भारत पर ब्रिटिश शासन का प्रभाव	219—236
इकाई दो:स्वतंत्र भारत : देशी रियासतों का विलय	237—247
इकाई तीन:स्वतंत्र भारत : पड़ोसी देशों से संबंध: पाकिस्तान, चीन, नेपाल, बर्मा एवं श्रीलंका	248—264

18वीं सदी का भारत : राजनैतिक परिदृश्य

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 18वीं सदी पर परिचर्चा
- 1.4 मुगल साम्राज्य के पतन के कारण
 - 1.4.1 मुगल वंश के पतन में औरंगजेब की भूमिका
 - 1.4.2 औरंगजेब के कमजोर उत्तराधिकारी
 - 1.4.3 दरबारियों में गुटबंदी
 - 1.4.4 क्षेत्रीय शक्तियों का उदय
 - 1.4.5 मराठा
 - 1.4.5 अवध
 - 1.4.7 सिख
 - 1.4.8 रूहेला अथवा रोहिल्ला
 - 1.4.9 बुन्देला
 - 1.4.10 जाट
 - 1.4.11 हैदराबाद और कर्नाटक
 - 1.4.12 मैसूर
 - 1.4.13 बंगाल
- 1.5 अभ्यास प्रश्न
- 1.6 संदर्भ ग्रंथ

1.1 प्रस्तावना

औरंगजेब की मृत्यु के बाद, विशाल मुगल साम्राज्य का पतन आरम्भ हो गया और कुछ ही दशकों में यह साम्राज्य दिल्ली के कुछ भू-भागों तक सिमट कर रह गया। जहाँ तक राजनैतिक परिस्थितियों का सम्बन्ध है, औरंगजेब की मौत के बाद लगभग अगले 150 वर्षों तक भारत में असुरक्षा और आशंका का माहौल बना रहा। मुगल घराने में सत्ता के वर्चस्व के लिए संघर्ष और उत्तरवर्ती सम्राटों की एय्याश प्रवृत्ति प्रसिद्ध मुगल युग के विखण्डन का कारण बनी। साथ ही, मराठा शक्ति के अभ्युदय और दक्षिण में इसके राज्य संघ, जो हिन्दू पद पादशाही की स्थापना के लिए कटिबद्ध थे, भारतीय एकता और एकनिष्ठा के लिए एक और आघात साबित हुए। शायद इन्हीं घटनाक्रमों के मद्दे नजर, भारत के इतिहास में 18वीं सदी का एक विशेष स्थान है। विभिन्न इतिहासकारों के बीच यह सदी विशेष चर्चा का विषय भी रही है। भारत की 18वीं सदी के मुद्दे पर नजर डालने के अनेक कारण हैं। लेकिन, जहाँ तक राजनैतिक परिदृश्य का सम्बन्ध है, इस सदी ने एक विशाल साम्राज्य को विलुप्त होते और इस पर दूरसों का कब्जा होते देखा था। शुरुआत में, स्थानीय विरोधियों ने और बाद में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इस साम्राज्य को हथिया लिया था। समसामयिक इतिहासकारों ने इन घटनाक्रमों को अलग-अलग तरीके से देखा और इनका आकलन किया। इस यूनिट में 18वीं सदी के भारत में राजनीतिक परिदृश्य को केन्द्र बिन्दु बनाया गया है। इसमें 18वीं सदी के दौरान अन्य प्रान्तीय शक्तियों के उदय और मुगल साम्राज्य के विखण्डन को शामिल किया गया है। इस यूनिट में छात्रों को

मुगल भारत के विखरने और इस पूरे उप-महाद्वीप में प्रान्तीय शक्तियों के अभ्युदय तथा उत्थान के लिए जिम्मेदार महत्वपूर्ण पहलुओं को देखने और समझने में सहायता मिलेगी।

1.2 उद्देश्य

इस यूनिट के महत्वपूर्ण उद्देश्य इस प्रकार हैं :

- 18वीं सदी पर परिचर्चा को समझना।
- मुगल साम्राज्य के पतन के लिए जिम्मेदार विभिन्न कारणों को समझना।
- मुगल दरबार की राजनीति और साम्राज्य विखण्डन पर इसके प्रभाव का जायजा लेना।
- मुगलों और प्रान्तीय क्षेत्रों के बीच राजनीतिक सम्बन्धों का पता लगाना।
- मुगल साम्राज्य के विखण्डन में प्रान्तीय राजवंशों की महती भूमिका को समझना।
- अंग्रजों के उदय से पहले भारत की राजनीतिक स्थिति को समझना।

1.3 18वीं सदी पर परिचर्चा

18वीं सदी पर ज्यादातर मुगल साम्राज्य के संदर्भ में ही परिचर्चा हुई है। लेकिन, भारतीय इतिहास से जुड़े ताजा लेखों में 18वीं सदी को एक ऐसे युग के रूप में दर्शाया गया है, जिसमें कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ उभरी जो पूरी तरह से मुगल साम्राज्य के वश में नहीं थी। इसलिए, 18वीं सदी को ऐसे रूप में समझने का प्रयास किया गया है, जिसमें ऐसी कई सकारात्मक विशेषताएं मौजूद थी, जिनका लक्ष्य इस सदी को “निराशाजनक सदी” बताने वाली पूर्वधारणा और प्रयत्न को ध्वस्त करना था। यह सर्वविदित है कि यह चरण मध्यकाल और आधुनिक युग के बीच का संक्रमण काल था और साथ ही यह ऐसा समय भी था जब भारतीय प्रशासन विदेशी हाथों में जा रहा था। सर जदुनाथ सरकार की सुप्रसिद्ध कृतियों “हिस्ट्री ऑफ बंगाल वाल्यूम-II” और “दी फॉल ऑफ मुगल एम्पायर वाल्यूम-IV” में 18वीं सदी के बारे में सबसे पहली व्याख्या मिलती है। इनमें इस अवधि को ब्रिटिश पूर्वकाल और ब्रिटिश काल के रूप में वर्गीकृत किया गया है।

कुछ इतिहास लेखक 18वीं सदी में उत्तरवर्ती राज्यों के उदय का हवाला देते हैं और मानते हैं कि मुगल साम्राज्य के पतन की रूपरेखा के अन्तर्गत इन घटनाओं का परीक्षण किया जाना चाहिए। हरमन गोएट्ज ने 18वीं सदी में “सांस्कृतिक और बौद्धिक घटनाक्रम” पर जोर दिया है जो “समग्र अपकर्ष” के सिद्धान्त से बिलकुल अलग प्रतीत होता है। तथापि, हाल ही में इतिहासकारों ने उपरोक्त विचारों से अलग हटकर, उत्तरवर्ती राज्यों और नए उभरते राज्यों को अपने अध्ययन का केन्द्र बनाया और इन्हें मुगलों की शाही व्यवस्था से ब्रिटिश व्यवस्था में अन्तर्ण की जमीन तैयार करने वाले कारक के रूप में जाँचने का प्रयास किया है। 18वीं शताब्दी की राजनीति को मुगलकालीन राजनीतिक प्रक्रिया और साथ ही नई राजनीतिक परिस्थितियों से तालमेल बैठाने के लिए शुरू किए गए बदलावों के संदर्भ में भी देखा जाना चाहिए। इस प्रकार, यह सदी मुगलों की शाही व्यवस्था के ब्रिटिश उपनिवेशवाद में रूपान्तरण के साथ-साथ घरेलू शक्तियों की ऐसी ही पूर्ववत सामाजार्थिक गतिविधियों को भी दर्शाती है। इस सदी में यह भी दिखाई देता है कि घरेलू शक्तियों ने अपने राजनीतिक निष्ठा का मुगलों से नाता तोड़ लिया था और अन्य बाह्य शक्तियों से हाथ मिला लिया था। ध्वस्त हो चुके मुगल साम्राज्य के अवशेष पर, लगभग स्वतंत्र हो चुके राज्यों ने, जमींदारों की मदद से राजस्व उगाहने का अपना पुराना काम जारी रखा, लेकिन इस बार, अपने दरबारियों और सेनाओं को

पोषित करने के लिए इसका उपयोग किया। इस सदी में उत्तरवर्ती राज्यों से लेकर जमींदारों तक अनेक राजनीतिक स्वरूप उभरे जिन्होंने ब्रिटिश शासनकाल में रियासतों का रूप लिया।

अभ्यास :

1. आप 18वीं सदी की इस परिचर्चा से क्या समझे ?
2. क्या केवल मुगलकाल के पतन के नजरिये से 18वीं सदी पर परिचर्चा का आकलन करना उचित होगा ?

1.6 मुगल साम्राज्य के पतन के कारण

1.4.1 मुगल वंश के पतन में औरंगजेब की भूमिका

इतिहास में भेद-भाव के लिए कोई जगह नहीं है। इसका सीधा-सादा फैसला यही है कि औरंगजेब के प्रपितामह अकबर ने जो विशाल साम्राज्य स्थापित किया था, उसे उसने व्यावहारिक तौर पर लगभग विखण्डित कर दिया था। साम्राज्य का अपकर्ष उसके शासनकाल से ही शुरू हो गया था और उसकी अदूरदर्शी नीतियों ने मुगल शासन की नींव कमजोर कर दी थी। अपनी धर्मान्ध नीतियों के चलते उसने न केवल कल्लेआम मचाया बल्कि अपनी हिन्दू प्रजा पर अनुदार नीतियाँ लागू की और इन्हें उचित ठहराने के लिए नए-नए तर्क भी दिए। इसके परिणामस्वरूप, आजीवन भारत पर शासन करने के उसके प्रयास का अन्त अव्यवस्था और क्षोभ के रूप में हुआ।

राजधानी में आए दिन औरंगजेब की गैर-मौजूदगी से उन अवसरवादियों को पनपने का मौका मिला जो मुगलों को सत्ता से हटाने के लिए कटिबद्ध थे। इस आखिरी कुशल मुगल बादशाह को अनेक विद्रोहों का सामना करना पड़ा और इन विद्रोहों ने मुगल साम्राज्य की नींव हिला दी थी। आगरा में जाट विद्रोह पर उतारू थे तो दक्षिण में छत्रपति शिवाजी के नेतृत्व में स्वराज की कल्पना को बढ़ावा मिल रहा था। मराठों, जाटों और राजपूतों के प्रति औरंगजेब के सख्त जमीनी रवैये की वजह से इन विद्रोहों को बल मिला। औरंगजेब ने इन्हें क्षेत्रीय स्वायत्तता देने से इन्कार कर दिया था। औरंगजेब के सत्तावादी रवैये और पूरी तरह केन्द्रीयकृत प्रशासनिक व्यवस्था के खिलाफ बुन्देलों और सतनामियों के विद्रोह को दबाना भी कठिन हो रहा था।

इसमें कोई शक नहीं है कि औरंगजेब एक महत्वांकक्षी शासक था और वह अपने साम्राज्य की भौगोलिक सीमाएं बढ़ाने को आतुर था। हालांकि इसके लिए उसे जन-धन की भारी हानि उठानी पड़ी थी। वह अपने साम्राज्य की सुरक्षा के लिए अच्छी और भरोसेमन्द संधिया करने में पूरी तरह असफल रहा था तथा उसके शत्रुओं की संख्या बढ़ती जा रही थी। आमतौर पर बीजापुर और गोलकुन्डा पर औरंगजेब की विजय को सुन्नियों पर विजय के रूप में देखा जाता है, लेकिन अपने इस कृत्य से उसने एक ऐसी मजबूत बाधा को हटा दिया था जो मराठों की बढ़ती शक्ति को रोक सकती थी। अपनी शंकालु प्रवृत्ति के कारण वह शासन के सारे अधिकारों को अपने हाथ में लेकर निरंकुश बन गया था और इस वजह से कुलीन तथा उच्चवर्ग के अधिकारी उससे काफी नाराज थे। औरंगजेब की निरंकुशता से सही मायनों में कुलीनवश ही सबसे ज्यादा प्रभावित हुआ था क्योंकि उनका दर्जा और अधिकार सभी लगभग छीन लिए गए थे।

औरंगजेब को पहले से ही अंदेशा था कि सत्ता के लिए उसके पुत्रों में खूनी संघर्ष होगा और इससे टालने के लिए उसने साम्राज्य को उनमें चार बराबर भागों में बांट दिया था। लेकिन उसकी मृत्यु से पहले से गृहयुद्ध शुरू हो गया और अन्ततः बहादुर शाह प्रथम इसमें विजयी हुआ तथा मुगल उत्तराधिकारियों में सत्ता के लिए गृहयुद्ध अनिवार्य सा हो गया था। दुश्मनी, ईर्ष्या तथा

शहजादों के बीच प्रतिद्वन्द्विता ने शानदार मुगलकालीन भारत के विखण्डन और प्रान्तीय शक्तियों के उभरने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

1.4.2 औरंगजेब के कमजोर उत्तराधिकारी

मुगलों की शासन व्यवस्था निरंकुश होने की वजह से यह काफी कुछ बादशाह के व्यक्तित्व पर निर्भर थी। इसलिए, बादशाहों की कमजोरी उनके प्रशासन को प्रभावित करने लगी थी। औरंगजेब के बाद के सभी बादशाह कमजोर थे, इसलिए वे बाहरी और अन्दरूनी चुनौतियों का सामना करने में अक्षम थे। बहादुर शाह प्रथम (1702–1712) अत्यन्त वृद्ध था और साम्राज्य का गौरव बनाये रखने के काबिल नहीं था। वह सभी पक्षों को खुश रखने के लिए मुक्तहस्त से अनुदान, उपाधियाँ और ईनाम बाँटता था। उसके इस रवैये से वह शाह-ए-बेखबर जैसे उपनाम से जाना जाता था। उसके बाद जहाँदर शाह (1712–13) गद्दी पर बैठा, यह निहायत ही मूर्ख और बेतुके काम करने वाला बादशाह था। फारूखशियार अत्यन्त कायर था जबकि मुहम्मद शाह अपना ज्यादातर समय पशुओं की लड़ाई देखने में गुजारता था। शराब और औरत का शौकीन होने के कारण उसे “रंगीला” नाम दिया गया था। अहमद शाह एय्याशी के मामले में इससे भी दो कदम आगे था उसने अपने हरम (बादशाह की रखैलों/बीबीयों के रहने के लिए अलग से जगह) में कई-कई हफ्ते या महीने गुजार देता था। प्रशासनिक मामलों में तो उसके फैसेले और भी ज्यादा मूर्खतापूर्ण होते थे। इससे साफ पता चलता है कि औरंगजेब के उत्तराधिकारी कमजोर थे और विशाल मुगल साम्राज्य को सभालना उनके वश के बाहर था।

1.4.3 दरबारियों में गुटबंदी

औरंगजेब के शासन के अन्तिम वर्षों में उसके उच्च दरबारी कुलीन अलग-अलग गुटों में बंटने लगे थे और सत्ता पर दबाव डालने लगे थे। हालांकि ये गुट अपने कुल या परिवारिक रिश्तों के आधार पर बने थे लेकिन व्यक्तिगत हित या सरोकार सर्वोपरि थे। इन गुटों ने देश में निरन्तर अशान्ति बनाए रखी। इन गुटों में एक प्रमुख गुट तूरानियों अथवा मध्य एशियाई कुलीनों का था, मुहम्मद शाह के शासनकाल में आसफ जाह, निजाम-उल-मुल्क, कमरुद्दीन और जकारिया खान इस तूरानी गुट के प्रमुख नेता थे। जबकि परिशयाई गुट के प्रमुख नेता अमीर खान, इशाक खान और सादत खान थे। इन गुटों ने अपने-अपने लोगों को शामिल किया था। जिनमें ज्यादातर मध्य एशिया या परशिया से थे। मुगल या विदेशी गुटों के रूप में कहे जाने वाले इन दोनों गुटों ने हिन्दुस्तानी गुटों, उस काल के दौरान जिनके नेता सईद अब्दुल्ला खान और सैय्यद हुसैन अली जो सैय्यद बन्धु के रूप में प्रसिद्ध थे, के खिलाफ मोर्चा खोल रखा था। सैय्यद बन्धुओं को हिन्दुओं का समर्थन प्राप्त था। प्रत्येक गुट अपने आप को बादशाह का हितैषी बताता था और एक दूसरे के खिलाफ बादशाह के कान भरता था। देश में शान्ति व्यवस्था को भंग करने वाले इन गुटों में संघर्ष होता रहा और प्रशासन की अनदेखी होती रही। विदेशी आक्रमणों के समय भी ये एकजुट नहीं हो सके, यहाँ तक कि कई बार इन्होंने विदेशी हमलावरों के साथ षडयंत्र भी रचा। निजाम-उल-मुल्क (किलिच खान) और बुरहान-उल-मुल्क (सादत खान) व्यक्तिगत हितों के चलते नादिर शाह के साथ षडयन्त्र में भी शामिल हुए।

अभ्यास (संक्षिप्त टिप्पणी)

1. मुगल साम्राज्य के पतन के क्या प्रमुख कारण थे ?
2. मुगल साम्राज्य के पतन में औरंगजेब को जिम्मेदार ठहराना कहाँ तक उचित है ?
3. भारत में मुगल साम्राज्य के पतन में औरंगजेब के उत्तराधिकारियों की भूमिका पर प्रकाश डालें।

1.4.4 क्षेत्रीय शक्तियों का उदय

18वीं सदी में नए-नए राजनीतिक महत्वाकांक्षियों को क्षेत्र, धर्म और धर्मान्धता के आधार पर छोटी-छोटी स्थानीय रियासतें गढ़ने या मौका मिला। 18वीं सदी ने इन्हें संसाधनों को फिर से जुटाने और सैन्य विस्तार के व्यापक जरिए उपलब्ध कराए। वही दूसरी तरफ, अंग्रेजी की ईस्ट इंडिया कम्पनी जैसे विदेशी व्यापारियों, जो विस्तार तथा अपनी धन-दौलत बढ़ाने के किसी भी अवसर को छोड़ना नहीं चाहते थे, इस सदी ने आधिपत्य और दमन के एक बड़ा भू-भाग उपलब्ध कराया।

सी.ए. बायली और आन्द्रे विंक जैसे इतिहासकारों का तर्क है कि अस्त होते मुगल साम्राज्य में नए राज्यों का उदय कोई नई घटना नहीं थी, यह तो विस्तार और विकास की पहले से मौजूद प्रक्रिया की पूर्णता को दर्शा रहा था और ढुलभुल मुगल व्यवस्था इसे रोक नहीं सकती थी। ऐसे कई उदाहरण हैं, जहाँ आर्थिक कायापलट का लाभ उठाने वाले खुद शासक बन बैठे थे और एक दूसरे को जीतने और दमन की रस्साकसी में उलझे हुए थे। स्थानीय भावना से ओत-प्रोत इन शासकों ने प्रशासनिक शक्तियाँ अपने हाथ में ली और सैन्य विस्तार की नीतियों का अनुसरण किया। इन नीतियों के तात्कालिक परिणामस्वरूप राजस्व वसूलने और राजस्व व्यवस्था के नए-नए तरीके लागू किए गए। डेविड वाशब्रुक ने इन्हें "सैन्य वित्तवाद" का नाम दिया है।

इनमें से कुछ राज्यों जैसे कि बंगाल, अवध (औध) और हैदराबाद को "उत्तराधिकार राज्य" (सक्सेशन स्टेट्स) कहा जा सकता है। मुगलों का केन्द्रीय प्रशासन कमजोर हो जाने के फलस्वरूप मुगल प्रान्तों के गवर्नरों ने स्वयं को स्वायत्तशासी घोषित कर दिया था और इस प्रकार इन राज्यों का उदय हुआ। मुगल सत्ता के खिलाफ स्थानीय क्षत्रपों, जमींदारों और कृषकों की बगावत ने मराठा, अफगान, जाट और पंजाब राज्यों को जन्म दिया। इन दोनों प्रकार के राज्यों या क्षेत्रों में राजनीति का स्वरूप कुछ सीमा तक अलग-अलग था और साथ ही स्थानीय परिस्थितियों की वजह से इन सभी में परस्पर विवाद भी थे। इसके बावजूद, इन राज्यों ने प्रशासन के अनेक क्षेत्रों में मुगल संस्थाओं और व्यवस्थाओं को बनाए रखा। उत्तराधिकार राज्यों और बागी राज्यों के अलावा, राजपूताना, मैसूर और त्रावणकोर जैसे कुछ अन्य राज्य भी थे जिन्हें विगत में काफी स्वायत्तता प्राप्त थी और 18वीं सदी में ये राज्य पूरी तरह से स्वतंत्र हो गए थे।

1.4.5 मराठा

औरंगजेब की मृत्यु के बाद, इसके दूसरे पुत्र और राजगद्दी के दावेदार आजम ने शिवाजी के प्रपौत्र और सम्भाजी के पुत्र साहू को कैद से आजाद कर दिया। 1689 में सम्भाजी को फांसी द्वारा मौत के बाद साहू को गिरफ्तार करके मुगल दरबार में हाजिर किया गया था। जनवरी 1708 में सतारा पहुँचने पर साहू जी का राज्यभिषेक किया गया। सम्भाजी की मृत्यु के बाद मराठों का संचालन सम्भाजी के सौतेले भाई राजाराम ने सम्भाला और वे आखिरी सांस तक मुगलों के खिलाफ संघर्ष करते रहे। उनकी विधवा ताराबाई जो एक सशक्त और दबंग महिला थी, ने अपने पुत्र की तरफ से स्वयं को प्रतिशासक घोषित कर दिया। ऐसे समय में साहू के आगमन से मराठा क्षत्रप दुविधा में पड़ गए जिसकी वजह से गृहयुद्ध की शुरुआत हुई। एक शीर्ष मराठा अधिकारी, बालाजी विश्वनाथ की सहायता और सलाह से साहू विजयी हुए। बालाजी विश्वनाथ की अमूल्य सेवाओं का सम्मान करते हुए साहू ने 1713 में उसे पेशवा यानि प्रधानमंत्री का पद दिया। अब से छत्रपति केवल मराठों का नाममात्र का शीर्ष पद रह गया। बाला जी विश्वनाथ ने अपनी योग्यता और कुशल प्रशासन क्षमता से पेशवाई को वंशानुगत बना दिया। सैय्यद बंधुओं के साथ एक समझौते के जरिए साहू को शिवाजी के गृह राज्य के राजा

के रूप में मान्यता मिल गई और उन्हें दक्षिण में मुगलों के छः सूबों से चौथ तथा सरदेशमुखी वसूलने की अनुमति भी मिल गई।

उसके पुत्र और पेशवा पद के उत्तराधिकारी, बाजीराव ने मराठा शक्ति को चरम पर पहुँचा दिया था। सभी के साझा दुश्मन मुगलों के खिलाफ हिन्दु क्षत्रपों का सहयोग प्राप्त करने के लिए उसने हिन्दु पद पादशाही की विचारधार को प्रचारित और लोकप्रिय किया। शिवाजी के बाद बाजीराव को गुरिल्ला युद्ध कला का महान महारथी माना जाता है। बाजीराव जिन्हें नाना साहिब नाम से प्रसिद्धि मिली थी ने, मराठा साम्राज्य का कटक से अटक तक विस्तार कर दिया था और 1760 में दिल्ली पर कब्जा कर लिया था। लेकिन मराठों की दिल्ली पर विजय ज्यादा समय तक नहीं टिकी और अफगानी हमलावार अहमद शाह अब्दाली के हाथों 1761 में पानीपत के युद्ध में उन्हें बुरी तरह हार का सामना करना पड़ा। अपनी हार के बावजूद उत्तरवर्ती पेशवाओं के नेतृत्व में मराठा अपने साम्राज्य के विस्तार और वृद्धि की नीति में अब भी काफी सक्रिय थे। पेशवा माधव राव के शासन में, महाद जी सिंधिया के नेतृत्व में मराठों ने 1771 में दिल्ली पर फिर कब्जा कर लिया। अंग्रेज-मराठा युद्ध (1776-82) में मराठाओं की प्रतिष्ठा को धक्का लगा। इस युद्ध की परिणति सलबल की संधि (1782) के रूप में हुई। पेशवा बाजीराव द्वितीय के पेशवाई (1798-1818) के दौरान, बसाइन की एक सहायक संधि (1802) पर हस्ताक्षर हुए और इसकी वजह से अंग्रेज-मराठों का दूसरा युद्ध (1803-05) हुआ। अंग्रेज और मराठों के तीसरे युद्ध (1817-18) ने मराठा शक्ति का अन्त कर दिया। पेशवा का पद समाप्त कर दिया गया और अंग्रेजों ने बाजीराव द्वितीय को थोड़ी से पेंशन मंजूर करके कानपुर के नजदीक बिठूर भेज दिया। मराठों के गौरव को संतुष्ट करने के लिए सतारा के राज्य पर नाममात्र के राजा प्रताप सिंह को गद्दी पर बैठा दिया गया।

1.4.5 अवध

मुगलों के शासनकाल में अवध सूबे में, मुख्य अवध, बनारस, इलाहाबाद के आस-पास के कुछ भाग, अवध के पश्चिम के कुछ भू-भाग और कानपुर शामिल था। 1724 में अवध के सूबेदार सादतखान की मृत्यु के बाद उसके भतीजे सफदर जंग ने इस सूबे का शासन सम्भाला। प्रशासन का काम अपने हाथ में लेने के बाद इस नए सूबेदार ने स्वतंत्ररूप से शासन करना शुरू कर दिया। 1748 में सफदर जंग को दिल्ली के बादशाह का बजीर नियुक्त किया गया लेकिन जावेद खान ने, जो दिल्ली की गद्दी के पीछे असली ताकत था, इसका विरोध किया। अफगानों ने भी उसका विरोध किया और उसे 1752 में शक्ति संधि के लिए मजबूर किया। लेकिन जल्दी ही उसने जावेद खान की हत्या करवा दी और राज्य के पूरे अधिकार अपने हाथ में लेने का प्रयास किया। अपनी अति महत्वाकांक्षा के कारण दिल्ली दरबार के कई कुलीन और बादशाह उससे नाराज हो गए। इसके बाद चले गृहयुद्ध में सफदर जंग की बुरी हार हुई और मजबूर होकर वह 1753 में अवध चला गया जहाँ जल्दी ही उसकी मौत हो गई।

उसके पुत्र सुजा-उद-दौला ने अवध के सूबेदार का पद सम्भाला। 18वीं सदी के मध्यकाल में भारतीय इतिहास में तेजी से बदलाव हुए और अवध के सूबेदार सुजा-उद-दौला ने इनमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। दिल्ली के बजीर इमाद-उद-मुल्क के साथ उसके रिश्ते बेहद खराब थे। इसके चलते इन दोनों के बीच नित नए षडयंत्र रचे जाते थे। इमाद-उद-मुल्क ने बादशाह आलमगीर द्वितीय से सारी शक्तियाँ अपने हाथ में ले ली थीं और अली गौहर (बाद में शाह आलम द्वितीय) को अवध में शरण लेने के लिए मजबूर कर दिया था। बादशाह की मृत्यु के बाद अली गौहर ने अपने आप को बादशाह घोषित कर दिया और सुजा-उद-दौला को अपना बजीर घोषित किया।

1763 में, बंगाल के नवाब मीर कासिम ने ईस्ट इंडिया कम्पनी से पराजय के बाद सुजा-उद-दौला से मुलाकात की और मदद मांगी। सुजा-उद-दौला और शाह आलम द्वितीय दोनों अंग्रेजों के खिलाफ मीर कासिम का साथ देने के लिए राजी हो गए। लेकिन बक्सर के युद्ध (1764) में अंग्रेजों ने इस संयुक्त सेना को हरा दिया। शाह आलम द्वितीय अंग्रेजों का पेंशनभोगी बन गया, सुजा-उद-दौला का सूबा अंग्रेजों के कब्जे में आ गया और मीर कासिम को जान बचाकर भागना पड़ा। इस प्रकार अवध के सूबेदार के स्वतंत्र शासन को इस युद्ध से गहरा आघात पहुँचा।

1.4.7 सिख

अफगानों द्वारा 1708 में गुरु गोविन्द सिंह की हत्या के बाद, सिखों को बन्दा के रूप में एक नया नेता मिला और सिखों ने मुगलों के खिलाफ आजादी की लड़ाई छेड़ दी। उसने सरहिन्द में मुगलों की सेना को हराकर इस पर कब्जा कर लिया। बन्दा ने बड़ सिंह को सरहिन्द का गवर्नर तैनात किया और साथ ही सतलुज और यमुना के बीच के पूरे भू-भाग पर कब्जा कर लिया तथा सच्चा पादशाह यानि सच्चा शासक उपधि धारण की। इन घटनाक्रमों से चौकन्ना होकर, मुगल बादशाह बहादुर शाह ने बन्दा के खिलाफ चढ़ाई कर दी और लोहगढ़ का घेरा डाल दिया लेकिन जल्दी ही 1712 में उसकी मृत्यु हो गई। बन्दा ने बिना समय गंवाए लोहगढ़ पर फिर से कब्जा कर लिया और एक दूसरा किला गुरुदासपुर में बनवाया। बादशाह फारूखसियार ने काश्मीर के गवर्नर समद खान को सिखों के खिलाफ चढ़ाई का आदेश दिया। बन्दा की हार हुई और लगातार उसका पीछा किया गया। मजबूर होकर 17 दिसम्बर, 1715 को उसने मुगलों के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया और अन्त में उसे सूली पर लटका दिया गया। दिग्भ्रमित सिखों को कपूर सिंह के रूप में एक और नेतृत्व मिला और वे मुगलों को फिर से परेशान करने लगे। नादिर शाह के आक्रमण (1739) ने पंजाब में मुगलों के शासन को कमजोर का दिया था। इससे सिखों को अपने वित्तीय संसाधन बढ़ाने और सेना का विस्तार करने में मदद मिली। पहली लूट के बाद भी अब्दाली के नेतृत्व में अफगानों के आक्रमण जारी रहे। उसने चौथी बार 1756 में भारत पर आक्रमण किया, मुगल बादशाह इतना भयभीत हो गया था कि उसने पंजाब और काश्मीर, तत्ता और सरहिन्द अब्दाली को सौंप दिये। अब्दाली ने अपने पुत्र तिमूर शाह को भारतीय भू-भाग का गवर्नर और जहान खान को उसका वजीर नियुक्त किया। सिखों की हत्या के चलते सिखों ने बगावत कर दी और मराठों ने उनका साथ दिया। मराठों और सिखों की संयुक्त सेना ने अब्दाली के कब्जे वाले भू-भागों पर आक्रमण कर कई क्षेत्रों से अफगानों को खदेड़ दिया। उन्होंने सरहिन्द को लूट लिया और आक्रमणकर्ताओं को पूरी तरह कुचल दिया। भारत में अपना वर्चस्व कायम करने के लिए अब्दाली को अपने पांचवे आक्रमण में 1761 में प्लासी में मराठों से युद्ध करना पड़ा था। मराठों की पराजय के बाद अब्दाली अफगानिस्तान के लिए वापस लौट पड़ा लेकिन रास्ते में सिखों ने उसे बहुत परेशान किया। पंजाब की अशान्त परिस्थितियों से सिखों को आजादी का एक बहुत अच्छा रास्ता मिल गया। वे 1764 में अमृतसर में संगठित हुए और सिख संप्रभु राज्य की पहली घोषणा की तथा अपने सिक्के ढलवाए जिन पर देग तेग फतह अंकित था। अब्दाली के अन्तिम रूप से भारत से विदा हो जाने के बाद सिखों ने 1767 और 1773 के बीच लाहौर को कब्जे में ले लिया। अब सिखों का अधिकार क्षेत्र पूर्व में सहारनपुर से लेकर पश्चिम में अटक तक और दक्षिण में मुल्तान से लेकर उत्तर में कांगड़ा और जमुना तक फैल गया था। बाद में, लॉर्ड डलहौजी ने 29 मार्च, 1849 को सिख राज्य छीन कर ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया।

1.4.8 रुहेला अथवा रोहिल्ला

सोलहवीं शताब्दी में, मुगल अफगानों को हरा कर हिन्दुस्तान के मालिक बन गए थे और इन्होंने अफगानों को पूरी तरह से सत्ता से हटाकर इनका उन्मूलन कर दिया था। सत्ता से बाहर हो जाने के बावजूद, इलाहाबाद, दरभंगा, ओडिशा और सिलहट में अफगानों की कुछ बस्तियाँ थीं। ऐसी ही एक अफगान बस्ती रोहिलखण्ड अथवा रूहेलखण्ड में भी थी, जिसे दाऊद नाम एक अफगानी सैनिक ने बसाया था। दाऊद और इसके अनुयायी स्थानीय जमींदारों के भाड़े के सैनिक का काम करते थे और बाद में ये लोग उस क्षेत्र में शाही प्रशासक के लिए भी यही काम करने लगे थे। दाऊद के उत्तराधिकारी, अली मोहम्मद खान ने अपनी जागीर का विस्तार करने की एक महत्वाकांक्षी योजना को अमल में लाना शुरू कर दिया। धीरे-धीरे उसने स्थानीय जमींदारों और जागीरदारों का उन्मूलन करके बरेली जिले में एक विशाल जागीर खड़ी कर ली। 1727 में मोहम्मद सालिह की जमीन हथिया ली। यह जमीन मोहम्मद सालिह को शाही दरबार ने दी थी। मोहम्मद खान ने स्वयं को इस विशाल जागीर का नवाब घोषित कर दिया। शाही बजीर कमर-उद-दीन खान के दखल पर वह मोहम्मद सालिह के स्थान पर मुगल बादशाह के लिए राजस्व वसूली का काम करने के लिए राजी हो गया। अहमद शाह अब्दाली के आक्रमण के दौरान वह मुगलों की जमीन कब्जाने लगा और उसे राजा हरनन्द अरोड़ा की सेनाओं का सामना करना पड़ा। राजा हरनन्द अरोड़ा मुरादाबाद का गवर्नर था। एक निर्णायक लड़ाई में, अली मोहम्मद खान ने राजा हरनन्द अरोड़ा को हराकर उसे मौत के घाट उतार दिया। युद्ध से इस रोहिल्ला सरदार की ताकत और प्रतिष्ठा शिखर पर पहुँच गई और हजारों अफगान उसके नेतृत्व तले आ गए। अली मोहम्मद रोहिल्ला अब तक बरेली और बदायूँ के कुछ परगनों को जीत चुका था और साथ ही पीलीभीत तथा कुमाऊँ राज्य के कुछ हिस्सों पर भी कब्जा कर चुका था। 1748 तक उसने पूरे बिजनौर पर आधिपत्य जमा लिया। मुगलों के साथ एक युद्ध में उसने मुगल बादशाह को शान्ति संधि के लिए मजबूर कर दिया। अली मोहम्मद को चार हजारी मनसबदार के तौर पर सरहिन्द का फौजदार नियुक्त किया गया। सितम्बर 1748 में अली मोहम्मद की मृत्यु के बाद अन्तर-कलह और विवाद शुरू हो गए, मुगल गवर्नर सफदर जंग ने इसका पूरा फायदा उठाया। उसने बंगश सरदार कैम खान को अफगानों को रोहिलखण्ड से खदड़ने के लिए भड़काया। अपने इस प्रयास में कैम खान हार गया और युद्ध में मारा गया तथा गंगा के पूर्वी किनारे पर बसी उसकी जागीर पर रोहिल्लों का कब्जा हो गया।

पानीपत की तीसरी लड़ाई (1761) तक यथास्थिति बनी रहीं। रोहिल्ला और बंगश अफगानों ने अफगानी हमलावर अहमद शाह अब्दाली का साथ दिया और फलस्वरूप कुछ जागीरें हासिल कीं। 1761-1768 तक हाफिज रहमत खान की सरदारी में शान्तिपूर्वक रहे। हाफिज रहमत खान एक महान योद्धा और बुद्धिमान शासक था। इन घटनाक्रमों में मराठाओं और अवध के नवाब के सामने आने पर हालात बिगड़ने लगे। इसी बीच, एक तीसरा पक्ष भी मैदान में उतरा जिसका नाम ईस्ट इंडिया कम्पनी था। अवध का नवाब अंग्रेजों की मदद से रोहिल्लों के खिलाफ युद्ध में शामिल हुआ। रोहिल्लों की पराजय के बाद, अवध के नवाब ने रोहिल्लों की लगभग सारी जमीन छीन ली और अली मोहम्मद खान रोहिल्ला के पुत्र फैजल खान के लिए रामपुर में रोहिलखण्ड का एक छोटा सा भू-भाग छोड़ दिया।

1.4.9 बुन्देला

बुन्देला राज्य स्थापित करने का श्रेय छत्रसाल बुन्देला को जाता है। छत्रसाल ने औरंगजेब के आखिरी दिनों में बुन्देलखण्ड के एक भाग को अलग कर लिया था। औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसने मुगलों से आजाद होने का फैसला किया और दिल्ली से मिलने वाले आदेशों की अनदेखी शुरू कर दी। लेकिन जल्दी ही उसने अपना अड़ियल रवैया बदला और अपने पुत्रों को बहादुर शाह से मिलने भेजा। यह मुलाकात ऐसे समय में हुई जब बहादुर शाह ने अपने भाई कामबक्स

के खिलाफ मोर्चा खोल रखा था। छत्रसाल के इस कदम से खुश होकर, मुगल बादशाह ने छत्रसाल को मनसबदारी प्रदान की। इसके बदले, छत्रसाल ने बंदा के खिलाफ बादशाह के अभियान में मदद की और लोहगढ़ हमले में बादशाह की तरफ से शामिल हुआ। लेकिन 1720 में मोहम्मद खान बंगश को इलाहाबाद का प्रशासक बना दिया गया। मोहम्मद खान सैय्यद बंधुओं में से एक था, सैय्यद बन्धुओं की बादशाह से घोर दुश्मनी थी। बुन्देलखण्ड का सारा भू-भाग और छत्रसाल के अधिकार क्षेत्र वाला भाग इलाहाबाद प्रशासन के अन्तर्गत ही आता था। मोहम्मद खान ने छत्रसाल के कब्जे वाले भाग का प्रभार दिलेर खान को सौंप दिया। इसके चलते बुन्देलों ने बगावत कर दी और 1721 में दिलेर खान की पराजय हुई। 1723 में मुगल बादशाह ने मोहम्मद खान को छत्रसाल पर आक्रमण का आदेश दिया। इस अभियान में मोहम्मद खान बुन्देलखण्ड के पूर्वी भाग पर कब्जा करने में सफल रहा। बुन्देले अपने कब्जे वाला अधिकांश भू-भाग खो चुके थे। छत्रसाल ने पुनः नए जोश और उत्साह से आक्रमण शुरू किए और हारा हुआ सारा भू-भाग फिर से जीत लिया। अपने इस अभियान में, छत्रसाल ने पेशवा बाजीराव से मुगलों के खिलाफ युद्ध में सहायता मांगी और पेशवा की मदद से मोहम्मद खान बंगश और उसकी मदद करने वाले कैमखान को जबर्दस्त शिकस्त दी। छत्रसाल का 82 वर्ष की आयु में देहावसान हुआ और उसके पुत्रों हरदे राज और जगत राज ने राज्य को आपस में बांट लिया। पेशवा ने आड़े वक्त में बुन्देलों की मदद की थी राज्य का एक छोटा हिस्सा उन्हें जागीर के रूप में दे दिया गया। राज्य के विभाजन के साथ ही बुन्देलों की ख्याति और शान धीरे-धीरे कमजोर होने लगी और प्रतिष्ठा खत्म हो।

1.4.10 जाट

जाट गिरोह बना कर लूट-पाट किया करते थे। औरंगजेब के शासनकाल के अंत में ये दिल्ली और आगरा के बीच लूट-पाट करते थे तथा दिल्ली एवं आगरा के बीच के कुछ भू-भाग पर इन्होंने कब्जा कर लिया था। उस समय इनके सरदार राजाराम, भज्जा और चूड़ामन थे। लेकिन, 1721 में, सवाई जयसिंह द्वितीय द्वारा चूड़ामन की पराजय के बाद थुन इन्हें इनके हाथ से निकल गया। सर जदुनाथ सरकार का मानना है कि अठारहवीं सदी के मध्य तक जाटों का कोई राजा नहीं था और इन्होंने राज्य का रूप नहीं लिया था और ना ही इनकी कोई रियासत थी। लेकिन, चूड़ामन के भतीजे बदन सिंह के नेतृत्व में, इन्होंने पूरे आगरा और मथुरा क्षेत्र पर अपना अधिकार जमा लिया था। उसने इधर-उधर छितराए जाट परिवारों को एकजुट किया और उनमें आत्म गर्व और प्रशासन का भाव जगाया। 1756 में उसकी मृत्यु के बाद, उसके दत्तक पुत्र सूरजमल ने गद्दी सम्भाली। इतिहासकार सूरजमल को जाट कौम के प्लेटो या यूलिसिस के रूप में वर्णित करते हैं। सूरजमल ने दूरदर्शिता, राजनीतिक समझबूझ और बेहतरीन बुद्धिमत्ता के साथ अपने राज्य की जमीनी सीमाओं का विस्तार किया। आगरा, धौलपुर, मैनपुर, हाथरस, मेरठ, अलीगढ़, रोहतक, मेवात, रेवाड़ी, इटावा, मथुरा, गुड़गांव, फारूखनगर ये सभी उसके अधिकार क्षेत्र में आ गए। सूरजमल ने अब्दाली के सेना की घेराबन्दी का सफलतापूर्वक सामना किया और पानीपत की तीसरी लड़ाई में मराठों की सहायता की। उसने मुगलों की राजस्व प्रणाली अपना कर एक मजबूत राज्य की नींव रखने का प्रयास किया। लेकिन 1763 में उसकी मृत्यु के बाद जाट राज्य का पतन हो गया और यह छोटी-छोटी जमींदारियों में बंट गया।

1.4.11 हैदराबाद और कर्नाटक

शाही दरबार के शक्तिशाली दरबारी चिन क्विल्व खान ने 1724 में हैदराबाद के स्वायत्तशासी राज्य की आधारशिला रखी। उसने अन्ततः निज़ाम-उल-मुल्क आसफ जहाँ की उपाधि धारण की। उसने दिल्ली सरकार से कभी भी खुद को खुले रूप से आज़ाद घोषित नहीं किया पर

असल में उसने एक स्वतंत्र शासक के रूप में भूमिका निभाई। उसने हुकम न मानने वाले जमींदारों का दमन किया और हिन्दुओं, जो कि आर्थिक रूप से सशक्त थे, के प्रति उदारता बरती और इसके फलस्वरूप हैदराबाद में एक ऐसा अभिजात वर्ग उभरा जो निज़ाम का समर्थक था।

निज़ाम आसफ जहाँ की मृत्यु के बाद, हैदराबाद को अनेक आपदाओं का सामना करना पड़ा। बाद के वर्षों में, मराठों, मैसूर और कर्नाटक सभी ने हैदराबाद से भू-भाग छीने। 1762 के बाद निज़ाम अली खान ने प्रशासन अपने हाथ में लिया और उसके शासनकाल में हालात फिर से बेहतर बने। 1803 तक अपने शासन के दौरान उसने अपने पड़ोसियों के साथ सीमा-विवादों का निपटारा किया और हैदराबाद में राजनीतिक स्थिरता कायम की।

कर्नाटक दक्षिण में मुगलों का एक सूबा था और हैदराबाद के निज़ाम के नियंत्रण में था और जैसा कि निज़ाम असल में दिल्ली से लगभग आजाद होकर काम कर रहा था, इसी प्रकार कर्नाटक का उप-गवर्नर भी जो कर्नाटक के नवाब के रूप में जाना जाता था, ने भी अपने आप को दक्षिण के वायसराय से अलग कर लिया था। 1740 के बाद, इसकी नवाबी के लिए संघर्ष के कारण कर्नाटक के हालात बिगड़ गए थे और इससे यूरोप की व्यापारी कम्पनियों को भारत की राजनीति में सीधे तौर पर हस्तक्षेप करने का मौका मिला।

1.4.12 मैसूर

मुगल साम्राज्य के विखंडन के बाद, मैसूर असल में आजाद हो गया। मैसूर हिन्दू राजवंश के नियंत्रण में था लेकिन दलवर्ई यानि प्रधानमंत्री ने राज्य के सारे अधिकार अपने हाथ में ले रखे थे और असली शासक को नैपथ्य में डाल रखा था। जिस समय एक जाबांज व्यक्ति हैदर अली राज्य की सेवा में शामिल हुआ, उस समय नानिराज देलवर्ई यानि प्रधानमंत्री था। हालांकि हैदरअली अनपढ़ और अशिक्षित था पर वह अत्यन्त जीवट, दृण इच्छाशक्ति तथा असाधारण समझबूझ वाला व्यक्ति था साथ ही अत्यन्त, महत्वाकांशी और एहसान फरामोश था। अव्यवस्था और उथल-पुथल का फायदा उठाते हुए उसने अपनी शक्तियाँ बढ़ाई और अपने संरक्षक नानिराज को पद से हटाकर राज्य के अधिकार हथिया लिए। उसने दक्षिण भारत में पोलिगरों का दमन करके सुन्डा, बेदनोर, कनारा, सारा, गुटी आदि को जीत कर अपनी सीमाओं का विस्तार किया। उसने मैसूर को मराठों और हैदराबाद के निज़ाम के लिए चुनौती बना दिया तथा दक्षिण भारत में अंग्रेजों का जबर्दस्त प्रतिद्वन्दी बन गया।

1.4.13 बंगाल

मुर्शिद कुली खान के बंगाल का गवर्नर या निज़ाम बनने के बाद बंगाल धीरे-धीरे मुगलों से आजाद हो गया। उसे एक साथ नाजिम और दीवान बनने का असाधारण अधिकार दिया गया था। इससे मुर्शिद कुली को अपनी स्थिति और मजबूत करने में मदद मिली। एक सफल राजस्व प्रशासक के रूप में उसकी चतुराई की वजह से बंगाल राज्य की नींव पड़ी। उसके प्रान्त में शक्तिशाली बिचौलिए यानि जमींदार राजस्व उगाही करते थे। इस अवधि के दौरान नए अभिजात वर्ग के रूप में जमींदारों का उदय हुआ और साथ ही व्यापारियों और बैंकरों की अहमियत भी बढ़ी।

1727 में मुर्शिद कुली खान की मृत्यु के बाद उसके दामाद शुजा-उद-दीन ने 1739 तक बंगाल पर शासन किया। इसी वर्ष यानि 1739 में अलीवर्दी खान ने शुजा-उद-दीन के पुत्र सरफराज को गद्दी से हटाकर उसकी हत्या कर दी और खुद नवाब बन बैठा। इन तीन नवाबों के शासनकाल में बंगाल में लम्बे समय तक शान्ति कायम रही और व्यवस्थित प्रशासन बना रहा। इससे उद्योग व्यापार को प्रोत्साहन मिला। अलीवर्दी के शासनकाल में ही बंगाल मुगलों से लगभग अलग हो गया था। अलीवर्दी खान के लिए सबसे बड़ी समस्या बाहर से

आई, उसे मराठों के विध्वंस का सामना करना बड़ा था। अन्त में अलीवर्दी ने मराठों से समझौता कर लिया और उन्हें चौथ देने तथा उड़ीसा का प्रान्त सौंपने पर सहमत हो गया। लेकिन, मराठा हमलों का सबसे बड़ा नुकसान बंगाल के व्यापार में व्यवधान के रूप में सामने आया। विशेष रूप से उत्तर और पश्चिमी भारत के साथ जमीनी व्यापार को इसका नुकसान झेलना पड़ा। अलीवर्दी, जिसने अपने अपने पुत्र सिराज-उद-दौला को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था, 1739 में मृत्यु को प्राप्त हुआ। लेकिन गद्दी पर उसके उत्तराधिकार को अन्य दावेदारों ने चुनौती दी और दरबारियों में जबर्दस्त गुटबन्दी हो गई क्योंकि जमींदार और व्यापारी वर्ग इस अत्यन्त महत्वाकांक्षी और तुनक मिजाज युवा नवाब को अपने लिए खतरा मानते थे। इससे बंगाल का प्रशासन कमजोर हुआ और अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इसका फायदा उठाया। उसने 1757 के प्लासी के षडयंत्र से बंगाल में अपने पैर जमाए और अन्ततः सिराज-उद-दौला के शासन का अन्त कर दिया।

1.7 अभ्यास प्रश्न

(संक्षिप्त टिप्पणियाँ)

1. सूरजमल को जाट कौम का यूलेसिस या प्लेटो क्यों कहा जाता है ?
2. बुन्देला सरदार के रूप में छत्रसाल की उपलब्धियों का मूल्यांकन करें।
3. रोहिल्लों के उत्थान में अली मोहम्मद खान की भूमिका का आकलन करें।
4. हैदरअली के उत्थान पर टिप्पणी लिखें।

(लम्बे उत्तर वाले प्रश्न)

1. 18वीं सदी के दौरान क्षेत्रीय शक्तियों के उदय पर आप की क्या राय है ?
2. औरंगजेब की मृत्यु के बाद क्षेत्रीय शक्तियों के उत्थान के लिए जिम्मेदार कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों पर चर्चा करें।
3. 18वीं सदी में मराठा शक्ति के उत्थान पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
4. अहमद शाह अब्दाली के आक्रमण के समय मुगल-सिख रिश्तों पर एक टिप्पणी लिखें।

1.6 संदर्भ ग्रंथ

- चौधरी, के.सी., हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इंडिया, न्यू सेन्ट्रल बुक एजेंसी, कलकत्ता, पुनर्मुद्रित 2000।
- रॉय चौधरी एस.सी., हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इंडिया, सुरजीत पब्लिकेशन्स, दिल्ली, तीसरा संस्करण 1999।
- मजूमदार आरसी (एट आल) ब्रिटिश पैरामाउन्ट्सी और रेनेशाँ पार्ट I, भारतीय विद्या भवन, बॉम्बे 1988।
- ग्रोवर बी.एल., और मेहता अल्का, ए न्यू लुक एट मॉडर्न इंडियन हिस्ट्री (फ्रॉम 1717 टू दी मॉडर्न टाइम्स) एस चान्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, 2012।
- सेन एस.एन., मॉडर्न इंडिया, न्यू एज इन्टरनेशनल पब्लिशर्स, कलकत्ता 1991।

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 अंग्रेजी व्यापार की वृद्धि
- 2.4 ब्रिटिश विस्तार के रुझान
 - 2.4.1 दक्षिण में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच प्रतिद्वन्द्विता
 - 2.4.2 कर्नाटक का पहला युद्ध (1746–48)
 - 2.4.3 द्वितीय कर्नाटक युद्ध (1749–54)
 - 2.4.4 तृतीय कर्नाटक युद्ध (1758–1763)
- 2.5 भारत में ब्रिटिश उपनिवेश की स्थापना और विस्तार
 - 2.5.1 सिराज-उद-दौला और ईस्ट इण्डिया कम्पनी
 - 2.5.2 प्लासी का युद्ध
 - 2.5.4 राजनीतिक शक्ति के रूप में ईस्ट इंडिया कम्पनी का उदय : बक्सर का युद्ध
 - 2.5.5 बक्सर का युद्ध
 - 2.5.6 बक्सर के युद्ध का महत्व
 - 2.5.7 दीवानी की शुरुआत लिए जिम्मेदार परिस्थितियाँ
 - 2.5.8 ईस्ट इंडिया कम्पनी बंगाल के सम्प्रभु शासक के रूप में
- 2.6 इलाहाबाद की संधि (1765) के बाद से 1857 के विद्रोह तक भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की वृद्धि
 - 2.6.1 अंग्रेजों और मैसूर के बीच युद्ध (एंग्लो-मैसूर युद्ध)
 - 2.6.2 पहला एंग्लो-मैसूर युद्ध (1767–69)
 - 2.6.3 दूसरा एंग्लो-मैसूर युद्ध (1780–84) ?
 - 2.6.4 तीसरा एंग्लो-मैसूर युद्ध (1790–92)
 - 2.6.5 चौथा एंग्लो-मैसूर युद्ध (1799)
- 2.7 अंग्रेज-मराठा युद्ध (एंग्लो-मराठा युद्ध)
 - 2.7.1 पहला एंग्लो-मराठा युद्ध (1775–82)
 - 2.7.2 दूसरा एंग्लो-मराठा युद्ध
 - 2.7.3 तीसरा एंग्लो-मराठा युद्ध (1817–18)
- 2.8 अंग्रेज-सिख युद्ध (एंग्लो-सिख युद्ध)
 - 2.8.1 पहला एंग्लो-सिख युद्ध (1845–46)
 - 2.8.2 दूसरा एंग्लो-सिख युद्ध (1848–49)
- 2.9 हड़प नीति के अन्य प्रावधान
 - 2.9.1 सहायक मैत्री
 - 2.9.2 पतन का सिद्धान्त
- 2.10 अभ्यास प्रश्न
- 2.11 संदर्भ ग्रंथ

2.1 प्रस्तावना

16वीं सदी के मध्य और 18वीं सदी के मध्य में भारत के विदेश व्यापार में क्रमिक रूप से वृद्धि हुई। इसका कारण समय-समय पर भारत में आई अनेक विदेशी कम्पनियों की व्यापारी गतिविधियाँ थीं। अनन्त काल से भारत के पश्चिमी देशों से व्यापारिक रिश्ते रहे थे। लेकिन 7वीं सदी से भारत का सामुद्रिक व्यापार अरब देशों, जिनका हिन्द महासागर और लाल सागर पर वर्चस्व था, ने हथिया लिया। भारतीय व्यापार पर अरब देशों के एकाधिकार को पुर्तगालियों ने भारत के साथ सीधे व्यापार के द्वारा तोड़ा। पुर्तगालियों ने यूरोप से भारत के लिए नए समुद्री रास्ते की खोज की। कैप ऑफ गुड होप से होकर गुजरने वाले इस मार्ग की खोज वास्को दा गामा ने की थी। इस नए मार्ग से व्यापार के लिए पुर्तगालियों के अलावा अन्य यूरोपीय समुदायों ने भी पहल की। भारत आने वाले ये व्यापारी पहले वाले व्यापारियों से बिलकुल अलग थे, इन्हें अपनी-अपनी सरकारों का राजनीतिक और सैन्य सहयोग मिला हुआ था। ये केवल व्यापारी ही नहीं थे, वे किसी न किसी रूप में अपनी-अपनी सरकारों के प्रतिनिधि भी थे, जो अपनी नौसैनिक ताकत के बल पर अपने-अपने समुद्री मार्ग बनाना चाहते थे। इस यूनिट में ईस्ट इंडिया कम्पनी के बताए रास्ते पर चल कर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार और विकास पर चर्चा की जाएगी।

2.2 उद्देश्य

- भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार का अध्ययन करना।
 - बंगाल और दक्षिण में ब्रिटिश विस्तार की प्रक्रिया पर नज़र डालना।
 - प्लासी और बक्सर के युद्ध के बारे में स्पष्ट जानकारी लेना और भारतीय राजनीति पर इसके प्रभाव को समझना।
 - विदेशी अतिक्रमण के प्रतिरोध में देशी शासकों द्वारा लड़े गए युद्धों को समझना।
 - अंग्रेजों और मैसूर, अंग्रेजों और मराठों तथा अंग्रेजों और सिखों के बीच संबंधों की जाँच करना।
 - ब्रिटिश विस्तार के अन्य महत्वपूर्ण साधनों पर विचार करना।
-

2.3 अंग्रेजी व्यापार की वृद्धि

एलिजाबेथ प्रथम के शासन काल के अन्त में अंग्रेजों ने पूर्वी देशों के साथ व्यापार में रुचि लेना शुरू कर दिया था। 31 दिसम्बर, 1600 को महारानी ने एक चार्टर पर हस्ताक्षर किए, जिसमें लंदन के व्यापारियों की एक कम्पनी को मसालों के द्वीप समूह में व्यापार के लिए ईस्ट इंडीज में 15 वर्ष के लिए व्यापार के अनन्य अधिकार दिए गए। लेकिन, 1608 में अंग्रेज सूरत पहुँचे और मुगल दरबार से और ज्यादा सुविधाओं का आग्रह किया। 1609-11 में मुगल दरबार में मौजूद विलियम हॉकिन्स पुर्तगालियों के विरोध की वजह से कुछ खास नहीं कर सका। 1612 में पुर्तगालियों की पराजय के बाद ही, जहाँगीर ने अंग्रेजों को सूरत में फैक्ट्री लगाने का फरमान जारी किया। जहाँगीर के दरबार में 1615 से 1618 के दौरान ब्रिटिश राजदूत सर थॉमस रो ने कम्पनी के लिए अनेक सुविधाएँ प्राप्त कीं और 1668 में आगरा, अहमदाबाद तथा भड़ौच में फैक्ट्रियाँ लगाईं। 1687 में चार्ल्स द्वितीय ने पुर्तगालियों के कब्जे वाले बम्बई को कम्पनी को सौंप

दिया। अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपना मुख्यालय सूरत से शिफ्ट करके बम्बई पहुँचाया। कम्पनी ने 1611 में दक्षिण तट पर स्थित मासुलीपट्टनम (मशलीपट्टनम) ने और 1626 में पुलीकट के समीप अमरगाँव में अपनी फैक्ट्रियाँ स्थापित कीं। 1639 में, चन्द्रगिरी के महाराज से मद्रास का पट्टा लिया और यहाँ एक किला बनाया, जो सेंट जॉर्ज के किले के नाम से जाना जाता है। इसके बाद जल्दी ही अंग्रेजों ने अपने कार्यकलाप उत्तर में भी शुरू कर दिए और उड़ीसा में हरिहरपुर और बालासोर, बंगाल में कासिम बाजार तथा हुगली में एवं बिहार में पटना में अपनी फैक्ट्रियाँ स्थापित कीं।

2.4 ब्रिटिश विस्तार के रुझान

2.4.1 दक्षिण में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच प्रतिद्वन्द्विता

यूरोप में फ्रांस और ब्रिटेन के बीच राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता भारत में इनके बीच प्रतिस्पर्धा का कारण बना। सत्रहवीं सदी के अन्त में और अठारवीं सदी के आरम्भ में फ्रांस भारत में ज्यादा सक्रिय नहीं था और इसलिए अंग्रेजों का ध्यान इनकी तरफ नहीं गया। लेकिन 1720 और 1740 के बीच फ्रांसीसियों के व्यापार में अचानक तेजी आई जो अंग्रेजों के लिए चिन्ता का विषय बना। वही दूसरी तरफ, अस्ट्रिया में उत्तराधिकार के लिए संघर्ष (1740-48) में इन दोनों देशों प्रतिद्वन्द्वी के रूप में शामिल होने से भी भारत में इनके बीच वैमनस्य बढ़ा।

2.4.2 कर्नाटक का पहला युद्ध (1746-48)

प्रथम कर्नाटक युद्ध आस्ट्रियाई उत्तराधिकार के लिए छिड़े संघर्ष के चलते यूरोप में फ्रांस और ब्रिटेन के बीच चल रहे युद्ध का विस्तार था। सितम्बर, 1746 में अंग्रेजों की नौसेना ने बारनेट के नेतृत्व में कुछ फ्रांसीसी युद्धपोतों को पकड़ लिया। जिसे फ्रांस के गवर्नर जनरल डूप्ले ने गम्भीर धमकी के रूप में लिया और मारीशस में फ्रेंच गवर्नर ब्योर्दो से तुरन्त सहायता का अनुरोध किया। युद्ध में फ्रांसीसियों ने अंग्रेजी दस्ते को हरा दिया और मद्रास पर कब्जा कर लिया। ब्रिटेन द्वारा बदले की कारवाई से पहले ही एक्स-ला-चैपल की संधि (1748) होने की खबर भारत पहुँच गई और मद्रास अंग्रेजों को लौटा दिया गया तथा दोनों के बीच शान्ति कायम हो गई।

2.4.3 द्वितीय कर्नाटक युद्ध (1749-54)

दूसरे कर्नाटक युद्ध के समय तक, डूप्ले की राजनीतिक महत्वाकांक्षा बहुत बढ़ गई थी। वह दक्षिण में देशी राजपरिवारों की राजनीति में दखल दे कर अपनी शक्तियाँ बढ़ाने लगा। जून 1748 में हैदराबाद के निज़ाम-उल-मुल्फ आसफ जहां की मृत्यु के बाद गद्दी के लिए संघर्ष छिड़ गया। स्वर्गीय निज़ाम का पोता, मुजफ्फर जंग और निज़ाम का दूसरा पुत्र, नासिर जंग दोनों गद्दी के लिए दावेदारी पेश कर रहे थे। वहीं दूसरी तरफ, भूतपूर्व नवाब, दोस्त अली का दामाद चन्दा साहिब नवाब अनवरुद्दीन के अधिकार को चुनौती दे रहा था। ये क्षेत्रीय संघर्ष जल्दी ही एक संघर्ष में बदल गए और अनेक गुट बन गए।

डूप्ले इस अवसर को भांप गया और कर्नाटक को फ्रांसीसियों पर निर्भर करने का सपना देखने लगा। उसने 1749 में अम्बर में नवाब अनवरुद्दीन को हरा दिया और उसकी हत्या कर दी। अवैध पुत्र, मोहम्मद अली ने खुद को त्रिचनापल्ली में कैद कर लिया और अंग्रेजों से मदद की अपेक्षा की। शेष कर्नाटक डूप्ले की कठपुतली, चन्दा साहिब के

अधिकार में आ गया। 1750 में, नए निज़ाम नासिर जंग की हत्या के बाद, डूप्ले अपने नामिती मुजफ्फर जंग को हैदराबाद की गद्दी पर बैठाने में सफल रहा। वही दूसरी तरफ, मुजफ्फर जंग ने डूप्ले को कृष्णा नदी के दक्षिण में स्थित सारे मुगल भू-भाग का गवर्नर बना कर सम्मानित किया। नए निज़ाम के अनुरोध पर बुसी के नेतृत्व में फ्रांसीसी सेना की टुकड़ी भी हैदराबाद में तैनात कर दी गई।

इस बीच डूप्ले ने त्रिचनापल्ली, जहाँ मुहम्मद अली प्रश्रय लिए हुए था, घेरने की कोशिश की। त्रिचनापल्ली का घेरा लम्बा चला। इस बीच रॉबर्ट कलाइव ने अरकाट की राजधानी का घेरा डालकर फ्रांसीसी सेना को दो-फाड़ कर दिया। 1752 में, फ्रांसीसियों ने त्रिचनापल्ली के बाहर ब्रिटिशों के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। चन्दा साहिब की धोखे से हत्या कर दी गई और उसका स्थान पर अंग्रेजों की पसंद यानि कर्नाटक के नवाब मुहम्मद अली को नया नवाब बनाया गया। त्रिचनापल्ली में फ्रांसीसियों की हार ने डूप्ले की किस्मत का दरवाजा बन्द कर दिया। फ्रेंच व्यापारी कम्पनी ने उसे वापस बुला लिया और उसके विदा होने के बाद 1735 में एक अन्तरिम संधि पर हस्ताक्षर हुए। इस संधि के अनुसार, दोनों पक्ष इस बात पर सहमत हुए कि वे भारतीय राजाओं की परस्पर लड़ाई में शामिल नहीं होंगे और संधि के समय जिन भागों पर इन पक्षों का कब्जा था वे भू-भाग उन्हीं के अधिकार में रहेंगे।

2.4.4 तृतीय कर्नाटक युद्ध (1758–1763)

यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध के साथ कर्नाटक का तीसरा युद्ध शुरू हुआ। 1757 में, फ्रांस सरकार ने काउन्ट दे लाली को भारत भेजा। इस बीच ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने 1757 में प्लासी में बंगाल के नवाब सिराज-उद-दौला को हराकर बंगाल पर अधिकार कर लिया था। फ्रांसीसी जनरल काउन्ट दे लाली ने जून 1758 में मद्रास पर कब्जा कर लिया था। अक्टूबर 1759 में सर आयर कूट के मद्रास पहुँचने पर फ्रांसीसियों के टिके रहने की उम्मीद समाप्त हो गई। 22 जनवरी 1760 को लाली की वांदीवाश की लड़ाई में निर्णायक पराजय हुई। इस लड़ाई में बुसी को कैद कर लिया गया। अंग्रेजों ने पाण्डिचेरी का घेरा डाल दिया। आठ माह तक अंग्रेजों को रोके रखने के बाद जनवरी 1761 में लाली ने समर्पण कर दिया। पाण्डिचेरी का पतन भारत में फ्रांसीसी शक्ति के पतन की निशानी बना। पेरिस की संधि (1763) के द्वारा पाण्डिचेरी और फ्रांस के कब्जे वाले भू-भाग उन्हें फिर वापस मिल गए।

2.5 भारत में ब्रिटिश उपनिवेश की स्थापना और विस्तार

पूर्वी भारत में अंग्रेजों की सबसे पहली बस्ती 1633 में बसी थी। इस वर्ष उन्होंने उड़ीसा के हरिहरपुर और बालासोर में फैक्ट्रियाँ लगाईं। बंगाल के मुगल वायसराय शाह सुजा की अनुमति से 1651 में हुगली में पहली इंगलिश फैक्ट्री लगी। शाह सुजा ने 3 हजार रूपये सालाना के तय शुल्क के बदले व्यापार की यह सुविधा दी थी। जल्द ही उन्होंने कासिम बाजार, पटना तथा आस-पास के अन्य क्षेत्रों में फैक्ट्रियाँ लगाईं। अंग्रेजों के व्यापार में मुख्य रूप से रेशम, सूती वस्त्र, शोरा और चीनी शामिल था। 1651, 1656 और 1672 में जारी अनेक फरमानों के द्वारा अंग्रेजों को सीमा शुल्क से छूट दी गई और तय किया गया कि इसके बदले कम्पनी भारतीय प्रशासकों को एक निर्धारित धनराशि देगी।

1658 में अंग्रेजों ने 1200 रूपये देकर सुतानुती, कालीकट और गोविन्दपुर गांवों की जमींदारी हासिल कर ली। अंग्रेजों ने अपनी फ़ैक्ट्री के आस-पास एक किले का निर्माण किया और इसे फोर्ट विलियम नाम दिया तथा सर चार्ल्स आयर को किले का पहला प्रेसीडेन्ट नियुक्त किया। 1717 में मुगल बादशाह द्वारा जारी एक शाही फरमान के जरिए कम्पनी ने कई विशेष अधिकार हासिल कर लिए। बादशाह फारुखसियार ने कम्पनी को बिना शुल्क अदा किए बंगाल में वस्तुओं के निर्यात और आयात की आजादी दी तथा वस्तुओं की मुक्त आवाजाही के लिए पास और दुस्तक जारी करने का अधिकार दिया। यह फरमान पत्र ईस्ट इण्डिया कम्पनी और बंगाल के नवाब के बीच विवाद का एक प्रमुख कारण बन गया। कम्पनी के अधिकारियों द्वारा दुस्तक के दुरुपयोग पर मुर्शिद कुली खान और अलीवर्दी खान दोनों ने आपत्ति जताई, लेकिन कम्पनी ने उनकी नहीं सुनी। इसके चलते दोनों के बीच प्रतिरोध बढ़ गया।

2.5.1 सिराज-उद-दौला और ईस्ट इण्डिया कम्पनी

बंगाल की गद्दी पर सिराज-उद-दौला के बैठते ही शाही फरमान और दुस्तक के दुरुपयोग से जुड़ा विवाद और गम्भीर रूप लेने लगा। सिराज-उद-दौला शाही फरमान और दुस्तक के दुरुपयोग के सख्त खिलाफ था साथ ही अंग्रेजों के इरादों पर शक करता था। इस बीच यूरोप में ब्रिटेन और फ्रांस के राजनीतिक संबंध खराब होने लगे और अंग्रेजों ने यूरोप में एक और संघर्ष की तैयारी शुरू कर दी। यूरोप में इन ताकतों के बीच खींचा-तानी का प्रभाव भारत में इन दोनों कम्पनियों के संबंधों पर भी पड़ा। अंग्रेजों ने नवाब से अनुमति लिए बिना युद्ध की तैयारी के रूप में कलकत्ता की मोर्चाबंदी शुरू कर दी। नवाब ने दोनों पक्षों को इस मोर्चाबंदी को तत्काल रोकने का आदेश दिया। फ्रांसीसियों ने तो आदेश का पालन किया लेकिन अंग्रेजों ने आदेश मानने से इन्कार कर दिया।

सिराज-उद-दौला नौजवान और गुस्सैल था। वह इस अवज्ञा को सहन नहीं कर सका। उसने कासिम बाजार में ब्रिटिश कारखाने को जब्त कर लिया और बाद में 20 जून, 1756 को फोर्ट विलियम पर कब्जा कर लिया। इस दुस्साहस के दौरान एक तथा-कथित "भयानक घटना" घटी। कहा जाता है कि 146 कैदियों को फोर्ट विलियम के एक छोटे से कमरे में कैद कर के रखा गया था। यह गर्मियों की घटना थी और वह रात इतनी गर्म थी कि उनमें से केवल 26 लोग ही जीवित बचे। ब्रिटिश इतिहासकारों ने बंगाल के युवा नवाब को अत्यन्त क्रूर बताने के लिए इस घटना को अतिरंजित किया है। नवाब कालीकट को माणिकचन्द के हाथों में सौंप कर जीत का जश्न मनाने के लिए अपनी राजधानी मुर्शिदाबाद चला गया। वहीं दूसरी तरफ, अंग्रेजों अपने जहाजों पर सवार होकर भाग निकले। नवाब की यह महान भूल थी, उसने अपने दुश्मनों की ताकत को कम करके आंका था।

इस बीच अंग्रेजों ने बचकर एक छोटे से द्वीप फुल्ता में शरण ली और मद्रास से सहायता का इंतजार करने लगे। कर्नल क्लाइव और एडमिरल वाटसन के नेतृत्व में क्रमशः सैनिक बल और नौसैनिक बल इनकी सहायता के लिए पहुँचा और इन्होंने हुगली की ओर कूच किया। हुगली पहुँच कर इसे लूटा और 1757 की शुरुआत में कलकत्ता पर अंग्रेजों का फिर से कब्जा हो गया। 9 फरवरी, 1757 को नवाब को अलीनगर की संधि

पर मजबूर होकर हस्ताक्षर करने पड़े। इस संधि में उसने कम्पनी की सभी मांगों को मान लिया। नवाब को कम्पनी के अधिकारों और रियायतों को बहाल करने और कम्पनी को हुए नुकसान की भरपाई करने के लिए कहा गया।

2.5.2 प्लासी का युद्ध

अब अंग्रेजों ने सिराज-उद-दौला को पद से हटाने और उसकी जगह उनके इशारों पर चलने वाले व्यक्ति को गद्दी पर बैटाने का फैसला किया। उन्होंने मुर्शिदाबाद में नवाब की तरफ से कालीकट में नियुक्त प्रभारी माणिक चन्द, एक धनाढ्य व्यापारी अमीचन्द, जाने माने साहूकार, जगत सेठ, मीर जाफर, मीर बक्शी, नवाब के जनरल राय दुर्लभ के साथ षडयंत्र रचा और मीर जाफर को बंगाल की गद्दी पर बैटाने का निर्णय लिया। 23 जून 1757 को, दोनों सेनाएं मुर्शिदाबाद के निकट प्लासी के मैदान में एक-दूसरे के आमने-सामने थीं। मीर जाफर और राय दुर्लभ की अगुवाई में सेना का एक बड़ा भाग युद्ध में तटस्थ बना रहा और मीर मदान तथा मोहन लाल के नेतृत्व में मुट्टी भर सैनिकों ने अंग्रेजों का सामना किया। इस सेना की बुरी तरह हार हुई। नवाब ने बचकर भाग निकलने की कोशिश की लेकिन वह पकड़ा गया और मारा गया। उसकी जगह मीर जाफर को बंगाल का नया नवाब घोषित किया गया।

के.एम. पनिककर का कहना है कि प्लासी एक ऐसा बाजार बना, जहाँ बंगाल के पैसे वाले बैंकों और जाफर ने नवाब को अंग्रेजों के हाथ बेच दिया। प्लासी का युद्ध भारत का नियति नियन्ता साबित हुआ। कर्नल मैलेसन कहते हैं, “कभी भी ऐसा युद्ध नहीं लड़ा गया, जिसके इतने व्यापक, इतने तात्कालिक और इतने स्थाई परिणाम निकले हों”।

2.5.4 राजनीतिक शक्ति के रूप में ईस्ट इंडिया कम्पनी का उदय : बक्सर का युद्ध

मीर जाफर ने 25 जून 1757 को मुर्शिदाबाद में प्रवेश किया। उसके राजधानी में आते ही क्लाइव ने उसे बंगाल, बिहार और उड़ीसा का सूबेदार नियुक्त कर दिया। वहीं दूसरी तरफ, कम्पनी ने 24 परगना की जमींदारी हासिल कर ली। इसमें कोई शक नहीं है कि कम्पनी को काफी फायदा पहुँचा। कम्पनी ने कलकत्ता में एक टकसाल लगाई और बिहार में शोरे के व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त कर लिया। साथ ही, सूबे में कम्पनी के लिए मुक्त व्यापार का अधिकार प्राप्त कर लिया। इनके अलावा, कम्पनी ने जुलाई, 1757 की संधि से कई राजनीतिक रियायतें हासिल कर लीं। संधि में प्रावधान था कि अंग्रेजों के शत्रु चाहे वे भारतीय हो या यूरोपीय नवाब के शत्रु भी माने जाएंगे।

जल्दी ही मीर जाफर को अंग्रेजों के साहचर्य से चिढ़ होने लगी। उसने बंगाल से अंग्रेजों को उखाड़ फेंकने के लिए डचों के साथ दुरभिसंधि की। क्लाइव ने उसके इस मनसूबे को भांप लिया और 1759 में डचों को पराजित किया। 1760 में क्लाइव के इंग्लैण्ड रवाना होने के साथ ही, जाफर के बुरे दिन शुरू हो गए, अंग्रेज उसे नापसंद करने लगे। उसके पुत्र मीरन की मृत्यु होने पर नवाब और अंग्रेजों के रिश्तों में खटास पैदा हो गई। रॉबर्ट क्लाइव के उत्तराधिकारी लॉर्ड वैंसीट्रैट ने अंततः नवाब को गद्दी से हटा दिया और उसकी जगह पर उसके दामाद मीर कासिम को बंगाल का नवाब बनाया।

मीर कासिम एक कुशल प्रशासक था और उसने मीर जाफर का कर्ज अदा किया। तत्कालीन इतिहासकार गुलाम हुसैन के अनुसार, वित्तीय मामलों में उसका कोई मुकाबला नहीं था। 1762 में, उसने मुर्शिदाबाद की जगह बिहार में मुग़ेर को अपनी

राजधानी बनाया और वहां हथियारों की एक फैक्ट्री लगाई। मीर कासिम ने कम्पनी के अधिकारियों द्वारा आंतरिक सीमा शुल्क से बचने के लिए फरमान के दुरुपयोग पर लगाम लगाई और आन्तरिक व्यापार पर सभी प्रकार के महसूलों को समाप्त करने की एक बड़ी पहल की। अन्ततः इस मुद्दे पर कम्पनी और मीर कासिम के बीच विवाद पैदा होना ही था।

2.5.5 बक्सर का युद्ध

अंग्रेजों की पटना स्थित फैक्ट्री के प्रमुख, एलिस ने नगर पर कब्जा करने की अपनी असफल कोशिश के द्वारा इस विवाद को हवा दी। 1763 की गर्मियों भर मीर कासिम की सेनाओं के खिलाफ निरन्तर अभियान चला और एक के बाद एक हमलों में नवाब की पराजय हुई। वह अवध भाग गया और वहाँ उसने अवध के नवाब सुजा-उद-दौला, मुगल बादशाह शाह आलम के साथ गठजोड़ किया। 22 अक्टूबर, 1764 को इन तीनों की संयुक्त सेना का बक्सर में अंग्रेजों से युद्ध हुआ। अंग्रेजी कमाण्डर मेजर हेक्टर मुनरो ने इस संयुक्त सेना को करारी शिकस्त दी। मुगल बादशाह शाह-आलम द्वितीय ने समर्पण कर दिया। अवध पर कम्पनी का कब्जा हो गया और नवाब को रोहिल्लों के यहाँ शरण लेनी पड़ी। सम्मान और आन-बान के साथ शासन करने वाला नवाब मीर कासिम भगोड़ा बना और 1777 में दिल्ली में अत्यन्त गरीबी की हालत में उसकी मृत्यु हुई।

2.5.6 बक्सर के युद्ध का महत्व

बक्सर के युद्ध ने आधुनिक भारत के इतिहास को एक नई दिशा दी। यह घटना कई मायनों में प्लासी के युद्ध से ज्यादा महत्वपूर्ण थी। जेम्स स्टीफन के अनुसार, “भारत में ब्रिटिश सत्ता के उदय के नजरिए से बक्सर के युद्ध को प्लासी के युद्ध से ज्यादा श्रेय जाता है। सैन्य नजरिए से, बक्सर अंग्रेजों के लिए एक महान विजय साबित हुआ। प्लासी में सिराज-उद-दौला की हार का मुख्य कारण उसके अपने जनरलों का छल-कपट था। बक्सर में अंग्रेज किसी ऐसे छल-कपट के बिना जीते थें।” प्रो० ईश्वरी प्रसाद के शब्दों में “यह एक ऐसा युद्ध था जिसमें दोनों पक्ष पूरी शक्ति और उत्साह से लड़े और अहम मुद्दे तय हुए। न केवल बंगाल के नवाब बल्कि बादशाह और उसके बंजीर को पराजय का मुख देखना पड़ा। उनकी प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा और देश में ब्रिटिश सेना की धाक जमी।” सुजा-उद-दौला जैसे अनुभवी युद्ध माहिर के खिलाफ विजय से कम्पनी की राजनीतिक प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। अब उत्तरी भारत में अंग्रेजों की ताकत अजेय हो गई थी। नया नवाब उनके हाथों की कठपुतली था, अवध का नवाब उनका स्वामिभक्त साथी और मुगल बादशाह उनका कैदी था।

2.5.7 दीवानी की शुरुआत लिए जिम्मेदार परिस्थितियाँ

क्लाइव दूसरी बार मई, 1765 में बंगाल का गवर्नर बनकर आया। उसने आते ही मुगल बादशाह और अवध के नवाब के साथ कम्पनी के रिश्तों को विनियमित करने पर ध्यान दिया। इसी प्रकार, उसने बंगाल के नवाब, नाजिम-उद-दौला के साथ 12 अगस्त, 1765 को इलाहाबाद में एक संधि को अंजाम दिया, जिसके चलते अन्ततः कुख्यात दोहरी व्यवस्था जिसे दीवानी कहा जाता है, की शुरुआत हुई। इससे असल सत्ता कम्पनी के हाथों में चले गयी और प्रशासन का बोझ बंगाल के नवाब के कंधों पर पड़ा।

राजस्व पर सीधा नियंत्रण कम्पनी के पास रहा, नवाब को निज़ामत या पुलिस अथवा न्यायिक कार्यों का दायित्व मिला। लेकिन, राजस्व पर कम्पनी के सीधे नियंत्रण की वजह से नवाब शक्ति विहीन हो गया। इस प्रकार, क्लाइव ने एक “मुखौटा व्यवस्था” अथवा दोहरी सरकार या द्वैध शासन के रूप में विख्यात शासन प्रणाली कायम की। जिसके तहत, कम्पनी ने 12 अगस्त, 1765 के एक फरमान के जरिए मुगल बादशाह शाह आलम द्वितीय से दीवानी के कार्य हासिल कर लिए। दीवानी कार्यों के निष्पादन के लिए, कम्पनी ने दो उप-दीवान, बंगाल के लिए मोहम्मद रेजा खान और बिहार के लिए राजा शिताब राय नियुक्त किए तथा कम्पनी स्वयं असल दीवान बनी। मोहम्मद रेजा खान ने नवाब की तरफ से उप-नाजिम का कार्य भी सम्भाला। सैद्धान्तिक रूप से, सत्ता को कम्पनी और नवाब के बीच में बाँटा गया था, जबकि दरअसल, इसे अंग्रेज नियंत्रकों और भारतीय एजेंसियों के बीच बाँटा गया था लेकिन वास्तविक अधिकार कम्पनी के हाथों में थे।

2.5.8 ईस्ट इंडिया कम्पनी बंगाल के सम्प्रभु शासक के रूप में

ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा शुरू की गई दोहरी शासन प्रणाली बुरी तरह असफल रही। 1772 में वारेन हेस्टिंग्स को बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया गया। उसने “मुगल सम्प्रभुता के मुखौटे” को उतार फेंका और बंगाल पर विजेजा के अधिकार के रूप में शासन करने का निर्णय लिया। शासन की दोहरी व्यवस्था कम्पनी के नौकरशाहों को सौंप दी गई। नवाब जो कि राज्य का असल प्रमुख था, प्रशासन में अपने नाम-मात्र के अधिकारों से भी वंचित कर दिया गया। उसे मिलने वाले 32 लाख रू० के सालाना के भत्तों में कटौती कर के 16 लाख रू० सालाना कर दिया गयी और मुगल बादशाह शाह आलम द्वितीय को मिलने वाले 26 लाख रू० सालाना पर भी रोक लगा दी गई। इलाहाबाद और कोरा को मुगल बादशाह से छीनकर अवध के नवाब को बेच दिया गया।

इस प्रकार, दो दशक से भी कम समय में बंगाल में वास्तविक अधिकार बंगाल के नवाब के हाथ से निकल कर ईस्ट इंडिया कम्पनी के पास चले गए और भारत का एक सबसे समृद्ध और उन्नत प्रान्त कंगाली और दुर्दशा वाला प्रान्त बन गया, दुर्मिक्ष और महामारियों ने हालात और भी खराब कर दिए। बंगाल पर ब्रिटिश शासन ने भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का रास्ता साफ कर दिया और एक समृद्ध अर्थव्यवस्था को औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था बना दिया।

2.6 इलाहाबाद की संधि (1765) के बाद से 1857 के विद्रोह तक भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की वृद्धि

2.6.1 अंग्रेजों और मैसूर के बीच युद्ध (एंग्लो-मैसूर युद्ध)

अठारहवीं सदी के दूसरे उत्तरार्ध में मैसूर के छोटे सा राज्य को विशिष्ट अहमियत मिली। इसका कुछ श्रेय हैदरअली की प्रतिभा और कुछ श्रेय दक्षिण के पठार में इसकी केन्द्रीय स्थिति को जाता है। पानीपत के तीसरे युद्ध (1761) ने उत्तर में मराठा शक्ति को अपाहिज बना दिया था और दक्षिण में इसकी पकड़ को कमजोर कर दिया था। इस युद्ध ने हैदरअली के उत्थान में एक अनिवार्य भूमिका निभाई। उसने सेना में नायक के रूप में सेवा शुरू की और 1758 में असली शासक को अलग-थलग करके राजनीतिक अधिकार अपने हाथ में ले लिए तथा 1761 में मैसूर का निर्विवाद प्रमुख बन गया।

2.6.2 पहला एंग्लो-मैसूर युद्ध (1767-69)

प्रारम्भ में हैदरअली ब्रिटिश सत्ता को अपने प्रति शत्रुतापूर्ण मानता था। अंग्रेजों, मराठों और हैदराबाद के निजाम ने हैदरअली के खिलाफ त्रिपक्षीय गठबंधन तैयार किया। लेकिन, हैदरअली ने राजनयिक पैतरा चलकर निजाम और मराठों को अपने साथ मिला लिया और इन तीनों ने मिलकर अरकाँट पर हमला किया। अरकाँट का हैदरअली के साथ जमीनी विवाद था। लगभग डेढ़ साल तक चलने वाले इस उतार-चढ़ाव वाले संघर्ष के बाद हैदरअली ने अचानक मद्रास पर आक्रमण कर दिया। भयभीत मद्रास सरकार को 4 अप्रैल, 1769 को एक अपमानजनक संधि पर हस्ताक्षर करने पड़े। इस संधि का आधार विजित भूमि की परस्पर वापसी और रक्षात्मक गठबंधन को बनाया गया था।

2.6.3 दूसरा एंग्लो-मैसूर युद्ध (1780-84)

इस दूसरे युद्ध का मुख्य कारण अंग्रेजों और हैदरअली के बीच आपास में अविश्वास बढ़ना था। मैसूर के शासक ने कम्पनी पर आरोप लगाया कि जब मराठों ने 1771 में मैसूर पर आक्रमण किया, कम्पनी ने 1769 की संधि की शर्तों का पालन नहीं किया। वही दूसरी तरफ हैदरअली ने अपनी सैन्य जरूरतों को पूरा करने में फ्रांसीसियों को ज्यादा मददगार पाया। हैदरअली के संरक्षण में बसी फ्रांसीसी बस्ती पर अंग्रेजों के कब्जा करने के कारण, 1779 में हैदरअली, निजाम और मराठों ने परस्पर हाथ मिलाया। जुलाई, 1780 में हैदरअली ने कर्नाटक पर हमला किया और कर्नल बैली के नेतृत्व वाली अंग्रेजी सेना को हरा कर अरकाँट पर कब्जा कर लिया। लेकिन, 1781 में पोर्ट नोवो में अंग्रेजों के हाथों उसे करारी हार मिली। 1782 में, हैदरअली ने कर्नल बैथवेट के नेतृत्व वाली अंग्रेजी सेना को एक बार फिर बुरी तरह से हराया। इस प्रकार, युद्ध में कभी हार और कभी जीत के सिलसिले के दौरान 1782 में हैदरअली की मौत हो गई और उसका अधिकांश अधूरा काम उसके पुत्र टीपू सुल्तान के जिम्मे आया। चूंकि कोई भी पक्ष एक दूसरे को हराने में सक्षम नहीं था, अन्ततः एक दूसरे के जीते हुए भू-भाग को वापस लौटाने के आधार पर 1784 में मंगलौर में एक संधि पर हस्ताक्षर हुए और दोनों पक्षों के बीच शान्ति कायम हुई।

2.6.4 तीसरा एंग्लो-मैसूर युद्ध (1790-92)

इस युद्ध का कारण ट्रावनकोर पर आक्रमण था। यह एक छोटा सा राज्य था और इसका कम्पनी के साथ गठबंधन था। निजाम और मराठा सेना के सहयोग से अंग्रेजों ने टीपू सुल्तान के खिलाफ युद्ध का एलान कर दिया। 1792 में, नए गवर्नर जनरल, लॉर्ड कार्नवाकिस के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना ने श्रीरंगपट्टम की ओर कूच किया और मैसूर की सेना को पराजित करके उन्हें एक संधि पर हस्ताक्षर के लिए मजबूर किया। श्रीरंगपट्टम की इस संधि के फलस्वरूप टीपू सुल्तान को अपना लगभग आधा भू-भाग विजेता गठबंधन को सौंपना पड़ा। अंग्रेजों को बड़ामहल, डिन्डीगुल और मालाबार मिला, जबकि मराठों को तुंगमद्रा क्षेत्र में भू-भाग मिला और निजाम को कृष्णा से पेन्नार तक के क्षेत्र पर कब्जा मिला। मैसूर के पराजित शासक को तीन करोड़ रुपये से ज्यादा का युद्ध हरजाना भरने को भी कहा गया।

2.6.5 चौथा एंग्लो-मैसूर युद्ध (1799)

नया गवर्नर जर्नल वेलेजली चाहता था कि टीपू सुल्तान फ्रांसीसियों से मित्रता छोड़कर अंग्रेजों के गठबंधन में शामिल हो। टीपू सुल्तान ने अफगानी जमान शाह को पत्र लिखकर पंजाब पर आक्रमण करने के लिए उकसाया था। इस वजह से भी अंग्रेज टीपू सुल्तान से नाराज थे। मराठा और निजाम अंग्रेजों का साथ दे रहे थे। वेलेजली ने फरवरी 1799 में टीपू सुल्तान के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। 4 मई 1799 को श्रीरंगपट्टम अंग्रेजों के नियंत्रण में आ गया। टीपू सुल्तान मारा गया और उसके पुत्र को आत्मसमर्पण करना पड़ा। कम्पनी ने कनारा, कोयम्बटूर और श्रीरंगपट्टम तथा पूर्व के अन्य भू-भाग को अपने कब्जे में ले लिया तथा पुराने हिन्दू वोडियार राजवंश के प्रमुख को मैसूर का राजा बना दिया। हिन्दू शासक के अधीन नए मैसूर राज्य ने जुलाई 1799 में अंग्रेजों के साथ एक सहायक संधि पर हस्ताक्षर किए। जिससे इस राज्य की स्थिति कम्पनी पर निर्भर राज्य जैसी हो गई।

2.7 अंग्रेज-मराठा युद्ध (एंग्लो-मराठा युद्ध)

पानीपत के तीसरे युद्ध (1761) से उत्तर में मराठों की सर्वोच्चता को गहरा धक्का लगा। पेशवा के चाचा, रघुनाथराव द्वारा पेशवा पद हड़पने के लिए रचे षडयंत्र से स्थिति और भी खराब हो गई। 1761 में माधवराव पेशवा बने और उन्होंने सारी दिक्कतों पर विजय पाई।

2.7.1 पहला एंग्लो-मराठा युद्ध (1775-82)

मराठों की आन्तरिक नाराजगी और अंग्रेजों की दिन-प्रतिदिन बढ़ती महत्वाकांक्षा पहले एंग्लो-मराठा युद्ध के लिए सबसे ज्यादा जिम्मेदार थीं। 1772 में युवा पेशवा माधवराव की मृत्यु हो गई। इसके बाद उत्तराधिकार के लिए एक के बाद एक संघर्ष हुए। माधवराव के चाचा रघुनाथराव ने साजिश रच कर 1773 में माधवराव के भाई एवं उत्तराधिकारी नारायणराव की हत्या कर दी। हालांकि रघुनाथराव पेशवा बन गया, लेकिन नारायणराव के मृत्योपरान्त पुत्र पैदा होने से, जिसका नाम सवाई माधवराव था, उसे अपनी पेशवाई पर खतरा नजर आने लगा। वह इस हद तक हताश हो गया कि उसने अंग्रेजों की सैन्य टुकड़ी की मदद से अपने पद को सुरक्षित बनाने के लिए बॉम्बे सरकार के साथ सूरत की संधि (1775) पर हस्ताक्षर कर दिए। इस दौरान, अंग्रेज महादजी सिंधिया को पेशवाई विवाद से अलग करने में सफल रहे और उसकी मध्यस्थता से यह संधि सम्पन्न हुई। इस संधि के द्वारा रघुनाथराव ने सालसेत्ते और बसाइन पर अपना अधिकार त्यागने और कम्पनी के शत्रुओं के साथ कोई भी गठबंधन न करने का वायदा किया। इसके बाद हुए युद्ध में हार-जीत का सिलसिला तब तक चलता रहा जब तक कि दोनों पक्षों को युद्ध की निरर्थकता समझ नहीं आई और सलबल की संधि (1782) के रूप में इस युद्ध का अन्त हुआ। सलबल की संधि से अंग्रेजों और मराठों के बीच बीस वर्ष तक शान्ति रही और इस संधि से अंग्रेजों को मैसूर पर दबाव डालने के लिए मराठों की सहायता भी मिली।

2.7.2 दूसरा एंग्लो-मराठा युद्ध

दो बृद्धिमान प्रशासकों महादजी सिंधिया (1794) और नाना फड़नवीस (1800) की मृत्यु से मराठा शक्ति में जो शून्य पैदा हुआ था उसे भरना मुश्किल था। महादजी सिंधिया के उत्तराधिकारी दौलतराव सिंधिया तथा जसवन्तराव छोल्कर के बीच सत्ता के

लिए जबर्दस्त प्रतिद्वंद्विता थी, दोनों ही पूना के प्रशासन पर अपनी पकड़ चाहते थे। 1802 में, होल्कर दौलतराव और पेशवा बाजीराव द्वितीय की सेनाओं को पूना के निकट हराने में कामयाब रहा। पेशवा बाजीराव द्वितीय भागकर बसाइन चला गया और वहाँ उसने 31 दिसम्बर, 1802 को अंग्रेजों के साथ एक सहायक संधि की। यह मराठा गौरव पर एक गहरा आघात था। 1803 में, सिंधिया और भोंसले का अंग्रेजों से युद्ध हुआ। उन्हें आर्थर वेलेजली और लॉर्ड लेक के हाथों पराजय का सामना करना पड़ा। देवगांव की संधि (17 दिसम्बर 1803) के द्वारा भोंसले ने बालासोर और कटक प्रान्त पर अपना अधिकार छोड़ दिया तथा सिंधिया ने सुरजी अर्जन गांव की संधि (30 दिसम्बर, 1803) के द्वारा कम्पनी को गंगा-यमुना दोआब का क्षेत्र और साथ ही अहमदनगर, भड़ौच सौंप दिया तथा मुगल साम्राज्य पर अपने सारे दावे त्याग दिए। निजाम, गायकवाड़ और पेशवा ने 1804 में बुरहानपुर की एक और संधि के द्वारा तथा सिंधिया ने लॉर्डशिप के बारे में सहायक गठबंधन पर सहमति दे दी। लेकिन, 1804 में होल्कर को कम्पनी के साथ एक और संघर्ष में उलझना पड़ा और नवम्बर 1804 में फ्रेजर और लेक के हाथों शिकस्त झेलनी पड़ी। जसवंत राव होल्कर की पराजय के बाद राजपुर घाट की संधि (25 दिसम्बर 1805) हुई। इस संधि के द्वारा मराठा सरदार चम्बल के उत्तर में स्थित स्थानों, बुन्देलखण्ड, पेशवा तथा कम्पनी के अन्य साथियों पर अपने दावों को त्यागना पड़ा। इस संधि के साथ दूसरा अंग्लो-मराठा युद्ध समाप्त हो गया।

2.7.3 तीसरा अंग्लो-मराठा युद्ध (1817-18)

दूसरे अंग्लो-मराठा युद्ध ने मराठा सरदारों की राजनीतिक सत्ता को चकनाचूर कर दिया। लेकिन वे अभी भी सक्रिय थे और वे अपनी खोई हुई आजादी पुनः हासिल करने के घोर प्रयास कर रहे थे। पेशवा अंग्रेजों के सख्त नियंत्रण में तिलमिला रहा था और उसने ही अपनी खोई सत्ता पाने की दिशा में सबसे पहले कदम उठाया। पूना के अंग्रेज रेजीडेन्ट, एलफिन्स्टन ने पेशवा को 13 जून, 1817 को एक नई संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए मजबूर किया। इस संधि के द्वारा, पेशवा ने इस पद के रूप में अपना दावा त्याग दिया और साथ ही मराठा संघ की सरदारी भी उसे छोड़नी पड़ी। वहीं दूसरी तरफ, लॉर्ड हेस्टिंग्स ने दौलत राव सिंधिया को भी 5 नवम्बर, 1817 को ग्वालियर की संधि के लिए मजबूर किया। पेशवा बाजीराव द्वितीय ने हताश होकर ब्रिटिश दुरभिसंधि से छुटकारा पाने के लिए अन्तिम प्रयास किया और पूना के समीप किर्की में अंग्रेजों पर अक्रमण कर दिया। दौलत राव सिंधिया, नागपुर के अप्पा राव और मल्हार राव होल्कर ने भी अंग्रेजों के खिलाफ हथियार उठा लिए। पेशवा को किर्की में और इसी तरह उपरोक्त तीनों को पराजय का सामना करना पड़ा। पेशवा की सेना की अंतिम पराजय अष्टि में हुई और उसने, 2 जून, 1818 को समर्पण कर दिया।

इस प्रकार ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ मराठों का संघर्ष पूरी तरह समाप्त हो गया तथा मराठा सरदारों के साथ एक नया बन्दोबस्त किया गया। पेशवा ने अपना पदनाम और अधिकार हमेशा के लिए त्याग दिए और इसके बदले उसे पेंशन के रूप में 8 लाख रुपये मंजूर किए गए तथा शेष जीवन बिताने के लिए कानपुर के पास बिदर जाने के लिए मजबूर किया गया। तथापि, सतारा के राजाओं के रूप में शिवाजी के वंशजों के

लिए सतारा के निकट एक छोटा सा जिला छोड़ दिया गया। पेशवा के राज्य का शेष सारा भाग बॉम्बे प्रेसीडेंसी में मिला दिया गया।

2.8 अंग्रेज-सिख युद्ध (अंग्लो-सिख युद्ध)

सिखों को 18वीं सदी के मध्य में प्राधान्यता मिली। मुगलों और अफगानों के खिलाफ संघर्ष के दौरान, वे विशेष प्रकार के दस्तों के रूप में संगठित थे, जिन्हें मिस्ल कहा जाता था और मिस्ल के सरदार को मिस्लदार कहा जाता था। इन मिस्लों की संख्या बाद के वर्षों में बढ़ती चली गई और इन्होंने पंजाब के एक बहुत बड़े हिस्से को आपस में बांट लिया। रणजीत सिंह का जन्म 1780 में हुआ था। सुकेरचकिया मिस्ल के सरदार के रूप में, रणजीत सिंह ने सभी मिस्लों को एकजुट करके एक सिख राज्य की स्थापना की। इन्होंने 25 अप्रैल, 2007 को अमृतसर में अंग्रेजों के साथ एक चिरस्थायी संधि की और सतलुज को अंग्रेजों के संरक्षण में दे दिया तथा अंग्रेजों की सीमा को जमुना से सतलुज तक फैला दिया।

2.8.1 पहला अंग्लो-सिख युद्ध (1845-46)

जून, 1839 में रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद, सिख साम्राज्य में अस्तव्यस्तता और अराजकता फैल गई। सेना राजनीतिक फैसले लेने लगी। लेकिन हालात नहीं बदले, इस बीच, रणजीत सिंह के सबसे छोटे पुत्र, दिलीप सिंह जो कि अवयस्क था, के सितम्बर 1843 में गद्दी पर बैठने और उसकी माता रानी जिंदां के प्रतिशासक रानी के तौर पर राजकाज सम्भालने तक दो शासकों की हिंसा में हत्या हो चुकी थी। लेकिन, हालात सुधरने के बजाय दिन प्रतिदिन बिगड़ते चले गए।

लाहौर दरबार सेना के नियंत्रण से छुटकारा पाना चाहता था। इसलिए उसने इस उम्मीद में सेना को अंग्रेजों के खिलाफ लड़ने के लिये उकसाया कि इससे सेना की ताकत कम हो जाएगी। दिसम्बर, 1845 में सिख सेना ने सतलुज पार करके अंग्रेजों की जमीन पर आक्रमण किया। एक के बाद एक मुठभेड़ में सिख सेना की हार हुई और 20 फरवरी 1846 को अंग्रेजों ने लाहौर पर कब्जा कर लिया। इस पराजय के बाद 9 मार्च, 1846 को लाहौर की संधि हुई। इस संधि के द्वारा सिखों को, जलंधर दोआब, काश्मीर और इसके अश्रित प्रदेश अंग्रेजों को देने पड़े। अवयस्क दिलीप सिंह को महाराजा के रूप में मान्यता दी गई और लाहौर में एक रेजीडेंट नियुक्त कर दिया गया। 16 दिसम्बर, 1846 को एक अनुपूरक संधि पर हस्ताक्षर हुए। जिसके अनुसार, राजकाज चलाने के लिए 8 सरदारों की एक प्रतिशासक परिषद बनाने का प्रावधान किया गया, जिसका प्रमुख ब्रिटिश रेजीडेंट सर हैनरी लारेंस बनाया गया।

2.8.2 दूसरा अंग्लो-सिख युद्ध (1848-49)

यह व्यवस्था ज्यादा समय तक नहीं टिकी और 1848 में, मुल्तान के गवर्नर, दीवान मुल्कराज ने अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह कर दिया। सितम्बर तक सिखों की एक बड़ी सेना के मुल्कराज के साथ मिल जाने से हालात और गम्भीर हो गए। छोटा सा विद्रोह अब एक बड़ा आकार ले चुका था और इसकी गम्भीरता को समझते हुए, डलहौजी ने युद्ध की घोषणा कर दी। रामनगर (16 नवम्बर, 1848) और चिलिअनवाला (13 जनवरी, 1849) की लड़ाई, 29 मार्च, 1849 को गुजरात (चेनाब के नजदीक एक कस्बा) की निर्णायक लड़ाई में तब्दील हो गई। डलहौजी ने एक घोषणा पत्र द्वारा पूरे पंजाब को

हड़प लिया और महाराजा दिलीप सिंह को पेंशन भोगी बनाकर उसकी माता रानी जिंदां के साथ इंग्लैण्ड भेज दिया। पंजाब का प्रशासन एक बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स को सौंप दिया गया। इस बोर्ड को भी 1853 में भंग कर दिया गया और इसके स्थान पर जॉन लारेंस को पंजाब का चीफ कमिश्नर बना दिया गया।

2.9 हड़प नीति के अन्य प्रावधान

2.9.1 सहायक मैत्री

वेल्लेजली (1798–1805) ने भारतीय रियासतों को अंग्रेजों की राजनीतिक सत्ता के दायरे में लाने के लिए सहायक मैत्री की नीति का रास्ता अपनाया। यह नहीं कहा जा सकता कि यह नीति केवल वेल्लेजली के दिमाग की उपज थी। क्योंकि सबसे पहले क्लाइव ने 1765 में अवध के नवाब सुजा-उद-दौला के साथ इस संधि का उपयोग किया। इसलिए, भारतीय राजाओं की आजादी हड़पने में, वेल्लेजली की इस योजना को रॉबर्ट क्लाइव की नीति का अद्यतन और सुपरिष्कृत रूप कहा जा सकता है।

सहायक मैत्री योजना का स्वरूप आसान था। इसके अनुसार, भारतीय रियासतें अंग्रेजों की इजाजत लिए बिना किसी भी अन्य रियासत से कोई युद्ध नहीं करेंगी और न ही कोई वार्ता या संधि करेंगी। भारतीय राजा को अपनी जमीन पर ब्रिटिश सैन्य दस्ता स्थायी रूप से तैनात करने को मजबूर किया गया और साथ ही सैन्य टुकड़ी का व्यय वहन कटने या इस व्यय के बदले अपना भू-भाग अंग्रेजों को देने के लिए कहा गया। इस संधि प्रस्ताव में यह भी प्रावधान था कि भारतीय शासक अपने दरबार में ब्रिटिश रेजीडेन्ट रखेगा और इसके बदले में अंग्रेज उसे उसके सभी दुश्मनों के खिलाफ सुरक्षा प्रदान करेंगे। अंग्रेजों ने संधि प्रस्ताव स्वीकार करने वाले मित्र राज्यों के आन्तरिक विवाद में कोई दखल न देने का वायदा भी किया।

दरअसल, इस मैत्री संधि पर हस्ताक्षर करके, भारतीय शासक अपनी आजादी लगभग खो देता था और अंग्रेजों का अधीनस्थ बन जाता था। बाहरी मामलों या अन्य राज्यों के साथ संबंध के मामले में उसके सभी सम्प्रभु अधिकार छीन लिए गए थे और वह ब्रिटिश रेजीडेन्ट का गुलाम बन गया था। संक्षिप्त में कहा जाए तो, भारतीय राजा बिना दांतों और नाखून वाला शेर का पुतला बन कर रह गया था।

2.9.2 पतन का सिद्धान्त

लॉर्ड डलहौजी के प्रशासन में ब्रिटिश साम्राज्य का अभूतपूर्ण विस्तार हुआ। उसका मानना था कि जब भी सम्भव हो राज्य हड़प लिया जाए। उसकी हड़प नीति का पहला भाग पतन का सिद्धान्त था। इस सिद्धान्त का मतलब था कि राज्य का स्वाभाविक वारिस न होने पर, निर्भर राज्य या अंग्रेजों द्वारा बनाए गए राज्य कम्पनी के हो जाएंगे। इसमें यह भी निर्धारित किया गया था कि दत्तक पुत्र तभी कानूनी वारिस माना जाएगा जब ब्रिटिश सरकार उसे मान्यता देदे। डलहौजी से पहले कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स 1834 में ही इस नीति को मान्यता दे चुके थे। यह सिद्धान्त 1839 में माण्डवी पर, 1840 में कोलाबा और जालौन पर तथा 1840 में सूरत पर लागू किया जा चुका था। डलहौजी के प्रशासन में इस सिद्धान्त के द्वारा छीने गए राज्यों में सतारा (1848), भगत (1850), उदयपुर (1852), झांसी (1853) और नागपुर (1854) शामिल हैं। अतः डलहौजी ने देश के

राजनीतिक एकीकरण और प्रशासनिक समेकन में इस सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में जम कर प्रयोग किया।

2.10 अभ्यास प्रश्न

(संक्षिप्त टिप्पणियाँ)

1. दक्षिण में अंग्रेज-फ्रांसीसी युद्ध में फ्रांसीसियों की हार पर टिप्पणी लिखें।
2. 1757 में दीवानी प्रदान करने के क्या प्रभाव पड़े ?
3. सहायक मैत्री नीति के कुछ प्रमुख तत्वों पर टिप्पणी लिखें।
4. पतन के सिद्धान्त के कुछ प्रमुख तत्वों पर टिप्पणी लिखें।

अभ्यास (लम्बे उत्तर वाले प्रश्न)

1. 1600 से अठारहवीं सदी के मध्य तक अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी के विस्तार पर प्रकाश डालें।
2. भारत के इतिहास में बक्सर के युद्ध को प्लासी के युद्ध से ज्यादा महत्वपूर्ण क्यों माना जाता है।
3. 1770 से 1818 के बीच अंग्रेज-मराठा संबंधों की समीक्षा करें।
4. इलाहबाद की संधि (1765) के बाद और 1857 के विद्रोह तक भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार पर प्रकाश डालें।

2.11 संदर्भ ग्रंथ

- चौधरी, के.सी., हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इंडिया, न्यू सेन्ट्रल बुक एजेंसी, कलकत्ता, पुनर्मुद्रित 2000।
- रॉय चौधरी एस.सी., हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इंडिया, सुरजीत पब्लिकेशन्स, दिल्ली, तीसरा संस्करण 1999।
- मजूमदार आरसी (एट आल) ब्रिटिश पैरामाउन्टसी एण्ड इंडियन रेनेशां पार्ट I, भारतीय विद्या भवन, बॉम्बे 1988।
- ग्रोवर बी.एल., और मेहता अल्का, ए न्यू लुक एट मॉडर्न इंडियन हिस्ट्री (1717 टू दी मॉडर्न टाइम्स), एस चान्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, 2012।
- सेन एस.एन., मॉडर्न इंडिया, न्यू एज इंटरनेशनल पब्लिशर्स, कलकत्ता 1991।

ब्रिटिश सत्ता का विस्तार : विचारधारा एवं वाणिज्यवाद

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 भारतीय अर्थव्यवस्था का औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में बदलना
- 3.4 भारतीय कृषि का विस्तार और बाजारीकरण
 - 3.4.1 जमींदारी व्यवस्था/स्थायी बन्दोबस्त
 - 3.4.2 रैयतवारी व्यवस्था
 - 3.4.3 महलवारी व्यवस्था
- 3.5 नए राजस्व बन्दोबस्त के परिणाम
 - 3.5.1 कृषक समाज पर इनका प्रभाव
 - 3.5.2 अंग्रेजों की लगान नीतियों का आर्थिक और सामाजिक प्रभाव
 - 3.5.3 किसानों की कर्जदारी में वृद्धि
 - 3.5.4 भारतीय कृषि का बाजारीकरण
- 3.6 उद्योगों का पतन और शिल्पकारों के बदलते हालात
- 3.7 अन-औद्योगीकरण (अनौद्योगीकरण)
- 3.8 सम्पदा पलायन
- 3.9 अभ्यास प्रश्न
- 3.10 संदर्भ ग्रंथ

3.1 प्रस्तावना

भारत में अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए अंग्रेज उपनिवेशवादियों के विभिन्न तरीकों के बारे में हम पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं। अब इस अध्याय में हम भारत की पारम्परिक अर्थव्यवस्था के औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में बदलने पर चर्चा करेंगे। 17वीं शताब्दी में, भारत के एशियाई देशों के साथ फलता-फूलता व्यापार था। एशियाई देश, अरब से चीन तक और अफ्रीका के पूर्वी तट पर बसे देशों के साथ भारत के व्यापारिक रिश्तों से देश के उद्योगों और कृषि दोनों को फायदा मिला। साथ ही, देश के अन्दर विभिन्न प्रान्तों के बीच समृद्ध व्यापार भी भारतीय अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण पहलू था। लेकिन भारत का यह जीवन्त व्यापार औरंगजेब के शासन के अन्तिम दिनों में सिमटने लगा। इसका कारण, दक्षिण में औरंगजेब के लम्बे समय तक युद्धरत और कमजोर शाही प्रशासन के चलते देश में व्याप्त अराजकता थी। औरंगजेब की मौत के बाद जो हालात बने, वे निरन्तर उत्पादन और व्यापारिक वस्तुओं के वितरण के लिए अनुकूल नहीं थे और इससे भारतीय अर्थव्यवस्था को गहरा धक्का लगा। देश में राजनीतिक स्थिरता नहीं रही और विद्रोहों तथा युद्धों ने इसे अस्त-व्यस्त कर दिया था। फलता-फूलता व्यापार, स्थानीय राजाओं और छोटे-मोटे सरदारों द्वारा वसूले जाने वाले आयात शुल्कों से थम गया था। ऐसे समय में, पश्चिमी देशों ने इस व्यवस्था-विहीन स्थिति का भरपूर लाभ उठाया। मुगल प्रशासन ने अपनी समृद्धि सेना (नौसेना) रखने के प्रति लापरवाही बरती। हिन्द महासागर में यूरोपीय छिछोरों की पैठ बनने का यह एक बड़ा कारण था। अतः, पतनशील व्यापारिक नौशक्ति की वजह से दक्षिण-पूर्व एशिया, पश्चिम एशिया और अफ्रीका में भारत को अपने प्राचीन और पारम्परिक बाजारों से हाथ धोना पड़ा। प्लासी और बक्सर के युद्ध भारत के पारम्परिक व्यापार और कृषि के लिए ताबूत में आखिरी कील साबित हुए। अंग्रेजों ने अवध के

नवाब पर अपनी अहम जीत के बाद बंगाल के समृद्ध प्रान्तों पर अपनी पकड़ बनाने में देरी नहीं की। बंगाल के प्रशासन पर अंग्रेजों के वर्चस्व से, आत्मनिर्भर और मांग से अधिक वाली भारतीय अर्थव्यवस्था औपनिवेशिक अर्थ व्यवस्था में तब्दील होने लगी।

3.2 उद्देश्य

- भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के आर्थिक विस्तार का अध्ययन करना।
- भारतीय व्यापार और उद्योग में अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए उपनिवेशवादियों द्वारा अपनाए गए अनेक तौर-तरीकों को भली-भांति समझना।
- भारतीय सम्पदा की लूट के लिए अंग्रेजों द्वारा अपनाई गई भू-राजस्व नीतियों का समझना।
- “ग्रामीण ऋणग्रस्ता”, गरीबी में बढ़ोत्तरी और भारतीय फसलों के वाणिज्यीकरण की जांच करना।
- “सम्पदा पलायन” की अवधारणा का अध्ययन करना।
- भारतीय हस्तकला के पतन का अध्ययन करना।

3.3 भारतीय अर्थव्यवस्था का औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में बदलना

1757 से 1947 तक, अंग्रेजों ने अपनी व्यापारिक सुविधाएं बढ़ाने और भारत के आर्थिक संसाधनों का दोहन करने के लिए अनेक प्रकार की आर्थिक नीतियाँ अपनायीं। मार्क्सवादी विद्वान और बोली विशेषज्ञ आर०पी० दत्त के अनुसार, औपनिवेशिक सरकार ने भारत के आर्थिक संसाधनों का तीन अलग-अलग चरणों में दोहन किया। अपनी चिरस्थायी कृति “इंडिया टुडे” में उन्होंने पहले चरण को **तिजारती चरण** (1757–1813) कहा है। दत्त का तर्क है कि इसमें कम्पनी ने व्यापार पर एकाधिकार जमाया और बंगाल के दस्तकारों पर घाँस जमाकर उन्हें अपने उत्पाद सस्ती कीमतों पर बेचने के लिए मजबूर किया। दत्त ने 1813–1857 की अवधि को दूसरा चरण कहा है। दोहन के इस दूसरे चरण के दौरान, भारत ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चा माल निर्यात करने वाला प्रमुख देश और ब्रिटेन में बनी वस्तुओं के लिए एक मुख्य बाजार बना। इस चरण में, भारत में बने उत्पादों को इंग्लैण्ड में बने मशीनी उत्पादों से कड़ा मुकाबला मिला। उन्होंने ब्रिटिश लूट के अन्तिम चरण (1860 से) को **वित्तीय पूंजीवाद** का युग कहा है। इस चरण में, अंग्रेजों ने अपनी राजनीतिक और व्यापारिक जरूरतों के लिए, भारत में रेलवे, डाक और टेलीग्राफ (तार) व्यवस्था कायम की, जिसके चलते, अन्ततः भारतीय जनता कर्ज के बोझ तले दब गई। यदि हम भारतीय उप-महाद्वीप में अंग्रेजों के आर्थिक विस्तार का गहराई से विश्लेषण करें तो पाएंगे कि आर०पी० दत्त की विवेचना बिल्कुल सही थी।

बंगाल में राजनीतिक घटनाक्रम (1757–65) और फ्रांसीसियों (1756–63) तथा डचों (1659) पर अंग्रेजों की विजय ने भारत के व्यापार, वाणिज्य, आर्थिक संसाधनों और उद्योग पर उनके एकाधिकार के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा कर दी थीं। ईस्ट इंडिया कम्पनी का प्राथमिक उद्देश्य व्यापार के जरिए कमाई करना था। कम्पनी ने भारत को गुलाम बनाने के अपने अंतिम लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए व्यापारिक सुविधाओं को राजनीतिक दादागीरी से जोड़ा। 1757 के बाद, अंग्रेजों ने बंगाल के जमीनी व्यापार पर बड़े पैमाने पर कब्जा किया। कम्पनी के अधिकारियों और नौकरशाहों ने नमक, सुपारी, तम्बाकू जैसी जिन्सों के व्यापार पर कब्जा किया। सभी यूरोपीय व्यापारियों को इन वस्तुओं के व्यापार की कतई इजाजत नहीं थी। मीर कासिम के शासन काल में, यह खराब व्यवस्था नवाब और अंग्रेजों के बीच नियमों के उल्लंघन का सबसे महत्वपूर्ण कारण बनी। नवाब ने 1762 में कम्पनी के गवर्नर को पत्र लिख कर इस ओर

उसका ध्यान खींचा। "वे हिंसा और दमन के जरिए एक चौथाई कीमत पर उनकी वस्तुएँ जबरन खरीदते वे एक रूपया कीमत वाली वस्तु के लिए रियाया को पाँच रूपये देने के लिए बाध्य करते हैं" कम्पनी के दस्तावेजों से इस खरीद-फरोख्त की पुष्टि तो होती है, लेकिन, असलियत यह थी कि जो लोग इस अनुचित मांग का विरोध करते थे उन्हें कोड़े मारे जाते थे और कैद कर लिया जाता था। अतः ईस्ट इंडिया कम्पनी ने बंगाल की राजनीतिक सत्ता हासिल करने के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था को औपनिवेशिक हितों के अधीन ला दिया। 1769 में कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने एक सख्त आदेश जारी किया, जिसमें कहा गया कि "बंगाल में कच्चा सिल्क तैयार करने वालों को बढ़ावा दिया जाए और रेशमी वस्त्र बनाने वालों को हतोत्साहित किया जाए और रेशम कातने वालों को कम्पनी के कारखानों में काम कटने के लिए मजबूर किया जाए तथा सरकार के अधिकार द्वारा सख्त जुर्माना लगाकर इन्हें अपने घरों में काम करने से रोका जाए।" 18वीं सदी के बाद वर्षों ने बंगाल से भारी मात्रा में सम्पदा का शोषण और उद्योगों के विनाश तथा भू-राजस्व में लगातार वृद्धि ने बंगाल को पूरी तरह तबाह कर दिया।

अंग्रेजों ने भारतीय व्यापार, शिल्प और उद्योगों को तबाह करने के लिए संदेहास्पद तरीके अपनाए। ब्रिटेन की संसद ने ब्रिटिश कपड़ा उद्योगों के संरक्षण के लिए अनेक प्रकार के निषेधात्मक और व्यय संबंधी कानून पारित किए। बंगाल के मूल्यवान वस्त्रों, जिनकी पूरी दुनियाँ में मांग थी, पर अंग्रेजों ने एकाधिकार कर लिया। कम्पनी बनुकरों को कर्जा दे कर उन पर अपना एकाधिकार कर लेती थी ताकि उन्हें दूसरों के लिए काम न करें। कम्पनी के एक वरिष्ठ (सीनियर) नौकरशाह ने 1772 में लिखा कि जो बुनकर कम्पनी के अलावा किसी अन्य को अपनी वस्तुएँ बेचने का दुस्साहस करते थे, उन्हें बहुधा जेल में डाल दिया जाता था और उन पर भारी जुर्माना लगाया जाता था तथा अत्यन्त नीच तरीके से उन्हें प्रताड़ित किया जाता था। इन तौर-तरीकों का परिणाम यह हुआ कि बुनकर समुदाय ने अपना पेशा ही छोड़ दिया और अन्ततोगत्वा बंगाल में बुनाई उद्योग का पतन हो गया।

प्लासी के बाद, कम्पनी के नौकरशाहों ने नमक निर्माण और नमक बिक्री को अपने नियंत्रण में लाने का प्रयास किया। 1765 में, रॉबर्ट क्लाइव ने एक सोसाइटी के माध्यम से नमक के निर्माण और व्यापार पर अपना कब्जा जमाया। यह व्यवस्था ज्यादा नहीं चली और 1768 में इसे समाप्त कर दिया गया तथा इसकी जगह एक नई व्यवस्था बनाई गई, जिसमें भारतीय व्यापारियों और जमींदारों को नमक बनाने की अनुमति दी गई। इन लोगों को बनाए गए नमक पर कम्पनी को 30 प्रतिशत का शुल्क देना पड़ता था। 1772 में, इसे फिर बदला गया, स्थानीय जमींदारों और व्यापारियों को दी गई नमक सुविधा समाप्त कर दी गई और कारोबार पर कम्पनी का एकाधिकार फिर से कायम हो गया। 1776 में, वारेन हेस्टिंग्स ने एक नई स्कीम शुरू की, इसमें नमक बनाने और बेचने की सुविधा लोगों को पट्टे पर दी गई। चार वर्ष के अन्दर ही, कम्पनी सरकार ने फिर से यह कार्य अपने हाथ में ले लिया।

शोरा बारूद बनाने के काम आता था और यूरोपीय देशों में इसकी भारी मांग थी। 1758 में, रॉबर्ट क्लाइव ने कठपुतली नवाब, मीर जाफर से बंगाल में इस व्यापार पर कम्पनी के एकाधिकार की सुविधा हासिल कर ली। इस रियायत से, डच ओर फ्रांसीसी केवल शान्तिकाल में ही अंग्रेजों से शोरा खरीद सकते थे। 1793, तक नील निर्यात की एक दूसरी महत्वपूर्ण वस्तु बन गई। नील संयंत्रों के मालिक "मुक्त अंग्रेज व्यापारी" थे। उन्होंने नील की खेती करने वाले गरीब किसानों का अत्यधिक अमानवीय शोषण किया। इसी प्रकार, ईस्ट इंडिया कम्पनी ने बंगाल और बिहार की अफीम पर भी अपना एकाधिकार जमा लिया। यह अफीम ज्यादातर चीन को निर्यात की जाती थी। इंग्लैण्ड में भारी शुल्क लगाकर ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपनी

दमघोटू नीतियों के द्वारा बंगाल के समृद्ध चीनी उद्योग को भी बरबाद कर दिया। ब्रिटिश नौवहन उद्योग को फायदा पहुँचाने के लिए भारतीय नौवहन पर लगाए गए प्रतिबंधों के कारण फलते-फूलते इस उद्योग को भी गहरा झटका लगा। ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति और भारत में राजनीतिक दादागीरी के बल पर ब्रिटिश निर्माता भारत को उनके तैयार माल के लिए एक विशाल बाजार के रूप में तब्दील करने में कामयाब रहे। कानूनों और प्रशासनिक नीतियों के माध्यम से, ब्रिटिश सरकार ने भारतीय बाजारों का पूरी तरह दोहन किया। कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने 1763 में पहली बार बंगाल में लंकाशायर में बना कपड़ा बेचने की पहल की। इसी प्रकार, बंगाल में भारतीय सूती कपड़े और मसलिन के स्थान पर मानचेस्टर में भाप से चलने वाले करघों से तैयार उत्पाद थोपने की शुरुआत हुई। ब्रिटेन के हितों को प्राथमिकता देते हुए बंगाल सरकार ने ब्रिटिश वस्तुओं पर आयात शुल्क में ढाई प्रतिशत की कटौती कर दी इससे भारतीय उद्योगों को गहरा आघात पहुंचा। असंघटित भारतीय निर्माता, उन्नत वैज्ञानिक पद्धतियों का उपयोग करने में अक्षम थे और कम्पनी की सरकार द्वारा शुल्कों में भेदभाव के चलते इस अनुचित और गैर-बराबरी वाले मुकाबलें में नहीं टिक सकते थे।

3.4 भारतीय कृषि का विस्तार और बाजारीकरण

ग्रामीण भारत पर ब्रिटिश शासन का एक महत्वपूर्ण पहलू भारतीय कृषि ढांचे में दूरगामी बदलाव था। नए प्रशासनिक तंत्र के आने की से कृषि का पुराना ढांचा धीरे-धीरे ढह गया। उस समय खेती लोगों का प्राथमिक व्यवसाय था और यहां तक कि कपड़ा, चीनी, तेल आदि जैसे उद्योग, कृषि पर निर्भर थे। ब्रिटिश शासन की आधी सदी में ही, जमीन के मालिकाना हक और जमीन के लगान के आकलन और वसूली के पैटर्न में स्पष्ट बदलाव आया। यह बदलाव भारतीय गांवों की आत्मनिर्भरता और अंग्रेजों से पहले की कृषि व्यवस्था के विनाश का कारण भी बना।

प्लासी के युद्ध के बाद, अंग्रेजों ने नए नियुक्त नवाब से दीवानी (बंगाल में कर वसूली का अधिकार) भी हासिल कर ली। वारेन हेस्टिंग्स द्वारा सबसे पहले जमीन के लगान के लिए शुरू किए गए बन्दोबस्त में अजीब प्रावधान थे। उसने सबसे ऊँची बोली लगाने वाले को भूमि आबंटित करने की प्रणाली शुरू की। इससे विरासत में मिलने वाली जमींदारी की व्यवस्था खत्म होने लगी और गांव की सरकार के साथ सदियों से चली आ रही सम्पर्क-कड़ी टूटने लगी और अन्ततः यह खत्म हो गई। इससे पहले, जब रॉबर्ट क्लाइव बंगाल का दीवान बना, उसने भू-राजस्व की वार्षिक व्यवस्था बनाई। लेकिन, वारेन हेस्टिंग्स ने इसे पंचवर्षीय कर दिया, पर बाद में इसे फिर वार्षिक कर दिया। इसी प्रकार, लॉर्ड कार्नवालिस ने दसवर्षीय बन्दोबस्त व्यवस्था शुरू की जिसे बाद में 1793 में बंगाल, बिहार और उड़ीसा में स्थायी बना दिया गया। यह नई व्यवस्था, जिसे आमतौर पर स्थायी बन्दोबस्त व्यवस्था कहा जाता है, जमींदारों के साथ की गई थी। इन्हें जमीन का पूरी तरह मालिक माना गया था और इन्हें जमीन का लगान वसूल करने का स्थायी अधिकार दिया गया था। इसे जमींदारी भी कहा जाता है। मोटे तौर पर कहा जाए तो, अंग्रेजों ने भारत में तीन प्रकार की खेतिहर जमीन व्यवस्था अर्थात्, जमींदारी कार्यकाल/व्यवस्था, महलवारी कार्यकाल/व्यवस्था और रयोटवारी कार्यकाल/व्यवस्था अपनायी।

3.4.1 जमींदारी व्यवस्था/स्थायी बन्दोबस्त

ब्रिटिश कानूनों के द्वारा जमींदारी व्यवस्था कायम की गई और अनेक गैर-आर्थिक सरोकार इनमें शामिल होने की वजह से इसे स्वीकार कर लिया गया। इस व्यवस्था को जागीरदारी, मालगुजारी, बिस्वेदारी आदि अनेक नामों से जाना जाता था। स्थायी बन्दोबस्त के

तहत राज्य के भू-राजस्व एकबारगी हमेशा के लिए तय कर दिया गया, जबकि इससे पहले जमींदारी भू-भाग और भू-लगान में एक निर्धारित अवधि के बाद संशोधन किया जात था। यह अवधि 10 से 40 वर्ष तक हो सकती थी। जैसा कि हम पहले चर्चा कर चुके हैं, बोर्ड ऑफ रेवेन्यू (राजस्व परिषद) के अध्यक्ष सर जॉन शोर की सिफारिश पर लार्ड कार्नवालिस ने 1793 में यह व्यवस्था लागू की थी। इस नई व्यवस्था के अन्तर्गत, जमींदार को जमीन के मालिक के रूप में मान्यता दी गई, जो जमीन को गिरवी रख सकता है, वसीयत में दे सकता है और बेच सकता है। इस प्रकार, ईस्ट इंडिया कम्पनी का जमींदार एक छोटा-मोटा पूंजीपति बन गया, जिन्हें अंग्रेज "मशरूम जेंटलमेन" कहते थे। जेंटलमेन होने के नाते सभी प्रकार के लगान देना उसका दायित्व था, चूक होने पर कम्पनी जमीन कुर्क करके बेच सकती थी। इस स्थायी बन्दोबस्त में, ब्रिटिश भारत की कुल जमीन का लगभग 15 प्रतिशत भाग शामिल था। इसे बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उ०प्र० का बनारस सम्भाग और उत्तरी कर्नाटक में अपनाया गया था। लेकिन, इस स्थाई बन्दोबस्त में एक खामी थी। कम्पनी भू-राजस्व 89 प्रतिशत तय किया गया था, जबकि मेहनताने के रूप 11 में प्रतिशत जमींदारों के लिए छोड़ा गया था। हालांकि, जमींदार कितना लगान देगा, यह तो तय था, लेकिन जमींदार काश्तकारों से कितना लगान लेगा यह तय नहीं था। कम्पनी द्वारा छोड़ी गई इस कमी के चलते जमींदारों को काश्तकारों का शोषण करने का मौका मिला। आबादी में वृद्धि, कृषि भूमि में विस्तार, मूल्यों में वृद्धि और दिन पर दिन बढ़ती जमीन की कमी की वजह से जमींदारों का रसूख-बहुत बढ़ गया। अपनी जमीन-जायदाद पर जमींदारों के वंशानुगत अधिकार के चलते, जमीन के मूल मालिकों और काश्तकारों, जिनकी नियति जमींदार की दया पर जीवित रहना था, के बीच लगान उगाहने वाले बिचौलियों और दलालों की नई जमात पैदा हो गई।

ज्यादातर जमींदार मूल रूप से खेतिहर किसान नहीं थे बल्कि पुराने जमींदारों के चरित्रहीन नौकर, कम्पनी राज से जुड़े लोगों, मातहल कृषक सरकारी कार्यालयों के क्लर्क, व्यापारी, वकील और ऐसे ही पेशों से जुड़े लोगों में से बने थे। अतः अलग-अलग पेशे के लोग होने के कारण, वे ग्रामीण समस्याओं और अव्यवस्थाओं को समझने में असमर्थ थे। इसका परिणाम यह निकला कि बार-बार मनमाने तरीके से लगान की दरें तय की गईं और काश्तकारों को उनकी पारम्परिक जमीनों से बेदखल किया गया।

3.4.2 रैयतवारी व्यवस्था

टीपू सुल्तान के साथ 1792 में श्रीनागपट्टम की संधि के बाद दस वर्ष के अन्दर अंग्रेजों ने सबसे ज्यादा समृद्ध और साफ भू-भाग हासिल कर लिया जो आगे चल कर मद्रास प्रान्त बना। अंग्रेजों की इस नई कब्जे वाली जमीन में जमीन बन्दोबस्त की एक नई व्यवस्था पनपी। मद्रास में जमीन बन्दोबस्त की इस व्यवस्था को रैयतवारी व्यवस्था नाम दिया गया। इस रयोतवारी बन्दोबस्त का सर थॉमस मुनरो से गहरा सम्बन्ध है। सर मुनरो ने सबसे पहले बारामहल का रैयतवारी बन्दोबस्त किया था। जिसमें सीधे 60,000 किसानों के साथ लगान तय किया गया था। उसके इस प्रायोगिक परीक्षण से 1,65,000 रुपये का लगान प्राप्त हुआ जो ईस्ट इंडिया कम्पनी के राजस्व में जबर्दस्त इजाफा था। रैयतवारी बन्दोबस्त कम्पनी के प्राधिकारियों को पसंद आया और उन्होंने कनारा, मालाबार, तंजौर आदि जैसे क्षेत्रों में लगान बन्दोबस्त की यह व्यवस्था लागू कर दी।

रैयतवारी व्यवस्था का प्राथमिक उद्देश्य लगान के रूप में जमीन से अधिक से अधिक राजस्व प्राप्त करना तथा रयोतों की हालत में सुधार करना था। पहला उद्देश्य तो पूरा हो गया

लेकिन दूसरा उद्देश्य अधूरा ही रहा। आधिकारिक रूप से यह कहा गया था कि रयोत जब तक जमीन का लगान देता रहेगा, उसे उसकी भूमि से बेदखल नहीं किया जाएगा लेकिन लगान की दरें इतनी ऊँची थीं कि गरीब किसानों के लिए इसका भुगतान करना आसान नहीं था। मुनरो ने काश्तकारी निर्धारित करने की सलाह दी थी ताकि रयोत द्वारा सुधार का फायदा कम्पनी को मिले। यहाँ यह बताना भी महत्वपूर्ण है कि मद्रास प्रान्त के लिए रैयतवारी व्यवस्था लागू करने से पहले इस पर विस्तार से बहस हुई। विलियम बैंटिक की राय भी मुनरो से मेल खाती थी और उसने दर्ज किया कि जमींदारी व्यवस्था बंगाल के लिए उपयुक्त थी क्योंकि वहाँ वंशानुगत जमींदार मौजूद थे और जहाँ तक मद्रास का मामला है, यहाँ ऐसी पराम्परागत जमींदारी नहीं थी। दर असल, मद्रास, रयोतों के लिए न तो कोई तयशुदा लगान था और इसमें बढ़ोतरी होने की स्थिति में न कोई सुरक्षा थी। स्वाभाविक है कि रैयतों के अधीन जमीन में सुधार का कोई इरादा नहीं था। आर०सी० दत्त का तर्क है कि जमीन पर लगान की अनिश्चतता किसान के सिर पर तलवार की तरह लटकी रहती थी।

1855 के बाद, आकलन का अधिकार राजस्व अधिकारी को दे दिया गया, जो हर बार बन्दोबस्ती पर अपने विवेक से लगान तय कर सकता था और इस प्रकार से "लगान के एकबारगी निर्धारण" की अवधारणा औपचारिक रूप से समाप्त हो गयी। परिणाम यह हुआ कि कृषि उपज लगातार गिरी और कृषकों की कर्जदारी बढ़ी जिसके चलते कृषि में मन्दी का दौर आया और अन्ततः कृषि कार्य मुनाफे का नहीं रहा, इसमें घाटा होने लगा और खेती करना अलोकप्रिय हो गया।

3.4.3 महलवारी व्यवस्था

जमींदारी और रयोतवारी जैसी बंदोबस्ती व्यवस्थाएं अंग्रेजों की उम्मीद पर खरी नहीं उतरी तो महलवारी व्यवस्था के रूप में एक नई व्यवस्था खोजी गई। 1833 से 1853 की अवधि के दौरान आर०एम० बर्ड और जेम्स थॉमसन ने एक विस्तृत सर्वे किया तथा 30 वर्ष का आकलन तय किया। इस व्यवस्था में, राजस्व निर्धारण के लिए ग्राम या महल यानि जायदाद को एक इकाई माना गया। गांव की जमीन ग्रामीण समुदाय की थी, तकनीकी तौर पर इसे "बटाईदार" माना गया था और वे लगान चुकाने के लिए संयुक्त रूप से जिम्मेदार थे, हालांकि लगान देना प्रत्येक किसान का दायित्व था। अतः, निश्चय ही यह दो पर्ववाली बन्दोबस्ती थी (क) मालिकाना हक और कब्जेदारी प्रत्येक ग्रामीण को दी गई थी और सभी को खेती अलग-अलग करनी थी, और (ख) किसान जमीन का लगान अंग्रेजों को लम्बरदार अथवा मुखिया के माध्यम से अदा करने के लिए संयुक्त रूप से जिम्मेदार थे। पहले यह व्यवस्था आगरा और अवध क्षेत्र में लागू की गई। बाद में इस महलवारी व्यवस्था में उ०प्र० के अधिकांश क्षेत्रों, मध्य प्रान्त, पंजाब आदि में थोड़े-बहुत फेर बदल के साथ लागू करके ब्रिटिश भारत के लगभग 30 प्रतिशत क्षेत्र को इसमें ला दिया गया।

महलवारी व्यवस्था में, सैद्धान्तिक रूप से काश्तकार के पास अपनी भूमि के अधिकार का रिकार्ड था। सरकार भी समय-समय पर अलग-अलग प्रकार की जमीन की उत्पादकता तय करती थी। आकलन हो जाने के बाद, यह आकलन बन्दोबस्ती की पूरी अवधि तक लागू रहता था। लेकिन व्यवहार में ऐसा नहीं था, सभी ग्रामीणों को जमीन के अधिकार नहीं दिए गए थे, बल्कि बड़े परिवार वाले कुछ रसूखदार समूहों को ही ये अधिकार मिले थे। अकेले इन समूहों ने ही संयुक्त मालिकाना हक का फायदा उठाया, जबकि सामान्य रयोतों को काश्तकार उप-काश्तकार, बटाईदार आदि बना दिया गया था। इस प्रकार, सामाजिक और आर्थिक असमानता बढ़ी और किसानों की

हालत बिगड़ी। छोटे काश्तकारों के पास बहुत कम जमीन थी और गांव के मुखिया द्वारा बहुधा इनका दमन किया जाता था। इसके अलावा, इससे ग्रामीण समुदाय टुकड़ों में बंटा, सामाजिक नजरिए से यह व्यवस्था अनर्थकारी रही और आर्थिक नजरिए से यह व्यवस्था पूरी तरह से असफल रही।

3.5 नए राजस्व बन्दोबस्त के परिणाम

3.5.1 कृषक समाज पर इनका प्रभाव

अंग्रेजों ने सरकार के राजस्व में इजाफे के इरादे से जमींदारी, रयोटवारी और महलवारी व्यवस्थाएं लागू की थीं। इनमें किसान और शासक के बीच सदियों पुराने रिश्ते को खत्म करके राजस्व बन्दोबस्ती की पुरानी व्यवस्था, जिसमें जमींदार किसानों का सर्वस्व था, त्याग दी गई। पुरानी व्यवस्था की जगह एक नई व्यवस्था कायम की गई, जिसमें नए जमींदार उभरे जिनके लिए सत्ता के हित सर्वोपरि थे। जमींदार जमीन के मालिक बन गए और कृषि कार्य केवल काश्तकारी (लगान देकर जमीन कमाना) बनकर रह गया। महलवारी तथा रयोटवारी के तहत, हालांकि रयोट जमीन के मालिक बने, लेकिन जमीन पर उनका हक संदेहास्पद था। स्थाई बन्दोबस्त के तहत जमींदार 12 वर्ष से ज्यादा के लिए अपनी जमीन पट्टे पर नहीं दे सकते थे, लेकिन कई जमींदारों ने अपनी जमीन पट्टे पर दे दी। तथापि, यह प्रतिबन्ध 1812 में समाप्त कर दिया गया, और पट्टा अनुबंध पर जमीन देने की कोई सीमा नहीं रही। खेतों के टुकड़ों-टुकड़ों में बंटने से जमींदारों की आर्थिक सम्पत्ति में वृद्धि हुई। जमींदारों ने अपने काश्तकारों की कमजोर माली हालत को देखकर उन्हें **तकावी** कर्जे दिए, लेकिन नए शोषणकारी लगान के दबाव में वे इस प्रथा को जारी नहीं रख सके। इसने एक नए वर्ग यानि साहूकारों या महाजनों को जन्म दिया और गरीब तथा भूखे किसान इनके शिकार बने। स्वदेशी उद्योगों का पतन, हम इस बारे में यूनिट के अगले भाग में चर्चा करेंगे, होने से लोग जीवनयापन के लिए खेती पर निर्भर होने लगे। कृषक समाज के पुराने औजारों और उपकरणों से सरकार तेजी से प्रगति करते कृषक भारत का सपना तो देख रही थी पर कृषि को बेहतर बनाने के लिए अपनी तरफ से कोई प्रयास नहीं कर रही थी।

3.5.2 अंग्रेजों की लगान नीतियों का आर्थिक और सामाजिक प्रभाव

19वीं सदी में लगान की ऊँची दरों के चलते गरीबी बढ़ी और खेती-बाड़ी में गिरावट आई, इससे किसान तबाह हो गए। किसान, महाजनों, व्यापारियों, धनी किसानों और अन्य समृद्ध वर्गों के शिकंजे में फंस गए। बढ़ते बाजारीकरण से महाजनों और व्यापारियों को खेतिहर समुदाय के शोषण का मौका मिला। किसान को फसल कटाई के तुरन्त बाद अपनी फसल बेचनी पड़ती थी ताकि वो सरकार और जमींदारों तथा महाजनों को लगान और कर्ज चुका सकें। इनके अलावा, खेती पर बढ़ते आबादी के दबाव से किसानों की हालत खराब हो गई।

3.5.3 किसानों की कर्जदारी में वृद्धि

उपरोक्त कारणों से अंग्रेजों के शासन में भारतीय किसान कर्ज के बोझ तले दबता चला गया। 1880 के बाद, ग्रामीण ऋणग्रस्तता गुणोत्तर दर से बढ़ी जो चौंकाने वाली थी। हालांकि, किसानों की कर्जदारी कोई ऐसी नई घटना नहीं थी जो अंग्रेजों के शासन में घटित हो रही थी। लेकिन ब्रिटिशों का राजनीतिक वर्चस्व स्थापित होने के बाद, इस कर्जदारी को एक नया आयाम मिला। नई परिस्थितियों के चलते अंग्रेजों ने भारी कराधान के रूप में किसानों पर नए-नए कर लगाए। ये वसूलियाँ ग्रामीण भारत की ऋणग्रस्तता का प्रमुख कारण बनीं। महाजन, अंग्रेजों द्वारा शोषण का मुख्य औजार बने, इन्होंने कानूनी तंत्र द्वारा लागू अनुबंधों के आधार पर किसानों को

कर्ज दिया। यदि किसान अपना कर्ज नहीं चुका पाता था तो उसकी सम्पत्ति कुर्क कर ली जाती थी। ग्रामीण कर्जदारी बढ़ने का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण कृषक समुदाय में व्याप्त आम गरीबी और धनवान लोगों पर इनकी निर्भरता था।

किसानों की बढ़ती ऋणग्रस्तता की वजह से रयोटवारी वाले क्षेत्रों में किसानों की जमीन बड़े पैमाने पर महाजनों के पास चली गई और जमींदारी वाले क्षेत्रों में काश्कारों को भारी संख्या में उनके खेतों से बेदखल किया गया। अलग-अलग प्रान्तों में ब्याज की दरें अलग-अलग थीं। ये ब्याज दरें 12 प्रतिशत से लेकर 200 या 300 प्रतिशत तक थीं। इसके चलते गांव के लोग साहूकार/महाजन या कर्जदाता को नफरत की नजर से देखते थे और ये तबका गांव में बदनाम था। दुर्जन स्वाभाव की वजह से इन साहूकारों को सम-सामयिक साहित्य, नाटकों और ऐसे ही कथानकों में खलनायक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। नए आर्थिक माहौल से गरीबी की हालात में आए किसान अपने कर्जों के बदले महाजनों को अपनी जमीन देने लगे और इस तरह उनकी ज्यादा से ज्यादा जमीन महाजनों के कब्जे में चली गयी। ऋणग्रस्तता से ग्रामीणों की स्थिति दयनीय हो चुकी थी। हालात देखते हुए सर हैमिल्टन ने लिखा कि ऐसा प्रतीत होता है कि पूरा देश महाजनों के शिकंजे में है। वही दूसरी तरफ, कानूनी लड़ाई इतनी खर्चीली थी कि गरीब किसान धनवान महाजनों का मुकाबला नहीं कर सकते थे। महाजन वकीलों की सहायता से लम्बे समय तक कानूनी लड़ाई लड़ सकते थे लेकिन गरीब किसान वकीलों की भारी भरकम फीस चुकाने में असमर्थ थे।

3.5.4 भारतीय कृषि का बाजारीकरण

19वीं सदी के मध्य में कृषि बाजारीकरण की नीति शुरू होने के बाद भारतीय कृषि में एक नया रूझान देखने को मिला। एक निर्धारित धनरशि लगान के रूप में अदा करने की व्यवस्था तथा गांव और खेत के रिश्ते को नए रूप में परिभाषित किए जाने की वजह से यह नया रूझान नजर आया। पहले ग्रामीण खेती का मतलब गांव के लिए फसल उत्पादन था। लेकिन अब बिक्री के इरादे से फसल और उत्पादन तय किया जाने लगा और उपज बाजार से जुड़ गई। 1833 के आस-पास, विदेशी बाजार में निर्यात के इरादे से बंगाल में जूट की खेती शुरू की गई। कुछ समय बाद कपास का निर्यात भी शुरू कर दिया गया। लेकिन, 1850 तक इन वस्तुओं का व्यापार काफी सीमित था।

इस व्यवस्था के अन्तर्गत किसान मुख्यतया बाजार के लिए फसल उगाते थे ब्रिटिश शासन में ढुलाई के साधनों में सुधार होने और किसानों को कारोबारी पूंजी मिलने से बाजारी फसलों का उत्पादन बढ़ने लगा। किसानों को सरकार को भारीभरकम लगान चुकाना होता था और इसके लिए उन्हें नकदी की जरूरत थी, इसलिए ऐसी उपजों की ओर उनका रूझान बढ़ा और भारतीय कृषि का बाजारीकरण होने लगा। किसान कुछ खास फसलें उगाने लगे। कपास, जूट, गेहू, गन्ना, तिलहन, नील, अफीम आदि जैसी एकल कृषि फसलों की खेती के लिए ही गांवों की जमीन का उपयोग होने लगा। अंग्रजों ने कपास की जननी कहे जाने वाले देश को इंग्लैण्ड में बने सूती कपड़े से लाद दिया। भारतीय किसान अब भारतीय और विश्व बाजार के लिए उत्पादन करने लगे थे। इस तरह वे अस्थिर बाजार के उतार-चढ़ावों के अधीन आ गए। उन्हें, नई तकनीकों से भारी मात्रा में उत्पादन करने वाले अमरीका, यूरोप और आस्ट्रेलिया जैसे देशों से मुकाबला करना था। वही दूसरी तरफ, भारतीय किसान, अपने छोटे-छोटे खेतों में परिवार के सदस्यों के सहयोग से बैलों से खेती करते थे। इन उत्पादों से होने वाली आय लगान चुकाने के लिए भी पर्याप्त नहीं होती थी। इसके अलावा, बाजारीकरण के चलते खेतिहर

किसान व्यापारियों को अपने उत्पादों की बिक्री पर निर्भर हो गए और ये व्यापारी बिचौलियों के रूप में किसानों का शोषण करते थे। ये व्यापारी अपनी समृद्ध माली हालत से किसानों की मजबूरी का पूरा लाभ उठाते थे।

इन नए हालातों से ग्रामीण समाज भयंकर गरीबी से ग्रस्त हो गए और इनका दिवाला निकल गया। ज्यादातर भारतीयों के पास सामान्य जीवन जीने के लिए भी साधन नहीं थे और बार-बार पड़ने वाले सूखे और बाढ़ में काल का निवाला बन गए। विलियम डिगबी के अनुमानों के अनुसार, 1864 से 1901 के बीच भारत में 24 बार अकाल पड़ा, जिनमें 29 मिलियन (दो करोड़ नब्बे लाख) भारतीयों की मौत हुई। 20वीं शताब्दी में भी हालात में कोई खास सुधार नहीं हुआ। आजादी से कुछ साल पहले 1943 में बंगाल में भयंकर सूखा पड़ा जिसमें 30 लाख लोगों की जान गई। ये भयंकर सूखे बताते हैं कि गरीबी, कुपोषण और नवजात शिशुओं की मृत्युदर सारी हदें पार कर चुकी थी। भारत में पड़ने वाले सूखों की सबसे खराब खासियत यह थी कि लोग सूखा, बाढ़ फसल खराब होने और अनाज उपलब्ध न होने के कारण नहीं मरते थे, बल्कि लोगों के पास अनाज खरीदने के लिए पैसा न होने के कारण मरते थे।

3.6 उद्योगों का पतन और शिल्पकारों के बदलते हालात

ब्रिटिश-पूर्व भारत में ग्रामीण उद्योग संतुलित और आत्म-निर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था का अभिन्न अंग था। भारतीय गांवों की सभी औद्योगिक जरूरतें गांव में ही पूरी हो जाती थीं। लेकिन, ब्रिटिश सरकार द्वारा लागू सभी नीतियों ने भारतीय अर्थव्यवस्था को गहराई से प्रभावित किया और भारत की पारम्परिक शिल्पकला भी इससे अछूती नहीं रही। भारत की शानदार शिल्पकारी को देखकर पश्चिमी लोग भारत को विश्व की औद्योगिक कर्मशाला समझते थे। हालांकि, भारत मूलतः कृषि प्रधान देश था, लेकिन देश के अन्दर ही समान्तर तदनुरूपी अनेक प्रकार के उद्योग भी फल-फूल रहे थे। तथापि, शाही दरबारों के खत्म होने से हस्तशिल्प की मांग में भारी कमी आई। इसी प्रकार, मुगल साम्राज्य के पतन के बाद बंगाल में निर्मित वस्तुओं की मांग गिरी। अवध के नवाब के दरबार के पतन से लखनऊ के रंगाई उद्योग को गहरा आघात लगा। वही दूसरी तरफ, भारत में अंग्रेजों के पदार्पण के बाद पाश्चात्य देशों के ऐसे पेशेवर अधिकारी आए जो स्वदेशी उद्योगों के उत्पादों को हिकारत की नजर से देखते थे और यूरोप के सस्ते सूती वस्त्र, छापे वाले सूती परिधान और अश्लील वस्त्र पसंद करते थे। पढ़े-लिखे भारतीयों ने पाश्चात्य लोगों की नकल करने की कोशिश की, यूरोपियन शैली और फैशन अपनाया। भारत की देशी कला और दस्तकारी इन अंग्रेजी-दां लोगों को अब पसंद नहीं आती थी।

आर०सी० दत्त की टिप्पणियों के अनुसार, ईस्ट इंडिया कम्पनी और ब्रिटिश पार्लियामेंट की अनर्थकारी नीतियों भारतीय हस्तकला के पतन के लिए मुख्यतया जिम्मेदार थीं। आरम्भ में, ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारतीय शिल्पकला को प्रोत्साहित किया, क्योंकि इन हस्तनिर्मित वस्तुओं के यूरोपीय बाजार में निर्यात से उन्होंने बहुत मुनाफा कमाया। लेकिन, जल्दी ही कम्पनी को अपनी नीतियाँ बदलने के लिए मजबूर किया गया और उनसे कहा गया कि केवल कच्चे माल के निर्यात पर ध्यान दें, क्योंकि ब्रिटेन के कारखानों को इसकी जरूरत थी। यही नहीं, बिजली से चलने वाले करघों ने भी भारतीय वस्त्र उद्योग के पतन में बहुत बड़ी भूमिका निभाई। कार्ल मार्क्स के शब्दों में, “अंग्रेजों के बिजली से चलने वाले करघों ने भारत के हथकरघों को ध्वस्त कर दिया और कपास की जननी कहे जाने वाले देश को सूती सी कपड़ों से लाद दिया।”

हालांकि, भारतीय दस्तकार मशीनों से बनी वस्तुओं का मुकाबला कर सकते थे, बशर्त कि कीमत के मामले में मुकाबला निष्पक्ष हो। लेकिन कीमत के मामले में तो उनके साथ भेदभाव हो

रहा था। रेलवे लाइनों के निर्माण और ढुलाई के साधनों तथा संचार के साधनों में उन्नति ने आयातित वस्तुओं को देश के दूर-दराज के क्षेत्रों तक पहुँचाना आसान बना दिया। इससे वस्त्र उद्योग और शिल्पकला को जबर्दस्त नुकसान पहुँचा। किसान भी गांवों के कुटीर उद्योग के पतन का कारण बने। सूखे के दौरान, गरीब शिल्पकार, विशेषकर बुनकर, कोई और काम तलाश कर अपना जीवन-यापन करने में असमर्थ रहे।

शिल्पकारों की स्थिति में बदलाव का एक और पहलू यह था कि वे दिहाड़ी पर काम करने वाले कामगार बनने लगे। उदाहरण के लिए पहले ये हुनरमंद लोग ग्रामीणों की जरूरतें पूरी करते थे और बाजार में बेचने के लिए कभी भी कोई औजार या उपकरण नहीं बनाते थे। नई परिस्थितियों में, बुनकर अपने उत्पादों की स्थानीय और दूर-दूर के बाजार में बिक्री के लिए बिचौलियों पर निर्भर होने लगे। इसके अलावा, बाजार में टिकने के लिए और ज्यादा पूंजी की जरूरतें पड़ने लगी तथा शिल्पकार बिचौलियों के शिकंजे में फसने लगे। कई शिल्पी अपना पारंपरिक पेशा छोड़ कर शहरों को पलायन कर गये और वहां मजदूरी पर काम करने लगे या बहुत कम मजदूरी पर दूसरों के लिए अन्य काम करने लगे। गौरतलब है कि गृह उद्योगों के पतन से तत्कालीन अर्थव्यवस्था को गहरा झटका लगा और ग्रामीणों का आर्थिक जीवन तबाह हो गया। परिणामस्वरूप, बड़ी संख्या में शिल्पकार बेरोजगार होकर खेती पर निर्भर हो गए।

3.7 अन-औद्योगीकरण (अनौद्योगीकरण)

जैसा कि अभी तक हमने देखा कि 19 वीं सदी के प्रथम उत्तरार्ध से लेकर 1880 तक, भारत की अर्थव्यवस्था में एक विचित्र बदलाव आया। जब यूरोपीय देशों का उद्योगीकरण हो रहा था, तब भारत में देशी उद्योग पतन की ओर अग्रसर थे। देशी उद्योगों के इस अपकर्ष को ही "अनौद्योगीकरण" के रूप में दर्शाया गया है। औद्योगिक क्रान्ति की इस अवधि में, भारत को "ब्रिटेन का खेतिहर उप-अंग" बना दिया गया था।

इंग्लैण्ड और अन्य यूरोपीय देशों में स्वदेशी आधुनिक उद्योगों ने देशी हस्तशिल्प को बरबाद कर दिया। अपने पेशे से बेदखल हुए शिल्पकार स्वदेशी आधुनिक उद्योगों में खप गए। भारत में, घरेलू शिल्पकलाओं का पतन तो हुआ लेकिन इसके साथ-साथ कोई मशीनी उद्योग नहीं लगे। आर०सी० दत्त ने भारतीय उत्पादों की जगह विदेशी उत्पादों द्वारा लिए जाने की इस प्रक्रिया को "ब्रिटिश भारत के इतिहास का सबसे दुखद अध्याय" कहा है। अर्थव्यवस्था के कृषि और उद्योग क्षेत्र के बीच संतुलन बिगड़ने तथा घरेलू उद्योगों के दमन के कारण राष्ट्रीय आय के स्रोत पूरी तरह नष्ट हो गए। ब्रिटिश उद्योगों की हुंकार ने लाखों कारीगरों को उनके पारम्परिक पेशे से वंचित कर उन्हें खेती पर निर्भर होने के लिए मजबूर किया। जीवन-यापन के लिए खेती पर आबादी का दबाव बढ़ा और देश में नगर गांवों में तब्दील होने लगे यानी देश का ग्रामीणीकरण होने लगा।

3.8 "सम्पदा पलायन"

भारत से ब्रिटेन को सम्पदा के निर्षाध प्रवाह और बदले में आर्थिक, वाणिज्यिक अथवा साजो-समान के रूप में पर्याप्त प्रतिफल न मिलने को भारत के राष्ट्रवादी नेताओं और अर्थशास्त्रियों ने "भारत से सम्पदा पलायन" का नाम दिया है। प्लासी के युद्ध के बाद अंग्रेजों ने भारत को गरीब बनाने की लागत पर अपने आप को अमीर बनाने के लिए भारत से कच्चा माल लगातार लूटा। इस निरन्तर लूट की प्रक्रिया ने "सम्पदा-पलायन" के सिद्धान्त को जन्म दिया। दादाभाई नौरोजी और एम०जी० रानाडे आदि जैसे राष्ट्रवादी विचारकों को इस सिद्धान्त

का जनक कहा जा सकता है। 2 मई 1967 को ईस्ट इंडिया एशोसिएशन की बैठक में नौरोजी ने अपना एक लेख पढ़ा जिसका शीर्षक था “इंग्लैन्ड्स डेब्ट टू इंडिया”। नौरोजी के विचार “पलायन” की अवधारणा के रूप में चर्चा और मनन का विषय बने। इसके बाद तो, दादाभाई नौरोजी के एक के बाद एक सभी लेखों की मुख्य विषय-वस्तु हमेशा, भारत से “नैतिकता और कच्चे माल का पलायन” रहा। “पॉवरटी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया” (1867), “दी वान्ट्स एण्ड मीन्स ऑफ इंडिया” (1870) और “ऑन दी कॉमर्स ऑफ इंडिया” (1871) उनकी अन्य सराहनीय कृतियाँ हैं। इनमें नौरोजी ने अंग्रेजों की भारत में बुरी तरह आर्थिक लूट की अत्यन्त उपहास भरे अन्दाज में आलोचना की है। 1867 के बाद से, दादाभाई ने अपना जीवन पूरी तरह से, “पलायन” के सिद्धान्त के प्रचार-प्रसार में समर्पित कर दिया। 1880 में उन्होंने लिखा “आज का ज्वलंत प्रश्न यह है कि भारत से खूनी रिसाव को किस प्रकार रोका जाए”। 1886 में, उन्होंने अपने सर्वाधिक आलोचनात्मक विश्लेषण में ब्रिटिश प्रशासन का मजाक उड़ाया, उन्होंने लिखा “पूरे मसले का लब्बो-लुआब यह है कि मौजूदा अन्यायपूर्ण और शैतानी प्रशासन के खर्चों के तहत, ब्रिटिश शासन का परोपकार कोरी कल्पना है, जबकि ब्रिटिश शासन की रक्त पिपासा एक असलियत है”।

“पलायन” के सिद्धान्त के एक और प्रचारक न्यायमूर्ति एम0जी0 रानाडे हैं। उन्होंने 1872 में पूना में एक व्याख्यान दिया था, उन्होंने शोषण की अत्यन्त मुखर आलोचना की थी। अपने व्याख्यान में उन्होंने कहा “अंग्रेजों ने किसी न किसी रूप में राष्ट्र की एक तिहाई पूंजी हड़प कर ब्रिटेन भेजी”। “पलायन” सिद्धान्त के एक और जबर्दस्त समर्थक रोमेश चन्द्र दत्त ने भारत में ब्रिटेन की आर्थिक नीतियों की धज्जियाँ उड़ाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। “इकॉनॉमिक थ्योरी ऑफ इंडिया” (1901) प्रथम खण्ड के आमुख में उन्होंने बताया कि भारत के शुद्ध राजस्व का आधा भाग बाहर भेजा जा रहा था”। उन्होंने कहा “दरअसल भारत का मानसून दूसरों के खेत पर बरस कर उसे उपजाऊ बना रहा है”। उन्होंने आगे कहा “देश के संसाधनों का इतना ज्यादा आर्थिक शोषण किया जा रहा है और इस लूट को बाहर भेजा जा रहा है कि दुनियाँ का सबसे ज्यादा समृद्ध देश एक दिन कंगाल हो जाएगा”। इस शोषण ने भारत को ऐसे जमीन के टुकड़े में बदल दिया है, जहाँ बार-बार अकाल पड़ता है, हर बार यह पिछले अकाल से ज्यादा भयानक और जान लेवा होता है। इस कदर तबाही लाने वाले अकालों के बारे में भारत या दुनिया के इतिहास में पहले कभी भी कोई वर्णन नहीं आया है। दत्त का मानना है कि नादिरशाह जैसे विदेशी हमलावरों की लूट-पाट की तुलना में “सम्पदा पलायन” ज्यादा विनाशकारी साबित हुआ। नादिर शाह भारत आया और लूट-पाट मचा कर तत्काल वापस चला गया। सम्पत्ति का नुकसान अस्थाई रहा, गाज गिरी और खत्म हो गयी। इसके अलावा, इस तरह के हमले कभी-कभार होते थे। लेकिन अंग्रेजों द्वारा शोषण तो उनके प्रशासन का एक अभिन्न हिस्सा था, इसलिए निरन्तर और अन्तहीन था, जो वर्ष दर वर्ष बढ़ता ही जा रहा था। घाव को कुरेद कर हमेशा हरा रखा गया और यह शोषण नासूर बन गया।

ऐतिहासिक नजरिए से देखा जाए, तो सम्पदा पलायन या सम्पदा शोषण का सिद्धान्त आम आदमी की भाषा में ब्रिटिश शासन की विदेशी और शोषणकारी विशेषता को उजागर करता है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1896 के अपने कलकत्ता सत्र में “ड्रेन थ्योरी” शोषण या पलायन सिद्धान्त को आधिकारिक रूप से अंगीकार किया और कहा कि भारत में दुर्मिक्ष (अकाल) और लोगों की गरीबी का कारण देश का वर्षों से चला जा रहा आर्थिक शोषण है। स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान, भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की भर्त्सना में यह सिद्धान्त एक सहज नारा बना।

3.9 अभ्यास प्रश्न

(संक्षिप्त टिप्पणियाँ)

1. आर०पी० दत्त ने भारत के आर्थिक ससाधनों के दोहन को तीन चरणों में बांटा है, इन पर प्रकाश डालियें।
2. रॉवर्ट क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्स द्वारा अपनाई गई राजस्व व्यवस्था पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
3. अनौद्योगिकीकरण क्या है।
4. ग्रामीण आर्थिक जीवन को नष्ट करने में महाजन और साहूकार कहां तक जिम्मेदार हैं।
5. भारत में ग्रामीण ऋणग्रस्तता के लिए जिम्मेदार कुछ महत्वपूर्ण कारकों पर प्रकाश डालें।
6. दादाभाई नौरोजी का विशेष हवाला देते हुए "सम्पदा पलायन" का सिद्धान्त समझाएं।

अभ्यास (लम्बे उत्तर वाले प्रश्न)

1. भारत में दस्तकला के पतन के लिए ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी और ब्रिटिश पार्लियामेंट कहाँ तक जिम्मेदार थी। तर्क दें।
2. भारत में तीन प्रकार की भू-अवधि/व्यवस्था पर चर्चा करें और इनमें अन्तर बताएं।
3. भारत में कृषि के बाजारीकरण और कुटीर उद्योग के पतन का भारतीय किसानों और दस्तकारों पर क्या प्रभाव पड़ा। चर्चा करें।

3.10 संदर्भ ग्रंथ

- चौधरी, के.सी., हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इंडिया, न्यू सेन्ट्रल बुक एजेंसी, कलकत्ता, पुनर्मुद्रित 2000।
- रॉय चौधरी एस.सी., हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इंडिया, सुरजीत पब्लिकेशन्स, दिल्ली, तीसरा संस्करण 1999।
- मजूमदार आरसी (एट आल) ब्रिटिश पैरामाउन्ट्सी एण्ड इंडियन रेनेशां पार्ट I, भारतीय विद्या भवन, बॉम्बे 1988।
- गोवर बी.एल., और मेहता अल्का, ए न्यू लुक एट मॉडर्न इंडियन हिस्ट्री (1717 टू दी मॉडर्न टाइम्स), एस चान्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, 2012।
- सेन एस.एन., मॉडर्न इंडिया, न्यू एज इंटरनेशनल पब्लिशर्स, कलकत्ता 1991।

ब्रिटिश विस्तार की नीतियां एवं कार्यक्रम, विस्तार के उपकरण: युद्ध एवं कूटनीति

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 यूरोपीय देशों का साम्राज्य-विस्तार
 - 1.3.1 यूरोपीय देशों के साम्राज्य-विस्तार का पहला चरण
 - 1.3.2 साम्राज्यवादी शक्तियों की समृद्धि में अप्रत्याशित वृद्धि
 - 1.3.3 यूरोपीय देशों द्वारा औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित करने के लिए अनुकूल परिस्थितियां
- 1.4 ब्रिटिश औपनिवेशिक साम्राज्य
 - 1.4.1 ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार का पहला चरण
 - 1.4.2 17 वीं शताब्दी में ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार
 - 1.4.3 विस्तार-तक ब्रिटिश साम्राज्य 1815 वीं शताब्दी के प्रारंभ से लेकर 18
 - 1.4.4 ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार का अंतिम चरण (1815-1914)
 - 1.4.4.1 प्रशांत महासागरीय क्षेत्र में ब्रिटिश साम्राज्य
 - 1.4.4.2 ईस्ट इंडिया कंपनी का ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार में योगदान
 - 1.4.4.3 अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार
 - 1.4.4.4 ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार की पराकाष्ठा
 - 1.4.4.5 ब्रिटिश संरक्षित राज्य
- 1.5 औपनिवेशिक शासन के सामान्य लक्षण
 - 1.5.1 दास-व्यापार एवं दास प्रथा
 - 1.5.2 यूरोपीय देशों के औपनिवेशिक साम्राज्यों की स्थापना से यूरोप में पूंजीवाद, वाणिज्यवाद के उदय और परवर्ती काल में औद्योगिक क्रान्ति के लिए अनुकूल परिस्थितियां
 - 1.5.3 यूरोप में कला का विकास
 - 1.5.4 यूरोपीय देशों के मध्य पारस्परिक स्पर्धा में वृद्धि
 - 1.5.5 वाणिज्यवाद को बढ़ावा
- 1.6 ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की नीतियां
 - 1.6.1 ब्रिटेन द्वारा गुलाम देशों में अपनाई गयी अन्यायपूर्ण नीतियों को न्याय संगत ठहराने का प्रयास
 - 1.6.2 अधीनस्थ राज्यों के लिए ब्रिटिश शासन को कल्याणकारी सिद्ध करने का प्रयास
 - 1.6.3 अधीनस्थ राज्यों में राजनीतिक तथा संवैधानिक सुधार करने के खोखले आश्वासन
 - 1.6.4 व्यपगत का सिद्धांत
 - 1.6.5 कुशासन के बहाने अवध का विलय
 - 1.6.6 1857 के विद्रोह के दमन के बाद महारानी का घोषणापत्र
 - 1.6.7 दुकानदारों का देश ब्रिटेन

- 1.6.8 ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार के लिए भारतीय शासकों से युद्ध
- 1.6.9 भारतीय रियासतों के साथ ब्रिटिश भारत के सम्बन्ध
- 1.6.10 कर्नल यंग हसबैंड का तिब्बत अभियान
- 1.6.11 आंग्ल-अफगान युद्ध
- 1.6.12 आंग्ल-बर्मा युद्ध
- 1.6.13 आंग्ल-गोरखा सम्बन्ध
- 1.6.14 औपनिवेशिक इतिहास लेखन
- 1.6.15 विजित जाति का दमन
- 1.7 सारांश
- 1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 1.9 पारिभाषिक शब्दावली
- 1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

1.1 प्रस्तावना

भौगोलिक खोजों से यूरोपीय देशों को अफ्रीका, एशिया तथा अमेरिका में सैनिक दृष्टि से कमजोर किन्तु प्राकृतिक संसाधनों में समृद्ध क्षेत्रों पर अपना अधिकार करने का अवसर मिला. यूरोपीय राज्यों के साम्राज्य-विस्तार ने उनके संसाधनों में अपार वृद्धि की. उपनिवेशों से अपार धन-सम्पदा आ जाने से यूरोपीय जन-जीवन स्तर में सुधार आया तथा कला का सर्वतोमुखी विकास हुआ. यूरोपीय सन्दर्भ में उपनिवेशवाद ने विभिन्न राष्ट्रों में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा दिया. यूरोप में वाणिज्यिक क्रान्ति ने उपनिवेशवाद को बढ़ावा दिया. यह सिद्धान्त कि - उपनिवेश का अस्तित्व शासक राज्य के लाभ के लिए है' उपनिवेशों के दोहन का मूल मन्त्र बन गया.

सोलहवीं शताब्दी तक समुद्री मार्ग द्वारा दुनिया के एक बड़े भाग की खोज कर ली गई थी. पुनर्जागरण के दौरान वैज्ञानिक व तकनीकी प्रगति के परिणाम स्वरूप यूरोपीय देशों ने न केवल नौ-चालन के क्षेत्र में बहुत प्रगति कर ली थी अपितु अस्त्र-शस्त्र के क्षेत्र में भी समान रूप से प्रगति कर ली थी. इन अनुकूल परिस्थितियों में अनेक यूरोपीय देशों में 'ग्रीड ऑफ़ गोल्ड एण्ड लस्ट फॉर ग्लोरी' की भावना के वशीभूत होकर औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना की महत्वाकांक्षा उत्पन्न हुई. अपने देश में उत्पादित माल की बिक्री के लिए नए बाजारों की तलाश और अपने यहां तैयार उत्पादों के लिए आवश्यक कच्चे माल की सस्ते में और नियमित एवं निर्बाध आपूर्ति की समस्या, इन दोनों का ही समाधान अधिक से अधिक और बड़े से बड़े उपनिवेशों की स्थापना में मिल सकता था.

साम्राज्य-विस्तार की होड़ में स्पेन, इंग्लैंड पिछड़ गया था किन्तु . सोने-चांदी की लालसा, व्यापारिक लाभ, गर्म मसालों, तम्बाकू और चीनी आदि के लिए इंग्लैंड ने 17 वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही अपने साम्राज्य-विस्तार के प्रयास तेज कर दिए. अमेरिका में जेम्सटाउन, वर्जीनिया, मैरीलैंड, रोड, कैरोलिना प्रान्त की स्थापना हुई. फ़ोर्ट एम्सटर्डम के समर्पण के बाद अंग्रेजों ने डच उपनिवेश न्यू नीदरलैंड पर अधिकार कर लिया और इसका नाम न्यूयॉर्क रखा. विलियम पेन ने पेन्सिलवेनिया की स्थापना की. कैरीबियन द्वीपों में – सेंट किट्स, बारबडोस, नेविस तथा जमैका

पर ब्रिटिश आधिपत्य हो गया. 1670 तक परवर्ती डोमिनियन ऑफ़ कनाडा के अधिकांश भू-भाग पर भी ब्रिटिश अधिकार हो गया.

18 वीं शताब्दी में इंग्लैंड विश्व की सबसे बड़ी औपनिवेशिक शक्ति बन गया. अमेरिका की स्वतंत्रता के बाद ब्रिटेन का ध्यान एशिया तथा प्रशांत-महासागरीय क्षेत्र में साम्राज्य-विस्तार की ओर केन्द्रित हो गया. अब तक इंग्लैंड में औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी और अब वह मुक्त-व्यापार के नाम पर अपने उपनिवेशों को कच्चा माल उपलब्ध कराने की मंडी तथा अपने तैयार माल को खरीदने का बाज़ार बनाने के लिए तत्पर था. जेम्स कुक ने ऑस्ट्रेलिया में 'जेम्स कुक ने ब्रिटेन के लिए न्यू साउथवेल्स उपनिवेश की स्थापना की. जेम्स कुक ने न्यूज़ीलैंड में भी ब्रिटिश उपनिवेश स्थापित किया.

एशिया में ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार में ईस्ट इंडिया कम्पनी का भी योगदान रहा. पनांग, लाबुआन तथा हांगकांग पर ब्रिटिश अधिग्रहण में उसकी भूमिका रही. अफ्रीका में केप कॉलोनी, मिस्र, रोडेशिया, जिम्बाबवे तथा युगांडा ब्रिटिश उपनिवेश बने. वैश्विक पुलिस की भूमिका निभाते हुए और शानदार पृथक्कीकरण की (पैक्स ब्रिटैनिका) नीति अपनाते हुए ब्रिटेन ने लाख वर्ग किलोमीटर की 60 करोड़ 2 तक अपने साम्राज्य में लगभग 1914 से 1815 इन पर उसका आधिपत्य तो नहीं था किन्तु उनकी आर्थिक तथा .ब्रिटेन के संरक्षित राज्य सभी महाद्वीपों में थे .वृद्धि की .विदेश नीतियां उसके नियंत्रण में होती थीं

ब्रिटेन के औपनिवेशिक शासन के इतिहास में दास-व्यापार तथा उनके श्रम का अमानुषिक दोहन मानवता पर एक बहुत बड़ा कलंक था. ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार से ब्रिटेन में अथाह संपत्ति आई और इस से पूंजीवादी व्यवस्था मजबूत हुई तथा वाणिज्यवाद को बढ़ावा मिला. इसने ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति की पृष्ठभूमि भी तैयार कर दी. ब्रिटेन सहित समस्त यूरोप में कला का सर्वतोमुखी विकास भी साम्राज्य-विस्तार की देन था. साम्राज्य-विस्तार की होड़ ने यूरोपीय देशों में प्रतिस्पर्धा को भी जन्म दिया. अंग्रेजों ने अपने दमनकारी औपनिवेशिक शासन को अपने गुलाम देशों की प्रजा के लिए कल्याणकारी सिद्ध करने का अनवरत प्रयास किया. परन्तु उनका शासन दमन और शोषण की पराकाष्ठा द्योतक था.

ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीतियों में लार्ड डलहौज़ी द्वारा लागू किया गया व्यपगत का सिद्धांत – 'समरथ को नहीं दोस गुसाईं' की उक्ति को चरितार्थ करता है. कुशासन के बहाने वफ़ादार और मददगार दोस्त अवध का हस्तगत किया जाना भी घोर अनैतिक था. 1858 के महारानी के घोषणापत्र के बाद से भारतीय रियासतों को जीवनदान अवश्य मिल गया किन्तु उनको ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति अपनी निष्ठा और स्वामिभक्ति का निरंतर ज्ञापन करना पड़ा. ब्रिटिश साम्राज्य में व्यापारिक लाभ तथा औद्योगिक हितों को सर्वोपरि रखा गया. ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार में व्यापारिक कम्पनियों की उल्लेखनीय भूमिका रही.

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार में प्लासी का युद्ध, बक्सर का युद्ध, मैसूर राज्य से युद्ध, गोरखों से युद्ध, मराठों से युद्ध और सिक्खों से युद्ध प्रमुख हैं. भारतीय शासकों के साथ लार्ड वेलेज़ली द्वारा लागू सहायक संधियों ने अंग्रेजों को भारत की प्रमुख शक्ति बनाने के साथ उन्हें क्षेत्रीय लाभ भी कराया था. लार्ड हेस्टिंग्स के काल में राजपूत शासकों के साथ हुई अधीनस्थ पृथक्कीकरण की संधियों ने अंग्रेजों को रणजीत सिंह के राज्य को छोड़कर शेष भारत की एकमात्र शक्ति बना दिया था और 1858 की महारानी की घोषणा से पूरा भारत ब्रिटिश ताज के अधीन हो गया था.

अंग्रेजों की यह नीति थी कि अपने साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिए वो अपने अधीनस्थ राज्यों के पड़ोसी राज्यों की विदेश नीतियों पर भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अपना नियंत्रण रखें। आंग्ल-गोरखा युद्ध हिमालयी पहाड़ी क्षेत्र तथा तराई के क्षेत्र पर ब्रिटिश नियंत्रण स्थापित करने के लिए हुआ था। 1816 की सगौली की संधि से अंग्रेजों को गढ़वाल और कुमाऊँ भी प्राप्त हुए और ब्रिटिश सेना को बहादुर गोरखा सेना भी प्राप्त हुए। 'रशो-फ़ोबिया' के कारण तीन अनावश्यक आंग्ल-अफ़गान युद्ध हुए जिनका परिणाम अंग्रेजों के लिए लाभकारी नहीं रहा। 1904 में कर्नल यंग हसबैंड का तिब्बत अभियान हिमालयी क्षेत्र पर ब्रिटिश नियंत्रण स्थापित करने का एक अनैतिक किन्तु सफल अभियान था।

तीन आंग्ल-बर्मा युद्धों के माध्यम से अंग्रेजों ने बर्मा को पूरी तरह से अपना अधीनस्थ राज्य बना लिया। विजित जाति का आर्थिक दोहन और राजनीतिक दमन ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सबसे बड़ा कलंक है। जाति-भेद रंग-भेद और धर्म-भेद तथा अपनी भाषा तथा अपनी संस्कृति को गुलाम देश के निवासियों पर थोपना इस प्रकार के शासन का अंग था।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य – ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार के विभिन्न आयामों से आपको परिचित कराना है। ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ, साम्राज्य-विस्तार हेतु युद्धों तथा कूटनीतिक चालों का उपयोग, अधीनस्थ राज्यों का अनवरत आर्थिक दोहन, राजनीतिक दमन तथा विजित जातियों की सभ्यता और संस्कृति के अंग्रेजीकरण के प्रयासों की आपको जानकारी देना भी इस इकाई का उद्देश्य है। इस इकाई का अध्ययन कर आप –

2. भौगोलिक खोजों वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास के पश्चात् यूरोपीय राज्यों की साम्राज्य स्थापित करने की महत्वाकांक्षा से अवगत हो सकेंगे।
3. ब्रिटेन के साम्राज्य-विस्तार के विभिन्न चरणों से अवगत हो सकेंगे।
4. साम्राज्य-विस्तार की दौड़ में ब्रिटेन द्वारा अपने यूरोपीय प्रतिस्पर्धियों को पछाड़ने की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
5. ब्रिटेन द्वारा अपने अधीनस्थ राज्यों के आर्थिक दोहन के विषय में विस्तार से जान सकेंगे।
6. अपने साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाए रखने में ब्रिटेन द्वारा अपनाई गयी कूटनीतिक चालों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
7. साम्राज्यवादी नीति के अंतर्गत ब्रिटेन द्वारा अपने अधीनस्थ राज्यों के साथ अपनाई गयी नीतियों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

1.3. यूरोपीय देशों का साम्राज्य-विस्तार

1.3.1 यूरोपीय देशों के साम्राज्य-विस्तार का पहला चरण

भौगोलिक खोजों से यूरोपीय देशों को अफ्रीका, एशिया तथा अमेरिका में सैनिक दृष्टि से कमजोर किन्तु प्राकृतिक संसाधनों में समृद्ध क्षेत्रों पर अपना अधिकार करने का अवसर मिला। इन क्षेत्रों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर यूरोपीय देशों ने अपने-अपने औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित किए। प्रारम्भ में पूर्वी गोलार्ध में पुर्तगाल और पश्चिमी गोलार्ध में स्पेन के औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित हुए किन्तु बाद में इस दौड़ में नीदरलैंड, फ्रांस तथा इंग्लैंड भी

शामिल हो गए. प्रारम्भिक औपनिवेशिक साम्राज्यों के काल को हम औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व तक का काल मान सकते हैं.

वास्तव में भौगोलिक खोजों, औपनिवेशिक साम्राज्यों की स्थापना तथा वाणिज्यिक क्रान्ति का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है. इन सबने मिलकर मनुष्य के संकुचित दृष्टिकोण को व्यापक बनाने में तथा विश्व इतिहास को मध्य युग से आगे बढ़ाकर आधुनिक युग में प्रविष्ट कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी.

1.3.2 साम्राज्यवादी शक्तियों की समृद्धि में अप्रत्याशित वृद्धि

भौगोलिक खोजों ने उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद को तो बढ़ावा दिया ही साथ ही साथ इनके परिणाम स्वरूप यूरोपीय राज्यों में जिस प्रकार अतुलित धन-सम्पदा आई, उसने वहां के शासकों के संसाधनों और शक्ति में अपार वृद्धि कर दी. साम्राज्य-विस्तार की होड़ भौगोलिक खोजों ने साम्राज्य-विस्तार की होड़ में यूरोपीय देशों के मध्य प्रतिस्पर्धा को बढ़ाया जिसकी परिणति अनेक बार भीषण युद्धों में हुई.

1.3.3 यूरोपीय देशों द्वारा औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित करने के लिए अनुकूल परिस्थितयां

पन्द्रहवीं शताब्दी में यूरोप में भौगोलिक खोजों का दौर चल पड़ा था और सोलहवीं शताब्दी तक समुद्री मार्ग द्वारा दुनिया के एक बड़े भाग की खोज कर ली गई थी. पुनर्जागरण के दौरान वैज्ञानिक व तकनीकी प्रगति के परिणाम स्वरूप यूरोपीय देशों ने न केवल नौ-चालन के क्षेत्र में बहुत प्रगति कर ली थी अपितु अस्त्र-शस्त्र के क्षेत्र में भी समान रूप से प्रगति कर ली थी. अब यूरोपीय शक्तियों के पास दुनिया के शेष सभी देशों की तुलना में अधिक मारक शक्ति के हथियार थे और आधुनिक अस्त्र-शस्त्र से सज्जित उनकी थल सेनाएं व नौ-सेनाएं भी सबसे सुगठित व आधुनिक रणनीति में पारंगत थी. इन अनुकूल परिस्थितियों में अनेक यूरोपीय देशों में 'ग्रीड ऑफ़ गोल्ड एण्ड लस्ट फॉर ग्लोरी' की भावना के वशीभूत होकर औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना की महत्वाकांक्षा उत्पन्न हुई. इसके अतिरिक्त अपने-अपने विजित क्षेत्रों में अपने धर्म अर्थात् ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार की आकांक्षा ने भी यूरोपीय देशों को अपने-अपने औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित करने की प्रेरणा दी थी. अपने देश में उत्पादित माल की बिक्री के लिए नए बाजारों की तलाश और अपने यहां तैयार उत्पादों के लिए आवश्यक कच्चे माल की सस्ते में और नियमित एवं निर्बाध आपूर्ति की समस्या, इन दोनों का ही समाधान अधिक से अधिक और बड़े से बड़े उपनिवेशों की स्थापना में मिल सकता था.

1.4 ब्रिटिश औपनिवेशिक साम्राज्य

1.4.1 ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार का पहला चरण

औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित करने की दौड़ में इंग्लैंड स्पेन, पुर्तगाल तथा फ्रांस से पिछड़ गया था. एलिजाबेथ प्रथम के शासन काल में उसके वरद हस्त प्राप्त दो साहसिकों - जॉन हॉकिंस तथा फ्रांसिस ड्रेक ने अटलांटिक दास-व्यापार से अपार धन कमाया और अमेरिका में स्पेन के बंदरगाहों पर इस उद्देश्य से छापे भी मारे. इसी समय रिचर्ड हकल्युट तथा जॉन डी जैसे बुद्धिजीवियों ने इंग्लैंड के अपने औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित किए जाने की आवश्यकता पर बल दिया. स्टुअर्ट काल में सम्राट जेम्स प्रथम और विशेषकर, चार्ल्स द्वितीय के शासनकाल में साम्राज्य-विस्तार की गति ने जोर पकड़ लिया. 1583 में न्यू फ़ाउण्डलैण्ड में ब्रिटिश उपनिवेश स्थापित हुआ. प्रारम्भिक काल में व्यापारिक कम्पनियों तथा संयुक्त सार्वजनिक एवं निजी उपक्रमों ने ब्रिटिश उपनिवेशों की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई. इंग्लैंड की दृष्टि सोने-चाँदी की लालसा, व्यापारिक लाभ, गर्म मसालों, तम्बाकू और चीनी आदि के लिए अपना औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित करने पर थी.

1.4.2 17 वीं शताब्दी में ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार

1588 में स्पेनिश आर्मडा की सफलता से ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार का मार्ग प्रशस्त हो गया। 1604 में जेम्स प्रथम ने 'लन्दन की संधि' से स्पेन के साथ शांतिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिए और अब अन्य देशों के उपनिवेशों पर आक्रमण करने के स्थान पर खुद इंग्लैंड के अपने उपनिवेश स्थापित करने का अभियान प्रारंभ किया। लगभग सभी शुरूआती ब्रिटिश बस्तियां, ब्रिटिश ताज के स्थान पर किन्हीं विशिष्ट कम्पनियों और बड़े व्यवसायियों के व्यक्तिगत प्रयासों से स्थापित की गयी थीं।

अमेरिका में सर्वप्रथम कैप्टेन जॉन स्मिथ के नेतृत्व में जेम्सटाउन में 1607 में ब्रिटिश कॉलोनी स्थापित हुई। 1624 में वर्जीनिया पर ब्रिटिश ताज का आधिपत्य हो गया और फलस्वरूप कॉलोनी ऑफ वर्जीनिया की स्थापना हुई। 1634 में मैरीलैंड की तथा 1636 में रोड आइलैंड की स्थापना हुई। 1663 में कैरोलिना प्रान्त की स्थापना हुई। 1664 में फ़ोर्ट एम्सटर्डम के समर्पण के बाद अंग्रेजों ने डच उपनिवेश न्यू नीदरलैंड पर अधिकार कर लिया और इसका नाम न्यूयॉर्क रखा। 1681 में विलियम पेन ने पेन्सिलवेनिया की स्थापना की। इन अमेरिकन उपनिवेशों में कृषि-योग्य विशाल भू-क्षेत्र थे।

कैरीबियन द्वीपों – गुयाना, सेंट लूसिया तथा ग्रेनेडा में प्रारंभिक असफलताओं के बाद इंग्लैंड, सेंट किट्स (1624), बारबडोस (1627) तथा नेविस (1628) पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में सफल रहा। इन उपनिवेशों में दासों के श्रम का उपयोग कर चीनी के उत्पादन के लिए व्यापक स्तर पर गन्ने की खेती करना प्रारंभ किया। ब्रिटिश उपनिवेशों में केवल ब्रिटिश जहाजों के प्रवेश के निर्णय से उत्पन्न वैमनस्य का परिणाम एंग्लो-डच युद्ध हुए जिसमें कि अंग्रेजों को सफलता मिली। 1655 में इंग्लैंड ने स्पेन से जमैका छीनकर उस पर अपना अधिकार कर लिया और फिर उसने 1666 में बहामास पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। 1670 में रुपर्ट्सलैंड में हड्संस बे कंपनी को लोम (फ़र) के व्यापार का एकाधिकार दिया गया जो कि बाद में डोमिनियन ऑफ़ कनाडा का बड़ा भू-भाग बना।

1.4.3 18 वीं शताब्दी के प्रारंभ से लेकर 1815 तक ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार

18 वीं शताब्दी में एंग्लो-डच गठबंधन, फ्रांस तथा स्पेन पर भारी पड़ा और इंग्लैंड विश्व की सबसे बड़ी औपनिवेशिक शक्ति बन गया। 18 वीं शताब्दी में औपनिवेशिक साम्राज्य की होड़ में अब फ्रांस ही इंग्लैंड का एकमात्र प्रतिद्वंदी रह गया। भारत में हुए तीन कर्नाटक युद्धों ने 1763 तक भारत में फ्रांसीसी शक्ति की तुलना में ब्रिटिश शक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध कर दी थी और 1763 में हुई पेरिस की संधि के बाद अब भारत में अपना साम्राज्य विस्तृत करने में अंग्रेजों को किसी यूरोपियन शक्ति से मुकाबला नहीं करना था।

आयरलैंड व्यावहारिक दृष्टि से 17 वीं शताब्दी से ही इंग्लैंड का उपनिवेश रहा था किन्तु औपचारिक दृष्टि से 1801 से 1922 तक यह यूनाइटेड किंगडम का एक अंग रहा। अमेरिका की स्वतंत्रता के बाद ब्रिटेन का ध्यान अब अपने एशिया, प्रशांत महासागरीय क्षेत्र और अफ्रीका में साम्राज्य-विस्तार की ओर केन्द्रित हो गया। अब औद्योगिक दृष्टि से सबसे उन्नत हो चुका देश, ब्रिटेन मुक्त-व्यापार का पक्षधर बन गया। 1770 में जेम्स कुक ने ऑस्ट्रेलिया के पूर्वी तट की खोज की और ब्रिटेन के लिए न्यू साउथवेल्स उपनिवेश की स्थापना की। जेम्स कुक ने न्यूजीलैंड में भी ब्रिटिश उपनिवेश स्थापित किया। 1815 में नेपोलियन की पराजय के बाद हुई शांति-संधियों के परिणामस्वरूप ब्रिटेन को आयोनियन द्वीप, माल्टा, मॉरिशस, सेंट लूसिया, टोबैगो, ट्रिनीडाड, गुयाना, केप कॉलोनी तथा सीलोन प्राप्त हुए और उसे गुआडेलूप, मार्तेनिक, फ्रेंच गुयाना, जावा और सूरीनाम अन्य यूरोपियन देशों को सौंपने पड़े।

1.4.4 ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार का अंतिम चरण (1815-1914)

1.4.4.1 प्रशांत महासागरीय क्षेत्र में ब्रिटिश साम्राज्य

1840 में न्यूजीलैंड पर ब्रिटिश अधिकार हो जाने के बाद फ़िजी, टोंगा, पौपुआ, न्यूगिनी और प्रशांत महासागर के अन्य द्वीपों पर भी ब्रिटिश आधिपत्य स्थापित हो गया।

1.4.4.2 ईस्ट इंडिया कंपनी का ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार में योगदान

एशिया में ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार में ईस्ट इंडिया कंपनी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। मिस्र से फ्रांसीसियों को निकालने (1799) में, नीदरलैंड से जावा को हस्तगत करने में सिंगापुर (1819), मलक्का (1824) बर्मा (1826), पनांग (1826) और लाबुआन (1846) पर अधिकार करने में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही थी। चीन से अफ्रीम के अवैध व्यापार, फिर अफ्रीम युद्ध का परिणाम, 1841 में अंग्रेजों द्वारा हांगकांग पर अधिकार के रूप में सामने आया था।

1.4.4.3 अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार

दक्षिण-अफ्रीका के डच उपनिवेश, केप कॉलोनी पर 1806 में ब्रिटेन का अधिकार हो गया। 1869 में सुएज कैनल के खुलने के बाद अंग्रेजों की अभिरुचि मिस्र में बहुत अधिक बढ़ गयी और उन्होंने उस पर 1882 में अधिकार कर लिया। 1890 के दशक में रोडेशिया पर भी ब्रिटिश आधिपत्य स्थापित हो गया। अफ्रीका में 1899 में सूडान पर ब्रिटिश अधिकार हो गया। नाइजीरिया, गोल्ड कोस्ट (घाना), ज़ाम्बिया, केन्या, ज़िम्बाबवे और युगांडा भी ब्रिटिश उपनिवेश बन गए।

1.4.4.4 ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार की पराकाष्ठा

वैश्विक पुलिस की भूमिका (पैक्स ब्रिटैनिका) निभाते हुए और शानदार पृथक्कीकरण की नीति अपनाते हुए ब्रिटेन ने 1815 से 1914 तक अपने साम्राज्य में लगभग 2 करोड़ 60 लाख वर्ग किलोमीटर की वृद्धि की। अब भाप के इंजन तथा टेलीग्राफ़ की मदद से साम्राज्य-विस्तार की प्रक्रिया और भी सुगम हो गयी। ब्रिटिश साम्राज्य में यूनाइटेड किंगडम तथा उसके पूर्ववर्ती राज्यों द्वारा प्रशासित स्वतंत्र उपनिवेश, उपनिवेश, संरक्षित राज्य, जनादेश-राज्य तथा अन्य क्षेत्र सम्मिलित थे। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के अंत तक दुनिया की कुल 23% आबादी (लगभग 41.2 करोड़) पर और इसके कुल भू-क्षेत्र के 24% (लगभग 3.55 करोड़ वर्ग किलोमीटर) भू-भाग पर इसका प्रभुत्व था। 'ब्रिटिश साम्राज्य में कभी सूर्यास्त नहीं होता' यह गर्वोक्ति, ब्रिटिश साम्राज्य की विशालता और उसकी व्यापकता को भली-भांति प्रदर्शित करती है।

1.4.4.5 ब्रिटिश संरक्षित राज्य

इन राज्यों को ब्रिटेन ने सीधे अपने आधिपत्य में नहीं लिया था किन्तु इनके आर्थिक एवं अंतर्राष्ट्रीय विषयों पर उसका नियंत्रण था। ऐसी व्यवस्था, ज़रूरतमंद स्थानीय शासकों की आर्थिक अथवा सैनिक सहायता के बदले में की जाती थी। ब्रिटेन के ये संरक्षित राज्य सभी महाद्वीपों में विद्यमान थे। अमेरिका में - मासक्विटो कोस्ट, एशिया में - नाभा, पटियाला, सिक्किम, सारावाक राज्य, यूरोप में - साइप्रस, अफ्रीका में - बरोत्सेलैंड, वासुतोलैंड, ईस्ट अफ्रीका, उत्तरी नाइजीरिया, गाम्बिया, केन्या, उत्तरी गोल्ड कोस्ट, न्यासालैंड, स्वैज़ीलैंड, युगांडा, जंजीबार सल्तनत, सीरिया लीओन, दक्षिणी नाइजीरिया, ओशोनिया में - पापुआ, सॉलोमन आइलैंड, कुक आइलैंड, गिल्बर्ट तथा एलिस

आइलैंड आदि सम्मिलित थे. इनके अतिरिक्त अफगानिस्तान, भूटान, नेपाल मलय राज्य-संघ, मालद्वीव, ब्रूनेई, मस्कट, कुवैत, बहरैन क्रतार आदि पर भी एक अवधि तक अंग्रेजों का अप्रत्यक्ष नियंत्रण रहा था.

1.5 औपनिवेशिक शासन के सामान्य लक्षण

1.5.1 दास-व्यापार एवं दास प्रथा

यूरोप के अधिकांश शक्तिशाली देश - पुर्तगाल, स्पेन, नीदरलैण्ड, फ्रांस, ब्रिटेन आदि दास-व्यापार में लिप्त थे. नए उपनिवेशों को बसाने में तथा खेती सहित कठिन श्रम के सभी कार्यों के लिए न्यूनतम मजदूरी पर कार्य करने वाले दासों से अधिक उपयोगी और कोई नहीं हो सकता था. 16 वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में फ्रांसिस ड्रेक तथा जॉन हार्किंस ने दास-व्यापार द्वारा इंग्लैण्ड के लिए प्रचुर मात्रा में धन कमाया था. अफ्रीका से लाकर लाखों दासों का अमेरिका में निर्यात करने के कारण इंग्लैण्ड के शहर ब्रिस्टल व लिवरपूल अत्यन्त समृद्ध हो गए थे. 1776 तक अमेरिका के 13 उपनिवेशों में में लगभग 6 लाख दास आयात किए गए थे. अश्वेत दासों के साथ उनके मालिकों द्वारा जो अमानवीय व्यवहार किया जाता था उसका शब्दों में वर्णन कर पाना असम्भव है.

1.5.2 यूरोपीय देशों के औपनिवेशिक साम्राज्यों की स्थापना से यूरोप में पूंजीवाद, वाणिज्यवाद के उदय और परवर्ती काल में औद्योगिक क्रान्ति के लिए अनुकूल परिस्थितियां

औपनिवेशिक साम्राज्यों की स्थापना के कारण यूरोपीय देशों में अथाह समृद्धि आई और व्यापार-संतुलन सदैव उनके पक्ष में रहने के कारण उनकी व्यापारिक गतिविधियां अपने शिखर पर पहुंच गईं. अतुलित धन-सम्पदा ने पूंजीवाद के विकास में सहयोग किया और राष्ट्रीय जीवन में व्यापार की महत्ता बढ़ने के कारण स्वाभाविक रूप से वाणिज्यवाद को भी बढ़ावा मिला. अब यूरोपीय देशों को अपना तैयार माल बेचने के लिए बाज़ार खोजने की ज़रूरत नहीं थी (क्योंकि वो अपने उपनिवेशों में ही अपना सारा माल खपा सकते थे) और न ही अपने यहां अनुपलब्ध कच्चा माल खोजने के लिए उन्हें अपने उपनिवेशों के अतिरिक्त किसी पर निर्भर रहना था. धन-सम्पदा के आधिक्य ने अधिक उन्नत औद्योगिक उपकरणों के आविष्कार के लिए अनुकूल वातावरण विकसित कर दिया था. इन अनुकूल परिस्थितियों में 18 वीं शताब्दी के अन्त में यूरोप में, विशेषकर सबसे बड़े औपनिवेशिक साम्राज्य के स्वामी इंग्लैण्ड में, औद्योगिक क्रान्ति होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी.

1.5.3 यूरोप में कला का विकास

अतुलित धन-सम्पदा आ जाने से यूरोपीय देशों में कला की हर विधा के विकास के लिए पर्याप्त धन उपलब्ध होने लगा. औपनिवेशिक शासनकाल में यूरोपीय देशों में स्थापत्यकला, चित्रकला, मूर्तिकला का विकास हुआ, अनेक सुनियोजित सुन्दर नगरों का निर्माण हुआ. संगीत और साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में भी इस काल को यूरोपीय इतिहास का स्वर्ण युग कहा जा सकता है.

1.5.4 यूरोपीय देशों के मध्य पारस्परिक स्पर्धा में वृद्धि

औपनिवेशिक साम्राज्य विस्तार की होड़ ने यूरोपीय देशों के मध्य कटुता और पारस्परिक स्पर्धा को जन्म दिया जिसके कारण एशिया और अमेरिका में यूरोपीय देशों के मध्य अनेक युद्ध हुए. इन युद्धों में स्पेन, नीदरलैण्ड, इंग्लैण्ड, फ्रांस सभी सम्मिलित थे.

1.5.5 वाणिज्यवाद को बढ़ावा

अब यह विश्वास दृढ़ होता जा रहा था कि जो राष्ट्र जितना धनी होगा, वह उतना ही शक्तिशाली होगा. इस विचार के प्रतिपादकों में टॉमस मन तथा फिलिप वॉन हार्निक प्रमुख थे. अब व्यापार-सन्तुलन को स्थाई रूप से अपने पक्ष में रखने के लिए तैयार माल के निर्यात को और उपनिवेशों से कच्चे माल के आयात को बढ़ावा दिया जाने लगा.

1.6 ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की नीतियां

1.6.1 ब्रिटेन द्वारा गुलाम देशों में अपनाई गयी अन्यायपूर्ण नीतियों को न्याय संगत ठहराने का प्रयास

अंग्रेज जानते थे कि वो जो भी अपने गुलाम देशों, क्षेत्रों में कर रहे थे, वो नैतिक दृष्टि से अनुचित था किन्तु अपनी नीतियों को न्याय-संगत ठहराने के लिए उन्होंने दुनिया के सामने अपनी यह तस्वीर पेश की कि वो जो भी कर रहे हैं, वो अपनी गुलाम प्रजा के भले के लिए, उन्हें सभ्य बनाने के लिए कर रहे हैं. रुडयार्ड किपलिंग के शब्द - 'वाइट मेन्स बर्डन' का बहाना बनाकर अंग्रेजों ने अपने प्रत्येक कुकृत्य को उचित तथा समय की मांग के अनुरूप ठहराया. अंग्रेज इतिहासकारों ने जान-बूझकर यह दर्शाया कि अंग्रेजी शासन से पहले भारत अथवा अन्य गुलाम देशों के निवासी नितांत असभ्य थे, अशिक्षा, अपरिवर्तनशीलता, कुरीतियों और अन्धविश्वास से ग्रस्त थे, इन क्षेत्रों में लूटमार तथा अराजकता व्याप्त थी, शासकगण विलासी और निकम्मे थे, प्रजा अत्यंत त्रस्त और दुखी थी.

1.6.2 अधीनस्थ राज्यों के लिए ब्रिटिश शासन को कल्याणकारी सिद्ध करने का प्रयास

यह दावा किया जाता था कि अंग्रेजों ने अधीनस्थ देशों में अपना शासन स्थापित कर के वहां शांति-व्यवस्था स्थापित की, स्थानीय शासकों के अनाचार से प्रजा को मुक्ति दिलाई, प्रजा को निष्पक्ष न्याय-व्यवस्था दी, अपरिवर्तनशीलता से मुक्ति दिलाकर, अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के माध्यम से उन्हें प्रगति-पथ पर अग्रसर किया, नारी-उत्थान के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किए, यातायात के उन्नत साधन उपलब्ध कराए, नई-नई तकनीकों तथा आविष्कारों से उनको लाभान्वित किया, भारत तथा अन्य अधीनस्थ देशों को प्रशासनिक दृष्टि से एक सूत्र में बाँधा, उनको वाह्य-आक्रमणों के प्रकोप से मुक्ति दिलाई, वहां आधुनिक उद्योग एवं व्यापार का युग प्रारंभ किया और इस से भी बढ़कर, वहां की प्रजा को लोकतान्त्रिक व्यवस्था से परिचित करा कर उनमें राष्ट्रीय चेतना का संचार किया. विलियम जॉस, विल्किंस, कोलब्रुक, डब्लू. एच. विल्सन, मैक्स मुलर आदि प्राच्यवादियों ने प्राचीन भारतीय संस्कृति की महानता को स्वीकार करते हुए अपने अथक प्रयास से उसे विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया. उनका विश्वास था कि इसे शासक वर्ग तथा शासित वर्ग में सद्भाव तथा पारस्परिक विश्वास विकसित होगा.

1.6.3 अधीनस्थ राज्यों में राजनीतिक तथा संवैधानिक सुधार करने के खोखले आश्वासन

सर ए. ओ. ह्यूम की 'सेफ्टी-वाल्व थ्योरी' भारत में अंग्रेजों द्वारा राजनीतिक एवं प्रशासनिक सुधारों की असलियत को ज़ाहिर करती है. 1892 के इंडियन कौंसिल्स एक्ट को प्रस्तुत करते समय लार्ड क्रॉस ने यह स्पष्ट कर दिया था कि अंग्रेजों का भारत में लोकतान्त्रिक प्रणाली स्थापित करने का कोई इरादा नहीं है. लार्ड कर्जन ने तो इतना तक कह दिया था कि भारतीयों को लोकतान्त्रिक व्यवस्था कभी रास ही नहीं आ सकती.

प्रथम विश्व-युद्ध के समय ब्रिटेन ने यह दावा किया था कि वह लोकतान्त्रिक मूल्यों की रक्षार्थ युद्ध में भाग ले रहा है. भारतीयों ने तन-मन-धन से युद्ध में अंग्रेजों का साथ दिया. 1917 में मोंटेग्यू की घोषणा द्वारा भारतीयों को स्वशासन दिए जाने का आश्वासन भी दिया गया किन्तु युद्ध समाप्त होते ही कृतघ्न औपनिवेशिक शासकों ने भारत को स्वशासन देने के बदले में रौलट एक्ट और जलियाँवाला बाग का हत्याकांड दिया. लोकतंत्र और नागरिक अधिकार

की जन्मभूमि कहे जाने वाले ब्रिटेन ने अपनी गुलाम प्रजा को कभी लोकतंत्र और नागरिक अधिकारों के लायक नहीं समझा और इस विषय में उनके प्रत्येक आन्दोलन को क्रूरतापूर्वक कुचल दिया।

1.6.4 व्यपगत का सिद्धांत

लार्ड डलहौजी के शासनकाल (1848-1856) में लागू व्यपगत का सिद्धांत ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति और कूटनीति का सबसे अनैतिक तथा निंदनीय उदाहरण था। इस नीति के अंतर्गत जिन अधीनस्थ भारतीय शासकों के अपना कोई औरस पुत्र नहीं था, उन्हें गोद लेकर किसी बालक को अपना उत्तराधिकारी बनाने का अधिकार नहीं रहा। नागपुर, झाँसी, सतारा, जैतपुर, संभलपुर, आर्कोट, तोरे, उदयपुर (छत्तीसगढ़) को व्यपगत के सिद्धांत के अंतर्गत मिलाया गया।

1.6.5 कुशासन के बहाने अवध का विलय

1765 से अंग्रेजों के एक वफ़ादार और हर मुसीबत में मददगार दोस्त की भूमिका निभाने वाले अवध के राज्य के साथ अंग्रेजों ने अपनी साम्राज्यवादी लिप्सा के कारण भेड़िये और मेमने की अन्यायपूर्ण कहानी को फिर से दोहरा दिया। 1856 में अवध का ब्रिटिश साम्राज्य में विलय हो गया।

1.6.6 1857 के विद्रोह के दमन के बाद महारानी का घोषणापत्र

1857 के विद्रोह का दमन करने के बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन समाप्त कर दिया और महारानी विक्टोरिया के घोषणापत्र के द्वारा भारत को ब्रिटिश ताज के अधीन कर दिया गया।

1.6.7 दुकानदारों का देश ब्रिटेन

नेपोलियन इंग्लैंड को दुकानदारों का देश कहता था। ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार की गाथा व्यापार से ही प्रारंभ हुई थी। विभिन्न देशों में पहले ब्रिटेन ने व्यापारिक सुविधाएँ मांगी और इन सुविधाओं को मिल जाने के बाद वहाँ अपने व्यापारिक ठिकाने स्थापित किए। अपने व्यापारिक ठिकानों की रक्षार्थ उन्हें स्थानीय शासकों से सैनिक टुकड़ियाँ रखने की अनुमति भी मिल गयी। अपनी उन्नत नौ-सेना के बलबूते समुद्र के रास्ते से विभिन्न देशों का सामान पहले अपने देश में पहुँचाया और फिर वहाँ से उसे अधिक से अधिक लाभ लेकर दूसरे देशों को बेचा। भारत में अपने व्यापारिक ठिकानों पर आधुनिक हथियारों से सज्जित अपनी सैनिक टुकड़ियों को उन्होंने स्थानीय शासकों के आपसी युद्धों में आर्थिक, क्षेत्रीय तथा राजनीतिक लाभ के लिए भाड़े पर देना भी शुरू कर दिया। धीरे-धीरे उनका सैनिक तथा राजनीतिक महत्व बढ़ता ही चला गया और फिर वो 'किंग मेकर' बन गए। भारत में अपने सभी प्रतिद्वंद्वियों पर भारी पड़ने के बाद उन्होंने भारत की राजनीतिक अस्थिरता, आपसी फूट तथा सैनिक दुर्बलता का भरपूर लाभ उठाया। एक बात उल्लेखनीय है कि इस तथाकथित दुकानदारों के देश ने कहीं भी और कभी भी अपने आर्थिक हितों की उपेक्षा नहीं की और अपने अधीनस्थ सभी राज्यों का आर्थिक दोहन करना अपना अधिकार समझा।

18 वीं शताब्दी के प्रथमार्ध तक, जब तक कि ब्रिटिश उद्योग विकसित नहीं था, ब्रिटेन ने अपने उपनिवेशों से सस्ती कीमत पर तैयार माल तथा कच्चा माल प्राप्त किया और उसके विश्व-व्यापी व्यापार से अथाह धन कमाया। किन्तु 18 वीं शताब्दी उत्तरार्ध में जब इंग्लैंड में औद्योगिक क्रान्ति आ गयी तो फिर उपनिवेशों को ब्रिटिश कारखानों के लिए कच्चे माल की मंडी और ब्रिटिश उत्पाद का खरीदार बना दिया। इन अधीनस्थ राज्यों के पूर्व-स्थापित उद्योग को लगभग नष्ट कर दिया गया। भारत जैसे सोने की चिड़िया कहा जाने वाला देश, सारी दुनिया के निवासियों का तन ढकने वाला देश, लंकाशायर और मानचेस्टर के कपड़ों का मोहताज हो गया और दुनिया के सबसे दरिद्र देशों में गिना जाने लगा।

1.6.8 ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार के लिए भारतीय शासकों से युद्ध

भारतीय शासकों में बंगाल का नवाब सिराज-उद-दौला पहला प्रमुख शासक था जिसे अंग्रेजों ने 1757 में प्लासी के युद्ध में हराया था. वास्तव में यह युद्ध प्लासी के मैदान में कम और सिराज-उद-दौला के दरबार में षड्यंत्र के रूप में अधिक लड़ा गया था. बक्सर के युद्ध में विजय के उपरांत मुगल बादशाह से प्राप्त - 1765 की 'ग्रांट ऑफ़ दीवानी' तो अनैतिक राजनीति की पराकाष्ठा थी. 'बिना दायित्व के शक्ति' की अवधारणा का यह सबसे कुत्सित रूप थी.

हैदर अली और टीपू से अंग्रेजों के चार युद्ध हुए और 1799 में चतुर्थ आंग्ल-मैसूर युद्ध में विजय के उपरांत मैसूर के प्रतिरोध का दमन कर दिया गया. अंग्रेजों की संघटित मराठा शक्ति से युद्ध करने की क्षमता नहीं थी इसलिए उन्होंने बरोदा के गायकवाड़ को तो अपनी ओर मिला लिया और फिर पेशवा, भोंसले, सिधिया और होल्कर से अलग-अलग युद्ध कर उनको परास्त कर दिया. 1818 में मराठा राज्य-संघ का विघटन करके अंग्रेज भारत में सर्व-शक्तिमान बन गए. अपने स्थायी मित्र पंजाब के महाराजा रणजीत सिंह की मृत्यु के दस वर्ष के बाद ही दो सफल युद्धों के माध्यम से उन्होंने पंजाब को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया. सिंध का ब्रिटिश साम्राज्य में विलय तो केवल इसलिए किया गया कि सिंध का अत्यधिक सामरिक महत्व था. इस प्रकार भारत में ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार युद्धों के माध्यम से कम और षड्यंत्रों तथा कूटनीतिक चालों के माध्यम से अधिक हुआ.

1.6.9 भारतीय रियासतों के साथ ब्रिटिश भारत के सम्बन्ध

मुगल शासन के पराभव के बाद भारत में अंग्रेजों ने 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अपना साम्राज्य-विस्तार प्रारंभ कर दिया. लार्ड वेलेज़ली ने सैनिक दृष्टि से हीन भारतीय राज्यों के साथ सहायक संधियाँ कर व्यावहारिक दृष्टि से उनकी स्वतंत्रता का तथा उनकी सैनिक शक्ति का अपहरण कर लिया और उनके संसाधनों का ब्रिटिश हित के भरपूर उपयोग किया. तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध में पराजित होने के बाद अंग्रेजों के हाथों अपना लगभग आधा राज्य खो चुका मैसूर का टीपू सुल्तान, सहायक संधि पर हस्ताक्षर करने वाला पहला भारतीय शासक बना. हैदराबाद के निज़ाम, अवध के नवाब और पेशवा ने भी अंग्रेजों के साथ सहायक संधियाँ कीं. इन सहायक संधियों के केवल अंग्रेजों को लाभ था, भारतीय शासकों को नहीं. इसकी तुलना हम भेड़िये और मेमने के मध्य हुई किसी काल्पनिक संधि से कर सकते हैं.

लार्ड हेस्टिंग्स ने राजपूताना के शासकों के साथ 'अधीनस्थ पृथक्कीकरण' के अंतर्गत जो संधियाँ कीं वो सहायक संधियों का अगला महत्वकांक्षी चरण था. मराठा आतंक से भयभीत राजपूताना के इन राज्यों ने अपना अस्तित्व बचाने के लिए अपनी स्वतंत्रता को अंग्रेजों के हाथों स्वेच्छा से बंधक बना दिया था.

1858 के महारानी के घोषणा पत्र के बाद भारतीय शासकों को एक प्रकार का अभय-दान मिल गया था. अब अंग्रेजों के अधीनस्थ सहयोगी बनकर उन्हें अपना राज्य खोने का कोई भय नहीं था. ब्रिटिश रेज़िडेंट्स का भारतीय राजाओं के दरबार में यह दायित्व होता था कि वो ऐसी कोई भी गतिविधि न होने दें जो कि ब्रिटिश-भारतीय साम्राज्य के लिए हानिकारक हो सकती हो.

1.6.10 कर्नल यंग हसबैंड का तिब्बत अभियान

‘तिबेट फ्रंटियर कमीशन’ के अंतर्गत कर्नल यंग हसबैंड का तिब्बत अभियान दिसंबर, 1903 से लेकर सितम्बर, 1904 तक चला था. हिमालयी राज्यों में केवल तिब्बत ही ब्रिटिश प्रभाव से अछूता रह गया था. इस समय तिब्बत पर चीन के अत्यंत निर्बल कुइंग राज्यवंश का नियंत्रण था. अंग्रेज, हर कीमत पर पूर्व में रूसी प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार को रोकना चाहते थे. भारत का तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड कर्जन, रशो-फ़ोबिया (थल-मार्ग से ब्रिटिश-भारत पर रूसी आक्रमण का भय) से ग्रस्त था. कर्नल यंग हसबैंड का अभियान अगस्त, 1904 में तिब्बत की राजधानी ल्हासा पहुँच गया. तिब्बती सेना के प्रतिरोध को अपनी मशीन गनों के बल पर कुचलते हुए इस ब्रिटिश अभियान ने चीन की सरकार को ‘1904 की ल्हासा की संधि’ के माध्यम से यह वचन देने के लिए बाध्य किया कि वह किसी भी विदेशी शक्ति को तिब्बत के मामले में हस्तक्षेप नहीं करने देगी. इ

1.6.11 आंग्ल-अफगान युद्ध

ब्रिटिश भारत ने अफगानिस्तान में संभावित रूसी नियंत्रण तथा थल मार्ग से होते हुए ब्रिटिश-भारत पर रूसी आक्रमण के भय के कारण अफगानिस्तान से क्रमशः 1839-42, 1878-80 और 1919 में, तीन युद्ध किए थे. आंग्ल-अफगान सम्बन्ध, ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार की नीति का तथा उसकी कूटनीति का सबसे शर्मनाक अध्याय है. इन तीन युद्धों के माध्यम से अंग्रेजों ने हर बार अफगानिस्तान में अपना प्रभाव बढ़ाने का और वहां पर रूसी प्रभाव कम करने का प्रयास किया किन्तु उन्हें भयंकर सैनिक क्षति तथा आर्थिक क्षति के बावजूद अपने लक्ष्य में सफलता नहीं मिली. जहाँ एक ओर प्रथम आंग्ल-अफगान युद्ध में अंग्रेजों की सबसे बड़ी पराजय हुई, वहां तृतीय आंग्ल-अफगान युद्ध के पश्चात उन्हें अफगान स्वतंत्रता को मान्यता देनी पड़ी और अफगान-रूसी मित्रता को भी स्वीकार करना पड़ा.

1.6.12 आंग्ल-बर्मा युद्ध

ब्रिटिश भारत ने बर्मा के साथ क्रमशः 1824-26, 1852 तथा 1885 में, तीन युद्ध लड़े थे. इनका उद्देश्य जहाँ एक ओर ब्रिटिश-भारतीय साम्राज्य की पूर्वी सीमा को सुरक्षित बनाना था, वहां दूसरी ओर साम्राज्य-विस्तार भी था. प्रथम आंग्ल-बर्मा युद्ध में सफलता के पश्चात अंग्रेजों का आसाम, मणिपुर तथा अराकान पर अधिकार हो गया. लार्ड डलहौजी की साम्राज्य-विस्तार की नीति के अंतर्गत बिना किसी ठोस कारण के द्वितीय आंग्ल-बर्मा युद्ध हुआ जिसमें मिली सफलता से अंग्रेजों ने रंगून सहित, पेगू प्रान्त (तदन्तर लोअर बर्मा) पर अधिकार कर लिया. 1885 में तृतीय आंग्ल-बर्मा युद्ध का उद्देश्य, बर्मा में बढ़ते हुए फ्रांसीसी प्रभाव को रोकना बताया गया किन्तु इस युद्ध में मिली सफलता के बाद शेष बर्मा पर भी ब्रिटिश प्रभुत्व स्थापित हो गया.

1.6.13 आंग्ल-गोरखा सम्बन्ध

आंग्ल-गोरखा वैमनस्य का मुख्य कारण दोनों ही शक्तियों की साम्राज्य-विस्तार की नीतियां थीं. नेपाल दरबार में अपना प्रभाव स्थापित कर एक ओर जहाँ अंग्रेज वहां से उच्च कोटि की ऊन और प्रचुर मात्रा में लकड़ी प्राप्त करना चाहते थे वहां वो दूसरी ओर कुमाऊँ, गढ़वाल के पर्वतीय क्षेत्रों पर अपना अधिकार भी करना चाहते थे. इसके अतिरिक्त तिब्बत पर अपना नियंत्रण स्थापित करने के लिए उनका नेपाल पर अपना प्रभाव स्थापित करना भी आवश्यक था. नेपाल की साम्राज्य-विस्तार की महत्वाकांक्षा में कांगड़ा, तिब्बत और पहाड़ी दरों पर अधिकार करने तक पहुँच गयी थी. 1814-16 के आंग्ल-गोरखा युद्ध की पृष्ठभूमि में दोनों शक्तियों के मध्य इन्हीं हितों का टकराव था. गवर्नर-जनरल लार्ड हेस्टिंग्स ने अवध के नवाब से आर्थिक सहायता प्राप्त की. अंग्रेजी सेना ने गोरखों से नालापानी, जयथक, मलाऊ में युद्ध किए और उन्हें 1816 में सगौली की संधि करने के लिए विवश किया. अंग्रेजों की यह एक बड़ी सैनिक सफलता तो थी ही पर उस से भी बड़ी यह उनकी कूटनीतिक सफलता थी. ब्रिटिश भारत सरकार ने गोरखों

से कुमाऊँ और गढ़वाल के क्षेत्र प्राप्त किए. अब तराई के एक विशाल भू-भाग पर उनका अधिकार हो गया. अंग्रेजों ने गोरखों को ब्रिटिश सेना में प्रवेश दिया जिसके कारण उन्हें 1857 के विद्रोह को कुचलने में सफलता मिली. गोरखा-सैनिकों ने प्रथम विश्वयुद्ध तथा द्वितीय विश्व-युद्ध में अपने पराक्रम के कीर्तिमान स्थापित किए. आज भी गोरखा सैनिक ब्रिटिश सेना का अविभाज्य अंग हैं.

1.6.14 औपनिवेशिक इतिहास लेखन

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन अनवरत शोषण और दमन की गाथा है किन्तु पाश्चात्य देशों के इतिहासकारों ने इसका इतिहास इस प्रकार लिखा है जिस से यह प्रतीत होता है कि औपनिवेशिक शासकों ने ही इन परतंत्र राष्ट्रों में पहली बार सभ्यता के बीज बोए थे और स्थानीय निवासियों को सभ्यता का पहला पाठ पढ़ाया था. रुडयार्ड किपलिंग की अवधारणा - 'वाइट मैन्स बर्डन' इस मानसिकता का प्रतिनिधित्व करती है.

1.6.15 विजित जाति का दमन

उपनिवेशवाद का अर्थ है - किसी सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली राष्ट्र द्वारा अपने विभिन्न हितों को साधने के लिए किसी सैनिक दृष्टि से निर्बल किन्तु प्राकृतिक संसाधनों से परिपूर्ण राष्ट्र पर अपनी शक्ति के बल पर अधिकार कर उसके संसाधनों का अपने हित में उपयोग करना. उपनिवेशवाद में उपनिवेश की जनता एक विदेशी राष्ट्र द्वारा शासित होती है और उसे शासन में न तो पूरे राजनीतिक अधिकार प्राप्त होते हैं और न ही पूरे आर्थिक अधिकार.

औपनिवेशिक शासन – इसमें अनवरत दमन, दोहन, शोषण, जातिभेद, रंगभेद और धर्मभेद की निर्मम गाथा है. उपनिवेशवाद के निहितार्थों में उपनिवेश के प्राकृतिक संसाधनों का दोहन, उपनिवेशों के लिए अपने उत्पादों के लिए नए बाजारों का निर्माण, और उपनिवेश (अधीनस्थ देश) में अपने धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व शैक्षिक मूल्यों का विस्तार करना सम्मिलित है.

1.7 सारांश

भौगोलिक खोजों से यूरोपीय देशों को अफ्रीका, एशिया तथा अमेरिका में सैनिक दृष्टि से कमजोर किन्तु प्राकृतिक संसाधनों में समृद्ध क्षेत्रों पर अपना अधिकार करने का अवसर मिला. अपने-अपने उपनिवेशों का विभिन्न शासक राज्यों ने जिस प्रकार बहु-आयामी दोहन किया वह नैतिक दृष्टि से निन्दनीय है.

यूरोपीय राज्यों के साम्राज्य-विस्तार ने उनके संसाधनों में अपार वृद्धि की. उपनिवेशों से अपार धन-सम्पदा आ जाने से यूरोपीय जन-जीवन स्तर में सुधार आया तथा कला का सर्वतोमुखी विकास हुआ. यूरोपीय सन्दर्भ में उपनिवेशवाद ने विभिन्न राष्ट्रों में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा दिया. यूरोप में वाणिज्यिक क्रान्ति ने उपनिवेशवाद को बढ़ावा दिया. यह सिद्धान्त कि - उपनिवेश का अस्तित्व शासक राज्य के लाभ के लिए है' उपनिवेशों के दोहन का मूल मन्त्र बन गया.

सोलहवीं शताब्दी तक समुद्री मार्ग द्वारा दुनिया के एक बड़े भाग की खोज कर ली गई थी. पुनर्जागरण के दौरान वैज्ञानिक व तकनीकी प्रगति के परिणाम स्वरूप यूरोपीय देशों ने न केवल नौ-चालन के क्षेत्र में बहुत प्रगति कर ली थी अपितु अस्त्र-शस्त्र के क्षेत्र में भी समान रूप से प्रगति कर ली थी. इन अनुकूल परिस्थितियों में अनेक यूरोपीय देशों में 'ग्रीड ऑफ गोल्ड एण्ड लस्ट फॉर ग्लोरी' (धन का लोभ और यश की लालसा) की भावना के वशीभूत होकर औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना की महत्वाकांक्षा उत्पन्न हुई. अपने देश में उत्पादित माल की बिक्री के लिए नए बाजारों की तलाश और अपने यहां तैयार उत्पादों के लिए आवश्यक कच्चे माल की सस्ते में और नियमित एवं

निर्बाध आपूर्ति की समस्या, इन दोनों का ही समाधान अधिक से अधिक और बड़े से बड़े उपनिवेशों की स्थापना में मिल सकता था।

साम्राज्य-विस्तार की होड़ में स्पेन, साम्राज्य-विस्तार की होड़ में पुर्तगाल, स्पेन, नीदरलैंड और फ्रांस की तुलना में इंग्लैंड पीछे रह गया था। 1583 में न्यू फाउंडलैंड में ब्रिटिश उपनिवेश स्थापित हुआ। सोने-चांदी की लालसा ने सोने-चांदी की लालसा, आ.हुआ. सोने-चांदी की लालसा, सोने-चांदी की लालसा, व्यापारिक लाभ, गर्म मसालों, तम्बाकू और चीनी आदि के लिए इंग्लैंड ने 17 वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही अपने साम्राज्य-विस्तार के प्रयास तेज कर दिए। अमेरिका में जेम्सटाउन, वर्जीनिया, मैरीलैंड, रोड, कैरोलिना प्रान्त की स्थापना हुई। फ़ोर्ट एम्सटर्डम के समर्पण के बाद अंग्रेजों ने डच उपनिवेश न्यू नीदरलैंड पर अधिकार कर लिया और इसका नाम न्यूयॉर्क रखा। विलियम पेन ने पेन्सिलवेनिया की स्थापना की।

कैरीबियन द्वीपों में – सेंट क्रिट्स, बारबडोस, नेविस तथा जमैका पर ब्रिटिश आधिपत्य हो गया। 1670 तक परवर्ती डोमिनियन ऑफ़ कनाडा के अधिकांश भू-भाग पर भी ब्रिटिश अधिकार हो गया। 18 वीं शताब्दी में इंग्लैंड विश्व की सबसे बड़ी औपनिवेशिक शक्ति बन गया। अमेरिका की स्वतंत्रता के बाद ब्रिटेन का ध्यान एशिया तथा प्रशांत-महासागरीय क्षेत्र में साम्राज्य-विस्तार की ओर केन्द्रित हो गया। अब तक इंग्लैंड में औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी और अब वह मुक्त-व्यापार के नाम पर अपने उपनिवेशों को कच्चा माल उपलब्ध कराने की मंडी तथा अपने तैयार माल को खरीदने का बाज़ार बनाने के लिए तत्पर था। जेम्स कुक ने ऑस्ट्रेलिया में 'जेम्स कुक ने ब्रिटेन के लिए न्यू साउथवेल्स उपनिवेश की स्थापना की। जेम्स कुक ने न्यूजीलैंड में भी ब्रिटिश उपनिवेश स्थापित किया। एशिया में ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार में ईस्ट इंडिया कम्पनी का भी योगदान रहा। पनांग, लाबुआन तथा हांगकांग पर ब्रिटिश अधिग्रहण में उसकी भूमिका रही। अफ्रीका में केप कॉलोनी, मिस्र, रोडेशिया, जिम्बाबवे तथा युगांडा ब्रिटिश उपनिवेश बने।

वैश्विक पुलिस की भूमिका (पैक्स ब्रिटैनिका) निभाते हुए और शानदार पृथक्कीकरण की नीति अपनाते हुए ब्रिटेन ने 1815 से 1914 तक अपने साम्राज्य में लगभग 2 करोड़ 60 लाख वर्ग किलोमीटर की वृद्धि की। ब्रिटेन के संरक्षित राज्य सभी महाद्वीपों में थे। इन पर उसका आधिपत्य तो नहीं था किन्तु उनकी आर्थिक तथा विदेश नीतियां उसके नियंत्रण में होती थीं। ब्रिटेन के औपनिवेशिक शासन के इतिहास में दास-व्यापार एक बहुत बड़ा कलंक था। दासों को बेचना, खरीदना और उन से पालतू जानवरों से भी बुरा व्यवहार करते हुए उनके श्रम का शोषण करना नितांत अमानवीय था। ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार से ब्रिटेन में अथाह संपत्ति आई और इस से पूंजीवादी व्यवस्था मजबूत हुई तथा वाणिज्यवाद को बढ़ावा मिला। इसने ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति की पृष्ठभूमि भी तैयार कर दी। ब्रिटेन सहित समस्त यूरोप में कला का सर्वतोमुखी विकास भी साम्राज्य-विस्तार की देन था। साम्राज्य-विस्तार की होड़ ने यूरोपीय देशों में प्रतिस्पर्धा को भी जन्म दिया।

अंग्रेजों ने अपने दमनकारी औपनिवेशिक शासन को अपने गुलाम देशों की प्रजा के लिए कल्याणकारी सिद्ध करने का अनवरत प्रयास किया। परन्तु उनका शासन दमन और शोषण की पराकाष्ठा द्योतक था। ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीतियों में लार्ड डलहौज़ी द्वारा लागू किया गया व्यपगत का सिद्धांत – 'समरथ को नहीं दोस गुसाई' की उक्ति को चरितार्थ करता है। कुशासन के बहाने वफ़ादार और मददगार दोस्त अवध का हस्तगत किया जाना भी घोर अनैतिक था। 1858 के महारानी के घोषणापत्र के बाद से भारतीय रियासतों को जीवनदान अवश्य मिल गया किन्तु उनको ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति अपनी निष्ठा और स्वामिभक्ति का निरंतर ज्ञापन करना पड़ा। ब्रिटिश साम्राज्य में व्यापारिक

लाभ तथा औद्योगिक हितों को सर्वोपरि रखा गया. ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार में व्यापारिक कम्पनियों की उल्लेखनीय भूमिका रही.

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार में प्लासी का युद्ध, बक्सर का युद्ध, मैसूर राज्य से युद्ध, गोरखों से युद्ध, मराठों से युद्ध और सिकखों से युद्ध प्रमुख हैं. भारतीय शासकों के साथ लार्ड वेलेज़ली द्वारा लागू सहायक संधियों ने अंग्रेजों को भारत की प्रमुख शक्ति बनाने के साथ उन्हें क्षेत्रीय लाभ भी कराया था. लार्ड हेस्टिंग्स के काल में राजपूत शासकों के साथ हुई अधीनस्थ पृथक्कीकरण की संधियों ने अंग्रेजों को रणजीत सिंह के राज्य को छोड़कर शेष भारत की एकमात्र शक्ति बना दिया था और 1858 की महारानी की घोषणा से पूरा भारत ब्रिटिश ताज के अधीन हो गया था. अंग्रेजों की यह नीति थी कि अपने साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिए वो अपने अधीनस्थ राज्यों के पड़ोसी राज्यों की विदेश नीतियों पर भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अपना नियंत्रण रखें.

आंग्ल-गोरखा युद्ध हिमालयी पहाड़ी क्षेत्र तथा तराई के क्षेत्र पर ब्रिटिश नियंत्रण स्थापित करने के लिए हुआ था. 1816 की सगौली की संधि से अंग्रेजों को गढ़वाल और कुमाऊँ भी प्राप्त हुए और ब्रिटिश सेना को बहादुर गोरखा सेना भी प्राप्त हुए. इस विषय में 'रशो-फ़ोबिया' (थल मार्ग से अफगानिस्तान होते हुए भारत पर रूसी आक्रमण का भय) के कारण तीन अनावश्यक आंग्ल-अफ़गान युद्ध हुए जिनका परिणाम अंग्रेजों के लिए लाभकारी नहीं रहा. 1904 में कर्नल यंग हसबैंड का तिब्बत अभियान हिमालयी क्षेत्र पर ब्रिटिश नियंत्रण स्थापित करने का एक अनैतिक किन्तु सफल अभियान था. तीन आंग्ल-बर्मा युद्धों के माध्यम से अंग्रेजों ने बर्मा को पूरी तरह से अपना अधीनस्थ राज्य बना लिया. विजित जाति का आर्थिक दोहन और राजनीतिक दमन ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सबसे बड़ा कलंक है. जाति-भेद रंग-भेद और धर्म-भेद तथा अपनी भाषा तथा अपनी संस्कृति को गुलाम देश के निवासियों पर थोपना इस प्रकार के शासन का अंग था.

अभ्यास प्रश्न

निम्नांकित पर चर्चा कीजिए

1. अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार
2. लार्ड वेलेज़ली की सहायक संधियाँ
3. 'रशो-फ़ोबिया' के परिप्रेक्ष्य में आंग्ल-अफ़गान युद्ध

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 1.4.4.3 अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार
2. देखिए 1.6.9 भारतीय रियासतों के साथ ब्रिटिश भारत के सम्बन्ध
3. देखिए 1.6.11 आंग्ल-अफ़गान युद्ध

1.9 पारिभाषिक शब्दावली

ग्रांट ऑफ़ दीवानी – मुगल बादशाह शाह आलम द्वारा ईस्ट ऑफ़ इंडिया कंपनी को बंगाल बिहार तथा उड़ीसा का

दीवान बनाया जाना (इन प्रान्तों का राजस्व एकत्र करने का अधिकार प्रदान किया जाना)

'ग्रीड ऑफ़ गोल्ड एंड लस्ट फॉर ग्लोरी' - धन का लोभ और यश की लालसा

'वाइट मेन्स बर्डन' - श्वेत-वर्ण जाति का, समस्त मानव-जाति को सभ्य बनाने का दायित्व

'सेफ्टी-वाल्व थ्योरी' - भारतीयों को किंचित राजनीतिक, प्रशासनिक अधिकार देकर उनके असंतोष को शांत करना

'रशो-फ़ोबिया' – ब्रिटिश भारत पर थल मार्ग से, अफगानिस्तान होते हुए रूसी आक्रमण का भय

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

- मार्शल, पी. जे. तथा लो, एलेन – ‘दि ऑक्सफ़ोर्ड हिस्ट्री ऑफ़ दि ब्रिटिश एम्पायर: वॉल्यूम 2, दि एटीन्थ सेंचुरी’ ऑक्सफ़ोर्ड, 2011
- डफ़ी, माइकल – ‘वर्ड वाइड वॉर एंड ब्रिटिश एक्सपेंशन – 1793-1815’
- म्यूर, रैमजे – ‘दि करैक्टर ऑफ़ दि ब्रिटिश एम्पायर’ ऑक्सफ़ोर्ड, 1917
- म्यूर, रैमजे – ‘ब्रिटिश हिस्ट्री’ 1928, ऑक्सफ़ोर्ड
- म्यूर रैमजे – ‘दि एक्सपेंशन ऑफ़ यूरोप: दि कल्मिनेशन ऑफ़ मॉडर्न हिस्ट्री’ लन्दन, 2006
- नौरोजी, दादाभाई – ‘पावर्टी एंड दि अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया’ लन्दन, 1902
- केनी, निकोलस – ‘दि ओरिजिंस ऑफ़ एम्पायर: दि ऑक्सफ़ोर्ड हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश एम्पायर, वॉल्यूम 1, ऑक्सफ़ोर्ड, 2009
- लॉयड, ट्रेनर ओवेन – ‘दि ब्रिटिश एम्पायर 1558-1995, ऑक्सफ़ोर्ड, 2009
- थरूर, शशि – ‘एन एरा ऑफ़ डार्कनेस: दि ब्रिटिश एम्पायर इन इंडिया’, नई दिल्ली, 2016
- निबंधात्मक प्रश्न
- ब्रिटेन द्वारा विजित जातियों के आर्थिक शोषण तथा उनके प्रति दमनकारी नीतियों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए.

ऑंगल फ्रांसिसी प्रतिस्पर्धा—कर्नाटक युद्ध

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 ऑंगल फ्रांसिसी संघर्ष का कारण
 - 2.3.1 कर्नाटक एवं त्रिचना पल्ली
 - 2.3.2 कर्नाटक का प्रथम युद्ध (1746–48)
 - 2.3.3 कर्नाटक का द्वितीय युद्ध (1749,—54)
 - 2.3.4 युद्ध का घटनाक्रम
 - 2.3.5 कर्नाटक का तीसरा युद्ध (1756–1763)
- 2.4 फ्रांसिसियों की असफलता के कारण
 - 2.4.1 फ्रांस का यूरोप को अधिक महत्व देना
 - 2.4.2 दोनो देशों की प्रशासनिक भिन्नताएं
 - 2.4.3 दोनों कम्पनियों के गठन एवं प्रकृति में असमानता
 - 2.4.4 फ्रांसिसियों के पास उत्तम बस्तियों का अभाव
 - 2.4.5 अंग्रेजो का बंगाल पर अधिकार
 - 2.4.6 अंग्रेज एवं फ्रांसिसी अधिकारियों की योग्यता में अन्तर
 - 2.4.7 नौसेना की भूमिका
 - 2.4.8 डूप्ले की वापसी
- 2.5 डूप्ले का जीवनचरित एवं मूल्यांकन
- 2.6 बोध प्रश्न
- 2.7 सन्दर्भित ग्रन्थ

2.1 प्रस्तावना

भारत में यूरोप से व्यापार करने हेतु यूरोप की चार प्रमुख जातियां भारत आयीं। सर्वप्रथम भारत में पुर्तगालियों का आगमन हुआ और इन्होंने पूर्वी व्यापार पर एक शताब्दी तक नियन्त्रण करते हुये खूब धन कमाया। इसके बाद डचों का पूर्व में आगमन हुआ डचों ने पुर्तगालियों के व्यापारिक अधिकारी को समाप्त करते हुये गर्म गसलों के द्वीपों पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया। डचों के बाद अंग्रेजों ने पूर्वी व्यापार में सक्रियता से भाग लेना शुरू किया और शीघ्र ही पुर्तगालियों एवं डचों से व्यापारिक प्रतिस्पर्धा में बहुत आगे निकल गये। पूर्व के व्यापार में फ्रांसिसीयों का आगमन सबसे बाद में हुआ। भारतीय व्यापार की प्रतिद्वन्दिता एवं उपनिवेश स्थापना तथा राजनीतिक प्रमुखता के प्रश्न पर अंग्रेजो एवं फ्रांसिसीयों के मध्य संघर्ष हुआ। दोनो यूरोपीय शक्तियों का संघर्ष दक्षिण भारत के कर्नाटक में प्रारम्भ हुआ जिसमें अंग्रेजो ने फ्रांसिसीयों को परास्त करते हुए भारतीय व्यापार एवं राजनीति से बाहर कर दिया।

2.2 उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन का उद्देश्य निम्न है—

- 1— भारत में यूरोपीयों का व्यापारिक अगमन एवं उनके मध्य व्यापारिक प्रतिस्पर्धा एवं एकाधिकार प्राप्त कर अधिकाधिक मुनाफा कमाने की प्रवृत्ति ने एक दूसरे को कैसे समाप्त करने का प्रयास किया।
- 2— अंग्रेजो एवं फ्रांसिसीयो के मध्य संघर्ष के कारणों एवं यूरोप में इन दोनों देशों के मध्य पारिस्परिक संबन्धों का इनके क्रिया-कलापो एवं व्यवहारों में कितना प्रभाव पड़ता था।
- 3— दक्षिण भारत की राजनीतिक दशा का परीक्षण करना।
- 4— इस संघर्ष में फ्रांसिसीयों की असफलता के कारणों को समझने में असानी होगी।

2.3 आँग्ल फ्रांसिसी संघर्ष का कारण

आँग्ल फ्रांसिसीयों के मध्य संघर्ष का मूलतः निम्न कारण था।

- 1— व्यापारिक एकाधिकार की स्थापना का प्रयास —
भारत में आने वाले यूरोपीय कम्पनियों का प्रारम्भिक उद्देश्य व्यापार करके अधिकाधिक धन कमाना था। यह तभी सम्भव था जब किसी एक का व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त हो जाय और वह अन्य कम्पनियों को अपने मार्ग से हटा दे जिससे वह अपना माल न्यूनतम दाम पर खरीद सके और उसे अधिकतम भाव में बेचे। इसी व्यापारिक एकाधिकार प्राप्त करने की चेष्टा ने अंग्रेजो एवं फ्रांसिसीयों को एक दूसरे का शत्रु बना दिया।
- 2— 17वीं शताब्दी के अन्त तक पुर्तगालियों डचों एवं अंग्रेजों के मध्य होने वाला त्रिकोणीय व्यापारिक संघर्ष समाप्त हो गया था और अंग्रेजो को इसमें विजय प्राप्त हो गयी थी इस संघर्ष के बाद ही फ्रांस ने व्यापारिक एवं औपनिवेशिक क्षेत्र में पदार्पण किया जिससे फ्रांस एवं अंग्रेजो के मध्य प्रतिद्वन्दिता अवश्यम्भावी हो गयी।
- 3— 17वीं, 18वीं शताब्दी में अंग्रेज एवं फ्रांसिसी एक दूसरे के शाश्वत शत्रु थे। यूरोप में जब भी इन दोनों देशों के मध्य युद्ध छिड़ता, संसार के उस हर कोने में जहां दोनों देशों की कम्पनियाँ होती वे आपस में टकरा जाती थी। वाल्टेयर का कथन था कि “हमारे देश में चलने वाली पहली गोली अमेरिका और एशिया के सब तोप खानों में दिया सलाई दिखा देता है।
- 4— भारत की कमजोर केन्द्रीय सत्ता इस संघर्ष का एक प्रमुख कारण है। क्योंकि जब तक भारत पर मुगलों का शासन हठ एवं शक्तिशाली था तब तक में विदेशी व्यापारी नियन्त्रण में थे। मुगलों के पतन से भारत

की राजनीतिक स्थिरता नष्ट हो गयी फलतः इस अराजक स्थिति में विदेशी कम्पनियां बेलगाम हो गयीं और आपस में संघर्ष करने लगीं।

5— कर्नाटक की बिगड़ती राजनीतिक दिशा ने भी अंग्रेजों एवं फ्रांसिसियों का एक दूसरे से संघर्ष के लिये प्रेरित किया। अतः यहां कर्नाटक की राजनीतिक स्थिति को समझना आवश्यक है।

मुगलों के कमजोर होने की स्थिति में दक्षिण भारत में दो प्रमुख राजनीतिक शक्ति थे मराठे एवं हैदराबाद के निजाम। लेकिन इनके अलावा भी छोटे-छोटे हिन्दू राजाओं एवं मुस्लिम नवाबों का दक्षिण भारत में शासन था। दक्षिण की इन छोटी-बड़ी राजनीतिक शक्तियों के मध्य राजनीतिक द्वेष एवं आपसी संघर्ष ने दक्षिण भारत को युद्ध एवं षड्यन्त्र का मैदान बना दिया था। दक्षिण भारत का एक प्रमुख राजनीतिक शक्ति हैदराबाद राज्य था जिसकी स्थापना निजामुल मुल्क आसफ जाह ने की थी। आसफ जाह एक महत्वाकांक्षी एवं योग्य मुगल सरदार था मुगल सम्राट मुहम्मद शाह के समय में इसने दक्षिण में आकर हैदराबाद में अपने को स्वतंत्र बना लिया। तथा छोटे-छोटे दक्षिण के मुगल क्षेत्रों का स्वामी बन गया। 1748 में आसफ जाह की मृत्यु से हैदराबाद राज्य में उत्तराधिकार के प्रश्न पर आसफजाह के पुत्र नासिर जंग एवं पौत्र मुजफ्फरजंग के मध्य संघर्ष शुरू हो गया।

2.3.1 कर्नाटक एवं त्रिचना पल्ली

यद्यपि आसफ जाह दक्षिण के समस्त मुगल क्षेत्रों के स्वामी होने का दावा करता था तथापि कर्नाटक का नवाब दोस्त अली निजाम की अधीनता का दिखावा करते हुए कर्नाटक पर स्वतंत्रता पूर्वक शासन कर रहा था। कर्नाटक की राजधानी अर्काट थी। कर्नाटक में अधीन ही त्रिचना पल्ली का एक छोटा हिन्दू राज्य था जिसे दोस्त अली के दामाद चाँदा साहब ने हिन्दू रानी से विवाहोपरान्त प्राप्त कर लिया था। 1741 में दोस्त मुहम्मद की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सफदर अली कर्नाटक का नवाब बना किन्तु इसके चचेरे भाई मुर्तजा अली ने षड्यन्त्र कर सफदर अली की हत्या कर दी एवं स्वयं नवाब बन गया किन्तु अर्काट की जनता ने मुर्तजा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया जिससे मुर्तजा अली को भेष बदलकर भागना पड़ा। पुनः सफदर अली के अल्प वयस्क पुत्र मुहम्मद अली को नवाब बनाया गया। कर्नाटक के इस अशान्त माहौल का फायदा उठाते हुए निजाम ने कर्नाटक में हस्तक्षेप किया तथा वहां अपने समर्थक अनवरुद्दीन को मुहम्मद अली का संरक्षक बना दिया। अवसर देखकर अनवरुद्दीन ने मुहम्मद अली की हत्या कर दी तथा स्वयं नवाब बन बैठा। इन्हीं आन्तरिक एवं उत्तराधिकार के संघर्षों अंग्रेजों तथा फ्रांसिसियों के मध्य प्रथम कर्नाटक युद्ध छिड़ा।

2.3.2 कर्नाटक का प्रथम युद्ध (1746-48)

कर्नाटक के प्रथम युद्ध का कारण 1740ई0 में इंग्लैण्ड एवं फ्रांस के बीच यूरोप में आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर हुआ संघर्ष था। परिणामस्वरूप विश्व में जहां भी दोनों जातियां थी वही संघर्ष प्रारम्भ हो गया। शुरूआत अंग्रेजों की तरफ से हुई, अंग्रेज कप्तान वारनेट ने कुछ फ्रांसिसी जलपोत पकड़ लिये। पांडिचेरी का नवनिर्वाहक गर्वनर डूप्ले ने मारीशस के फ्रांसिसी गर्वनर ला-वूर्डोने से सहायता मांगी। ला वूर्डोने 3000 सैनिकों के साथ कोरो मण्डल तट की ओर चल पड़ा। रास्ते में उसने अंग्रेजी नौसेना को परास्त कर दिया फ्रांसिसियों ने जल एवं थल दोनों ओर से मद्रास को घेर लिया। डूप्ले ने कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन को मद्रास देने का प्रलोभन देकर अपनी ओर कर लिया 21 सितम्बर 1746 को मद्रास ने आत्म समर्पण कर दिया। यह स्मरण करने योग्य है कि इन युद्ध वन्दियों में क्लाइव भी एक था। इसी समय डूप्ले एवं लावूर्डोने के बीच मतभेद हो गया। लावूर्डोने एक अच्छी फिरौती के बदले मद्रास को लौटाना चाहता था जबकि डूप्ले मद्रास को फ्रांसिसियों के अधीन करना चाहता था। लावूर्डोने एक ऊँची कीमत पर मद्रास अंग्रेजों को बेच दिया। किन्तु डूप्ले ने इसको स्वीकार नहीं किया तथा पुनः मद्रास पर अधिकार कर लिया। परन्तु डूप्ले फोर्डसैंट डेविड जो पांडिचेरी से 18 मील दूर था को जीतने में असफल रहा। दूसरी ओर अंग्रेजी कमाण्डर वास्कोवे के नेतृत्व में अंग्रेजों ने पांडिचेरी

पर घेरा डाल दिया, किन्तु फ्रांसिसीयों ने बिना समुद्री सहायता के वास्को के इस प्रयास को विफल कर दिया। मद्रास को फ्रांसिसी संरक्षण में देखकर कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन ने पूर्व शर्त के अनुसार डूप्ले से मद्रास की मांग की किन्तु डूप्ले अपनी बात से मुकर गया जिससे कुछ क्षुब्ध होकर नवाब ने एक बड़ी सेना फ्रांसिसीयों के विरुद्ध भेजी। नवाब की इस भेजी सेना को डूप्ले ने 'सेंट टोमे' के युद्ध में पराजित कर दिया। कर्नाटक का यह पहला युद्ध 'सेंट टोमे' के युद्ध के लिये विशेष रूप से प्रसिद्ध है। सेंट टोमे या अड़यार का युद्ध पहला युद्ध है जो किसी भारतीय सेना एवं यूरोपीय सेना के बीच हुआ इस युद्ध में कैप्टन पैराडाइज के नेतृत्व में एक छोटी सी फ्रांसिसी सेना जिसमें 230 फ्रांसिसी तथा 700 भारतीय सैनिक थे, ने महफूज खां के नेतृत्व में 10000 भारतीय सेना को आसानी से पराजित कर दिया। इस युद्ध ने तोपखाने से सुसज्जित, अनुशासित यूरोपीय सेना का मुख्यतः घुसड़वार युक्त ढीली एवं असंगठित भारतीय सेना पर श्रेष्ठता साबित कर दिया इस युद्ध ने ही भारत में यूरोपीय राजनीतिक नियन्त्रण की नींव डाली क्योंकि युद्ध का परिणाम अप्रत्याशित एवं अचम्बित करने वाला था।

यूरोप में युद्ध बन्द होते ही कर्नाटक का यह प्रथम युद्ध समाप्त हो गया 'एक्स ला शापेल' 1748 की सन्धि के द्वारा दोनो शक्तियों के मध्य समझौता हो गया तथा परस्पर जीते हुये प्रदेश एक दूसरे को दे दिये गये। प्रो0 315 वेल के अनुसार **"1748ई0 की एम्स ला शायेल** की सन्धि भारत के इतिहास में एक नये युग का द्योतक है। इससे समुद्री शक्ति के प्रभाव का प्रदर्शन हुआ एवं भारतीय युद्ध पद्धति पर यूरोपीय युद्ध पद्धति की सफलता का प्रदर्शन हुआ। इससे यह स्पष्ट हो गया कि

भारतीय राज्यों के हृदय में कौन सा राजनैतिक विनाश धुन की भौंति अपना कार्य कर रहा है।"

कर्नाटक के प्रथम युद्ध एवं सन्धि डूप्ले के प्रयत्नों पर तुषारापात किया फ्रांसिसीयों को हुए सारे लाभ छिन गये किन्तु फिर भी भारत में फ्रांसिसीयो की घाक जम गयी। इस युद्ध से यूरोपीयों की तुलना में भारतीय सेना की दुर्बलता प्रकट हो गयी जिससे बाद में कर्नाटके के आन्तरिक संघर्षों में दोनो शक्तियों ने हस्तक्षेप की नीति का अनुसराण करना प्रारम्भ किया।

2.3.3 कर्नाटक का द्वितीय युद्ध (1749,-54)

कर्नाटक का द्वितीय युद्ध प्रथम युद्ध के समान दोनो शक्तियों में प्रत्यक्ष रूप से नहीं हुआ वरन भारतीयों के आपसी संघर्षों से लाभ उठाने के उपक्रम यें दोनों शक्तियों में अप्रत्यक्ष रूप से संघर्ष हुआ। इस समय दक्षिण भारत में मराठे एवं मुस्लिम नवाबों के मध्य श्रेष्ठता की जंग छिड़ी थी जिसमें हैदराबाद कर्नाटक की गद्दी के उत्तराधिकारी के प्रश्न ने इसे और उलझा दिया।

कर्नाटक के प्रथम युद्ध ने डूप्ले की राजनैतिक महत्वाकांक्षा को जगा दिया था जब उसने भारतीय झगड़ो के माध्यम से फ्रांसिसी प्रभाव जमाने की सूची। भालेसन ने इसे जो लिखा "महत्वाकाँक्षाएं जाग उठी परस्पर द्वेष बढ़ गये। जब बढ़ते हुए प्रभाव की आकाक्षाएं द्वार खट-खटा रही थी तो उन्हे (यूरोपीयों को) शान्ति से क्या लेना देना।"

इस समय कर्नाटक, हैदराबाद तथा तन्जौर तीनों राज्यों में उत्तराधिकार के लिये संघर्ष चल रहा था।

कर्नाटक में नवाब दोस्त अली के पौत्र मोहम्मद अली की हत्या कर अनवरुद्दीन नवाब के रूप में शासन कर रहा था किन्तु भूतपूर्व नवाब दोस्त अली का निकट सम्बन्धी चाँदा साहब जो त्रिचनापल्ली पर राज्य कर रहा था, कर्नाटक की गद्दी प्राप्त करना चाहता था परन्तु वह स्वयं इस समय मराठो का कैदी एवं सतारा में बन्दी था। चाँद साहब ने मुजफ्फर जंग (जो हैदराबाद गद्दी का दावेदार था) से एक दूसरे की सहायता का वचन लेते हुए डूप्ले से सहायता मांगी डूप्ले ने इसे अवसर के रूप में देखा और सहायता का वचन दे दिया। हैदराबाद राज्य की नींव डालने वाला चिनकिलिच खॉरिज जिसे निजामुल मुल्क की उपाधि प्राप्त थी की 21 मई 1748 को

मृत्यु हो गयी। नवाब का पुत्र नासिर जंग नवाब बन गया किन्तु इसके भतीजे अथवा भान्जे मुजफ्फर जंग ने इस दावे को चुनौती दी मुजफ्फरजंग ने मजबूती के लिये चॉद साहब से परस्पर सहायता का समझौता कर लिया।

तंजौर में गद्दी के लिये मराठों के मध्य संघर्ष चल रहा था जिसमें अंग्रेजों की सहायता से शाहजी गद्दी पर बैठने में सफलता पायी थी।

2.3.4 युद्ध का घटनाक्रम

चॉदा साहब के द्वारा सहायता मांगी जाने पर डूप्ले ने उसे सहायता देकर मराठों की कैद से मुक्त करवा लिया। अब डूप्ले, चॉद साहब एवं मुजफ्फर जंग की सम्मिलित सेना ने नवाब अनवरुद्दीन को अगस्त 1749 में वेल्लोर में नजदीक अम्बर अथवा अम्बूर के स्थान पर हराकर मार दिया। अनवरुद्दीन का पुत्र अर्काट छोड़कर त्रिचना पल्ली भाग गया अतः कर्नाटक अब चॉदा साहब के हाथ में आ गया जिसके बदले उसने फ्रांसिसीयों को पॉडिचेरी के निकट 80 गाँव भेंट में दिया अब डूप्ले की नीति सफल होती प्रतीत होने लगी। जिससे घबराकर अंग्रेजों ने अनवरुद्दीन के पुत्र एवं हैदराबाद में नासिर जंग का साथ देने का फैसला किया। और दोनों को सहायता भेजी। अंग्रेजी सहायता की मदद से नासिर जंग युद्ध के लिये कर्नाटक की ओर बढ़ा उसने चॉदा साहब को अर्काट से भगा दिया तथा मुजफ्फर जंग ने आत्म समर्पण कर दिया कि अब स्थिति अंग्रेजों के पक्ष में हो गयी किन्तु डूप्ले इससे हतोत्साहित नहीं हुआ उसने नासिरजंग के विरुद्ध एक सेना भेजी जिससे एक झड़प में दिसम्बर 1750 को नासिर जंग मारा गया। अब डूप्ले ने मुजफ्फर जंग को बन्दी गृह से मुक्त कर हैदराबाद को नवाब बना दिया। कृतार्थ मुजफ्फरजंग ने फ्रांसिसीयों को बहुत सा प्रदेश, धन, एवं डूप्लू को राजा की उपाधि प्रदान की। डूप्ले ने वुस्सी की अध्यक्षता से एक फ्रेंच सैनिक टुकड़ी मुजफ्फरजंग की सहायता के लिये हैदराबाद में तैनात कर दिया। 1751 में चॉदा साहब कर्नाटक के नवाब बन गये डूप्ले इस समय अपनी शक्ति के चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। फ्रांसिसीयों की इस सफलता से अंग्रेजों की स्थिति ढावाढोल हो गयी। अब डूप्ले का केवल एक शत्रु अनवरुद्दीन का पुत्र त्रिचला पल्ली में शरण लिये हुआ था, डूप्ले एवं चॉदा साहब की सेना ने त्रिचना पल्ली पर घेरा डाल दिया यद्यपि उन्हें त्रिचना पल्ली को जीतने में सफलता नहीं मिली। तथापि अंग्रेजी सेना भी फ्रांसिसी घेरे को तोड़ने में असफल रही। ऐसी विषम स्थिति में क्लाइव ने त्रिचना पल्ली पर दबाव कम करने के लिये केवल 210 सैनिकों की सहायता से अर्काट पर घेरा डाला और उसे जीत लिया। चान्दा साहब द्वारा भेजी गयी 4 हजार की सेना भी अर्काट को अपने अधीन नहीं कर पायी। क्लाइव ने मुट्ठी भर सेना के साथ 53 दिनों तक इस सेना का प्रतिरोध किया। इससे फ्रांसिसी प्रतिष्ठा पर गहरा आघात लगा। 1752 में स्ट्रिगर लारेन्स के नेतृत्व में एक दूसरी अंग्रेज सेना त्रिचना पल्ली पहुँच गयी जून 1752 में त्रिचना पल्ली पर घेरा वाली फ्रांसिसी सेना ने हथियार डाल दिये। चॉदा साहब तंजौर भागा जहाँ धोखे से उसकी हत्या हो गयी। त्रिचना पल्ली की इस पराजय ने डूप्ले के भाग्य का सर्वनाश कर दिया। फ्रांसिसी कम्पनी के डाइरेक्टरो ने इन युद्धों में व्यय हुए धन एवं हानि का जिम्मेदार डूप्ले को मानता उसे वापस बुला लिया। 1754 में गोडेहू को भारत में फ्रांसिसी गवर्नर जनरल नियुक्त किया गया 1755 में दोनों कम्पनियों के बीच पॉडिचेरी की एक अस्थाई सन्धि हो गयी। इस सन्धि के द्वारा दोनों शक्तियों ने देशी नरेशों के संघर्ष में हस्तक्षेप न करने का निर्णय लिया। यह भी निश्चित किया गया कि जब तक यूरोप में शान्ति रहे, भारत में भी शान्ति बनाए रखी जायेगी। और किसी नये दुर्ग का निर्माण नहीं किया जायेगा।

इस प्रकार कर्नाटक युद्ध को दूसरे दौर भी अनिर्णित रहा। थल पर अंग्रेजी सेना की प्रधानता सिद्ध हुई उनका प्रत्याशी मोहम्मद अली (नवाब अनवरुद्दीन का पुत्र) कर्नाटक का नवाब बन गया परन्तु हैदराबाद में फ्रांसिसी अभी भी जमे रहे मुजफ्फर जंग की मृत्यु के बाद फ्रांसिसीयों ने सलावतजंग को नवाब बना दिया तथा और भी धन प्राप्त किया इस दूसरे युद्ध से फ्रांसिसी प्रतिष्ठा को कुछ ठेस पहुँची तथा अंग्रेजों की स्थिति दृढ़ हुई। कुछ इतिहासकारों के अनुसार 1754 की सन्धि पर हस्ताक्षर कर गोडेहू ने वह अपना सब कुछ बलिदान कर

दिया जिसके लिये डूप्ले ने संघर्ष किया था। स्वयं डूप्ले ने गोडेह पर यह आरोप लगाया कि उसने 'देश के विनाश एवं जाति के अपमान पर हस्ताक्षर कर दिये।'

2.3.5 कर्नाटक का तीसरा युद्ध (1756–1763)

सन् 1756 में यूरोप में सप्त वर्षीय युद्ध आरम्भ हो गया फलतः भारत में भी शान्ति समाप्त हो गयी दोनों शक्तियों ने युद्ध की तैयारियों शुरू कर दी फ्रांसिसी सरकार ने अप्रैल 1757 को काउन्ट डी लाली को गवर्नर एवं कमाण्डर इन चीफ बना कर भारत भेजा जो लगभग 12 महीने की यात्रा के बाद 1758 में भारत पहुंचा इस बीच अंग्रेजों ने बंगाल में प्लासी के युद्ध में सिराज को हरा दिया तथा मीर जाफर को बंगाल का नवाब बना दिया। बंगाल में अंग्रेजों की इस सफलता एवं बंगाल में सत्ता परिवर्तन से अंग्रेजों को अकूत धन की प्राप्ति हुई। अब अंग्रेजों के सामने धन की कोई चिन्ता नहीं थी दूसरी ओर नवनियुक्त फ्रांसिसी सेनापति लाली अत्यन्त वीर एवं योग्य व्यक्ति था किन्तु उग्र स्वभाव एवं हठी होने के कारण उसे असफलता मिली लैली के सामने एक प्रमुख समस्या धन की थी इसलिये फ्रांसिसी सरकार ने यह आदेश देकर भेजा था कि वह भारत के राजाओं के मामले में हस्तक्षेप न करें अपितु अंग्रेजी व्यापार का विनाश करें। लैली के आते ही युद्ध आरम्भ हो गया 1758 में ही लाली ने फोर्ड सेंट डेविड जीत लिया तथा तंजौर पर बकाया 56 लाख न मिलने के कारण उस आक्रमण कर दिया किन्तु तंजौर अभियान सफल न हो सका अब लाली ने मद्रास का घेरा डाल दिया किन्तु एक शक्तिशाली नौसेना के आने पर उसे मद्रास का घेरा उठाना पड़ा। लाली ने अब हैदराबाद से वुस्सी को वापस बुला लिया यह उसकी भयंकर भूल थी क्योंकि वुस्सी के हटते ही हैदराबाद पर फ्रांसिसी प्रभाव समाप्त हो गया। लाली के क्रोधी एवं दुर्व्यवहार से क्षुब्ध होकर फ्रांसिसी जहाजी बड़े का प्रधान, भारत छोड़कर मारीशस चला गया। फलतः अंग्रेजी बेड़े ने पोकाक के नेतृत्व में फ्रांसिसी बेड़े को तीन बार पराजित किया तथा भारतीय सागर से लौटने के लिये वाहय किया। इससे अंग्रेजी विजय स्पष्टतः दिखने लगी। 1760 में सर आयर कूट ने वाण्डिवास नामक स्थान पर फ्रांसिसी सेना को बुरी तरह परास्त किया तथा वुस्सी को बन्दी बना लिया तथा पॉडिचेरी की किलेबन्दी नष्ट कर दी इस प्रकार फ्रांस की शक्ति का आधार ही नष्ट हो गया।

इस युद्ध का समापन 1763 में पेरिस की सन्धि द्वारा हुआ इस सन्धि ने फ्रांसिसियों के भारत में साम्राज्य स्थापित करने के स्वप्न को छिन्न-भिन्न कर दिया। इस प्रकार युद्ध का तीसरा चरण पूर्णरूप से निर्णायक सिद्ध हुआ। पेरिस सन्धि से पॉडिचेरी, फ्रांसिसियों को मिल तो गया किन्तु इसकी किले बन्दी नष्ट कर दी गयी पॉडिचेरी के अतिरिक्त माही, कराइकल एवं चन्द्र नगर फ्रांसिसियों को वापस कर दिया गया किन्तु वहां कोई दुर्ग का निर्माण नहीं हो सकता था तथा अब स्पष्टतः भारत में इन का पत्ता साफ हो चुका था ईश्वरी प्रसाद के अनुसार अब केवल भारतीय शक्तियों से अंग्रेजों को निपटारा करना शेष रह गया।

2.4 फ्रांसिसियों की असफलता के कारण

डूप्ले के नेतृत्व में फ्रांसिसियों ने एक समय में अपनी राजनैतिक विजयों से भारतीय राजनीतिक मंच को हतप्रम कर दिया डूप्ले की अप्रत्याशित सफलता से यूरोप में खलवली मच गयी परन्तु इसके बाद भी फ्रांसिसी अन्ततः हार गये और भारतीय रंगमंच से विलुप्त हो गये। फ्रांसिसियों की यह पराजय आकस्मिक एवं अकारण नहीं थी अपितु इस पराजय के पीछे कई कारण छिपे थे जो निम्न हैं—

2.4.1 फ्रांस का यूरोप को अधिक महत्व देना

प्राचीन समय से फ्रांस यूरोप का एक सर्व प्रमुख देश था। 18वीं शताब्दी में फ्रांसिसी सम्राट अपनी प्राकृतिक सीमा स्थापित करने के उद्देश्य से अपने पड़ोसियों इटली, बेल्जियम एवं जर्मनी से युद्धों में उलझे हुए थे। फ्रांसिसी सम्राटों की इस यूरोपीय महत्वाकांक्षा के कारण उनके आर्थिक साधनों पर अत्यधिक दबाव पड़ता था। वास्तव में फ्रांसिसियों को यूरोप में कुछ वर्ग मील क्षेत्र की अधिक चिन्ता थी और भारत एवं उत्तरी अमेरिका के हजारों वर्ग मील की चिन्ता कम थी। इंग्लैण्ड प्राकृतिक रूप से यूरोप के मुख्य भूमि से अलग है। इसलिये

इंग्लैंड अपने आपको यूरोप से अलग मानता था और उसकी यूरोप में प्रसार की कोई इच्छा नहीं थी। यूरोप में इंग्लैंड की भूमिका हमेशा शक्ति सन्तुलन बनाए रखने की होती है। इसलिये यूरोप के झगड़ों से दूर इंग्लैंड की भूमिका हमेशा शक्ति सन्तुलन बनाए रखने की होती है इसलिये यूरोप के झगड़ों से दूर इंग्लैंड एक चित्त होकर अपने व्यापार एवं उपनिवेश निर्माण में लगा रहा तथा नौसैनिक श्रेष्ठता के बल पर उसने भारत एवं उत्तरी अमेरिका में फ्रांस को पछाड़ दिया।

2.4.2 दोनो देशों की प्रशासनिक भिन्नताएं

फ्रांस एवं इंग्लैंड की शासन प्रणाली में बड़ी भिन्नता थी जहां फ्रांस में शासन पूरी तरह स्वेच्छाचारी निरंकुश राजाओं के हाथ में था वही इंग्लैंड में एक जागरूक अल्पतंत्र शासक कर रहा था। फ्रांसिसी इतिहासकारों ने फ्रांस की असफलता के पीछे अपनी घटिया शासन प्रणाली को ही अधिक जिम्मेदार ठहराया है। वुर्वो वंश के अधीन महान लुई चौदहवे के निरन्तर युद्धों ने फ्रांस की आर्थिक स्थिति खराब कर दी लुई चौदहवे के अयोग्य उत्तराधिकारियों ने इस स्थिति को सम्भालने की जगह अपने ऐशो आराम विलासिता पर मनमाना खर्च किया जिससे फ्रांस की आर्थिक स्थिति दयनीय हो गयी। इस आर्थिक विपन्नता की स्थिति में जब कम्पनी को धन की आवश्यकता हुई तो वह पूरी न की जा सकी। अल्फ्रेड लायल के अनुसार डूप्ले की वापसी लावोर्डने तथा 5 आश की भूले, लाली की अदम्यता, इत्यादि से कहीं अधिक लुई पन्द्रहवे की भ्रान्तिपूर्ण नीति तथा उसके अक्षम मंत्री फ्रांस की असफलता के लिये उत्तरदायी थे।

2.4.3 दोनों कम्पनियों के गठन एवं प्रकृति में असमानता

दोनों कम्पनियों के निर्माण प्रशासन एवं कार्यप्रणाली में बड़ा अन्तर था। यह भिन्नता भी फ्रांसीसीयों के असफलता का एक बड़ा कारण था। फ्रांसीसी कम्पनी एक सरकारी कम्पनी थी जिसका 55 लाख फ्रैंक की पूँजी से निर्माण किया गया जिसमें 35 लाख सम्राट ने लगाए थे। कम्पनी के डायरेक्टर सरकार द्वारा मनोनीत होते थे तथा लाभांश की सरकार गारंटी देती थी, अतएव कम्पनी के लोगों को इसकी समृद्धि की कोई विशेष आकांक्षा नहीं थी। यह कम्पनी 1721 से 1740 तक उधार के धन से व्यापार करती रही तथा सरकारी आर्थिक मदद से जैसे जैसे कम्पनी को चलाया जा रहा था। उदासीनता का आलम यह था कि कम्पनी के डायरेक्टरों की 1725 से 1765 के बीच एक भी बैठक नहीं हुई थी। ऐसी कम्पनी डूप्ले की महत्वाकांक्षाएं एवं युद्धों के लिये धनापूर्ति करने में सक्षम नहीं थी। दूसरी ओर अंग्रेजी कम्पनी एक निजी कम्पनी थी तथा इसमें कर्मचारियों में कार्य को उत्साह पूर्वक आगे ले जाने की उत्कट अभिलाषा थी। अपनी कम्पनी की समृद्धि को बनाए रखने के लिये वे हर सम्भव कोशिश करते थे क्योंकि उनकी अपनी समृद्धि कम्पनी पर ही आधारित थी। अंग्रेजी कम्पनी की वित्तीय अवस्था अधिक सुदृढ़ थी कम्पनी के प्रबन्ध में कोई विशेष हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। अंग्रेजी कम्पनी की नीति पहले व्यापार फिर राजनीति थी। कम्पनी के अधिकारी सदैव व्यापार के महत्व पर बल देते थे दोनों कम्पनियों के व्यापार पर दृष्टि डाले तो अंग्रेजी कम्पनी का व्यापार फ्रांसीसी कम्पनी से चार गुना ज्यादा था जिसका परिणाम यह हुआ कि कम्पनी को युद्ध के लिये धन की कमी कभी भी महसूस नहीं हुई। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी कम्पनी के अधिकारियों के मध्य सहयोग एवं सहायता की भावना थी जबकि फ्रांसीसी कम्पनी के अधिकारियों सेनापतियों के मध्य सहयोग एवं सहायता की भावना का अभाव था।

2.4.4 फ्रांसीसीयों के पास उत्तम बस्तियों का अभाव

अंग्रेजी व्यापारी भारत में फ्रांसीसीयों से लगभग 65 वर्ष पहले आये थे अतः उन्होंने भारत में उत्तम तथा बढ़िया बस्तियां स्थापित कर ली थी बम्बई की बस्ती माही की अपेक्षा बढ़िया थी जबकि चन्द्र नगर कलकत्ता की तुलना में कुछ भी नहीं था, पॉडिचेरी मद्रास से कभी भी बराबरी नहीं कर सकता था। अंग्रेजों ने भारत में बम्बई कलकत्ता एवं मद्रास में महत्वपूर्ण ठिकाने बना लिये थे जबकि फ्रांसीसीयों के पास केवल पॉडिचेरी था।

अंग्रेजों का मुख्य केन्द्र बम्बई हर दृष्टि से उत्तम था जहां जहाजों को सुरक्षित रखने एवं मरम्मत की सुविधा थी। बम्बई उत्तर भारत के साधनों पर नियन्त्रण के लिये सर्वथा उपयुक्त था। फ्रांसीसीयों के पास उत्तर भारत में ऐसा कोई स्थल नहीं था जिससे वे उत्तर भारत के साधनों का यथोचित प्रयोग कर सकते थे। पॉन्डिचेरी से आरम्भ करके भारत में साम्राज्य स्थापित करना प्रायः असम्भव था। डा०वी०ए० स्मिथ ने लिखा है “पॉन्डिचेरी को आधार बनाकर तो सिकन्दर महान अथवा नेपोलियन जैसा विजेता भी भारत वर्ष में उस सत्ता से लोहा नहीं ले सकता था जिसका बंगाल पर अधिकार था समुद्र पर नियन्त्रण ”

2.4.5 अंग्रेजों का बंगाल पर अधिकार

फ्रांसीसीयों की पराजय का एक बड़ा कारण अंग्रेजों की बंगाल पर विजय थी क्योंकि प्लासी की विजय ने अंग्रेजों को बंगाल के अपार धन एवं जनसंख्या का स्वामी बना दिया। जिस समय काउंट लाली को अपने सैनिकों को वेतन देने की चिन्ता थी बंगाल कर्नाटक में धन एवं जन दोनों की पर्याप्त आपूर्ति कर रहा था इसी के बल पर अंग्रेजों ने कर्नाटक में फ्रांसीसीयों पर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध थी। मेरियट ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि “डूप्ले ने मद्रास में भारत की चावी खोजने का निष्फल प्रयत्न किया। क्लाइव ने यह चावी बंगाल में खोजी और प्राप्त करली”

2.4.6 अंग्रेज एवं फ्रांसीसी अधिकारियों की योग्यता में अन्तर

अंग्रेज और फ्रांसीसी अधिकारियों की योग्यता में अन्तर भी अंग्रेजों की विजय एवं फ्रांसीसीयों की पराजय का एक महत्वपूर्ण कारण था। अंग्रेजी कम्पनी का राजनैतिक एवं सैनिक नेतृत्व फ्रांसीसी कम्पनी की अपेक्षा अधिक उत्तम था। डूप्ले तथा वुस्सी व्यक्तिगत रूप से क्लाइव लारेन्स एवं साण्डर्स से कम नहीं थे किन्तु उन्हें न तो अपने अधिकारियों से और न ही गृह सरकार से वह मदद मिली जो आवश्यक थी। डूप्ले साहसी एवं सफल कूटनीतिज्ञ तो था किन्तु उसकी कमी यह थी कि वह स्वयं अपने सैनिकों में जोश एवं उत्साह नहीं भर सकता था। लाली भी योग्य था किन्तु उसका स्वभाव बड़ा उग्र था वह पॉन्डिचेरी में कम्पनी के सभी कार्यकर्ताओं को बेइमान एवं झूठा समझता था तथा डरा-धमकाकर कार्य करवाने की प्रवृत्ति से उसके अधीनस्थ इतने नाराज थे कि जब लाली पराजित हो गया तो इन लोगों को प्रसन्नता हुई। लाली यह समझने की भूल कर गया कि विदेशी भूमि पर आपसी सहयोग एवं त्याग ही सबसे बड़ी शक्ति है। मालेसन के अनुसार लारेन्स, साण्डर्स, कैलियाड, फोर्ड आदि अनेक अंग्रेज पदाधिकारी डूप्ले के लाज, दा-व्यूल, ब्रेनियर जैसे फ्रांसीसी अधिकारियों से कई गुना वीर, साहसी एवं उत्तम थे।

2.4.7 नौसेना की भूमिका

अंग्रेजों की नौसैनिक श्रेष्ठता भी फ्रांसीसीयों के विरुद्ध उनकी सफलता का निर्णायक तत्व रहा है। यह बात पहले से स्पष्ट थी कि ‘ जो समुद्र पर राज करेगा वही संसार पर राज करेगा’ डूप्ले को प्रारम्भिक सफलता नौसेना के माध्यम से ही मिली क्योंकि उस समय अंग्रेजी नौसेना निष्क्रिय थी किन्तु सप्तवर्षीय युद्ध के कारण अंग्रेजी नौसेना जब सक्रिय हुई तो उसने अपने वरिष्ठता सिद्ध कर दी इसी कारण लाली को डूप्ले जैसी सफलता नहीं मिल सकी। डआस के वापस मारीशस जाने से भारतीय जल क्षेत्र का मार्ग अंग्रेजों के लिये बिल्कुल साफ हो गया इससे अंग्रेजों के लिये न केवल भारतीय व्यापार मार्ग खुले रहे अपितु बम्बई से कलकत्ता तक जलमार्ग द्वारा सेना का आवागमन अबाध रूप से चलता रहा। इसीलिये कहा जाता है कि यदि शेष कारण बराबर भी होते तो भी जलसेना की वरिष्ठता फ्रांसीसीयों को परास्त करने के लिये पर्याप्त थी। प्रा० डाडवेल ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि ‘सामुद्रिक शक्ति का प्रभाव ही मुख्य कारण था जो अंग्रेजी सफलता का कारण बना। यद्यपि फ्रांसीसी नौसेना कभी भी पूर्णरूपेण नष्ट नहीं हुई तथापि विभिन्न युद्धों के फलस्वरूप अंग्रेजों को अजेय वरिष्ठता प्राप्त हो गयी। अंग्रेजों को बंगाल से धन, रसद तथा यूरोप से नई भरती की गयीं सेना और उत्तरी भारत से अन्न मिलता रहा किन्तु फ्रांसीसीयों को यह सब नहीं मिल सका इसीलिए अंग्रेज निरन्तर शक्तिशाली

होते गये जबकि फ्रांसीसी निरन्तर कमजोर परिणामस्वरूप आयर कूट को लाली पर स्पष्ट विजय प्राप्त हो गयी तथा फ्रांसीसी पॉडिचेरी में सिमटने के लिये विवश हुए।

2.4.8 डूप्ले की वापसी

कई इतिहासकार फ्रांसीसीयों के हार के लिये डूप्ले पर आक्षेप करते हैं। इन इतिहासकारों के मतानुसार यद्यपि डूप्ले एक योग्य एवं उत्तम नेता था तथापि वह राजनैतिक मसलो में ऐसा उलझ गया कि उसने व्यापार एवं वित्तीय पक्ष की अवहेलना की जिससे कम्पनी के व्यापार में अत्यधिक गिरावट आ गयी। द्वितीय कर्नाटक युद्ध के दौरान 1754 में उसे वापस बुला लिया गया किन्तु इतिहासकारों का एक बड़ा वर्ग फ्रांसीसी हार के लिये डूप्ले को जिम्मेदार नहीं मानता है इनके कथानुसार कम्पनी के हार के पीछे सैनिकों एवं धन की कमी थी। डूप्ले एक चतुर राजनेता था यदि उसे फ्रांसीसी सरकार द्वारा वापस न बुलाया गया होता तो इस युद्ध का परिणाम कुछ दूसरा होता डूप्ले के अतिरिक्त अन्य दूसरा इतनी कुशलता से भारतीय मामलों का संचालन नहीं कर सकता था। अतः फ्रांसीसी हार के पीछे डूप्ले नहीं, डूप्ले की वापसी जिम्मेदार थीं।

2.5 डूप्ले का जीवनचरित एवं मूल्यांकन

जोसेफ फ्रांसिस डूप्ले का जन्म 1697 में लेड्रेसीज नामक स्थान पर हुआ। इसका पिता फ्रांसीसी इंडिया कम्पनी का डायरेक्टर जनरल था। सन् 1720 में वह पिता के प्रभाव से पॉडिचेरी में एक उच्च पद प्राप्त किया। व्यक्तिगत व्यापार से उसने खूब धन कमाया परन्तु सन्देह के कारण डायरेक्टरों ने 1726 से इसे निलम्बित कर दिया। डूप्ले भारत में ही रहा तथा इस निर्णय के खिलाफ अपील की जिसमें इसे सफलता मिली तथा इसको सम्मान सहित बरी करते हुए 1730 में चन्द्र नगर का डायरेक्टर नियुक्त किया गया। अपनी योग्यता एवं कार्य के कारण 1742 में उसे पॉडिचेरी का गवर्नर तथा भारत में फ्रांसीसी बस्तियों का डायरेक्टर जनरल नियुक्त कर दिया गया जिस पद पर वह 1754 तक आसीन रहा। मुगल सम्राट द्वारा कृष्णा नदी से कन्याकुमारी के बीच के क्षेत्र का वह नवाब घोषित किया गया था।

डूप्ले एक महान प्रशासक, दक्षकूटनीति था जिसमें राजनीतिक अन्तर्दृष्टि तथा दूरदर्शिता भी समाहित थी।

डूप्ले भारत में आने पर अपनी निजी व्यापार के कारण शीघ्र ही धनी हो गया लेकिन उसके विभिन्न गुणों के प्रदर्शन का मौका चन्द्र नगर के डायरेक्टर बनाये जाने पर मिला। डूप्ले के एक योग्य प्रशासन से चन्द्र नगर बंगाल में सबसे अच्छी यूरोपीय बस्ती बन गया। डूप्ले ने व्यापारिक उन्नति के लिये अपनी निजी पूँजी व्यापार में लगाई, सहयोगियों का ऋण प्रदान किया तथा भारतीयों को चन्द्र नगर में बसने के लिये प्रोत्साहित किया। चन्द्र नगर की उन्नति में डूप्ले द्वारा प्रदर्शित असाधारण योग्यता ने फ्रांस में डायरेक्टर का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया जिससे उसे पॉडिचेरी का गवर्नर जनरल बना दिया गया। डूप्ले में विद्यमान ऊर्जा एवं गुणों के विकास की दृष्टि से चन्द्र नगर छोटी बस्ती थी किन्तु अब जबकि वह पॉडिचेरी का गवर्नर बना उसकी प्रतिभा को पूर्णरूप से विकसित होने का अवसर मिला। जिस समय वह पॉडिचेरी का गवर्नर बना उस समय पॉडिचेरी एक उजाड़ एवं वीरान क्षेत्र था। खेती नहीं हो रही थी तथा दुर्भिक्ष से जन संख्या भी थोड़ी ही रह गयी थी। कर्नाटक में उत्तराधिकार के संघर्ष से यह स्थिति और भी भयानक हो चुकी थी पॉडिचेरी की सुरक्षा का इन्तजाम भी नाकाफी था यूरोप में अंग्रेज एवं फ्रांस के मध्य युद्ध की सम्भावना बनी हुई थी ऐसी स्थिति में डूप्ले ने पॉडिचेरी की सुरक्षा का पुख्ता बन्दोबस्त करना चाहा किन्तु कम्पनी के डायरेक्टरों की रुचि भारत की अपेक्षा उत्तरी अमेरिका में होने के कारण इस पर ध्यान नहीं दिया जा रहा था तथा डूप्ले को व्यय में कमी करने की सलाह दी गयी। डूप्ले इस विनाशकारी आदेश की अवहेलना करते हुए पॉडिचेरी की दृढ़ किलेबन्दी की और इसमें अपना भी बहुत सा धन व्यय किया। आय एवं व्यय पर नियन्त्रण स्थापित किया शीघ्र ही पॉडिचेरी दक्षिण भारत की सर्वप्रमुख मण्डी बन गयी। इस प्रकार चन्द्र नगर एवं पॉडिचेरी के उत्थान ने डूप्ले के प्रशासनिक योग्यता को सिद्ध कर दिया।

अनेक इतिहासकारों ने डूप्ले की गणना विश्व के प्रमुख राजनीतिज्ञों एवं चतुर कूटनीतिज्ञों के रूप में की है। कुशल राजनीतिज्ञ होने के कारण उसने शीघ्र ही यह अनुभव किया कि यदि अंग्रेजों को भारत से निकाल दिया जाय तो भारत में फ्रांसिसियों का साम्राज्य सुगमता पूर्वक स्थापित किया जा सकता है इसी कारण उसने अंग्रेजों के साथ कर्नाटक युद्धों का सूत्रपात किया। वह वास्तव में मौलिक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति था तथा उसने कल्पनाशील उर्वर मस्तिष्क से साम्राज्य स्थापना की एक नयी नीति को जन्म दिया। कर्नाटक के प्रथम दो युद्धों में डूप्ले की कूटनीति का लोहा उसके विरोधी भी मानते हैं। प्रथम कर्नाटक युद्ध दौरान जब उसे लगा कि ब्रिटिश सरकार द्वारा भेजा गया नौसेना का कमाण्डर वारनेट पॉडिचेरी घेर लेगा तो उसने नवाब से प्रार्थना की कि वह अंग्रेजों को नवाब के क्षेत्र में युद्ध करने से रोके, नवाब ने यह प्रार्थना स्वीकार कर अंग्रेज गवर्नर को आदेश दिया कि अंग्रेजों को फ्रांसीसी बस्ती पर आक्रमण की अनुमति नहीं देंगे। इस प्रकार का कार्य डूप्ले के कूटनीतिक क्षमता को दर्शाता है आगे चलकर ला वॉर्डने की सहायता से जब डूप्ले मद्रास जीतने की स्थिति में आया तो उसने नवाब को यह समझाया कि मद्रास जीतकर वह इसे नवाब को दे देगा। डूप्ले की यह कूटनीति पूर्णतः सफल रही। दूसरे कर्नाटक युद्ध में उसकी यह कूटनीति और भी सफल हुई। डूप्ले का मुख्य उद्देश्य राजनैतिक प्रभाव को बढ़ाना या उसने यह स्पष्ट कर दिया कि कैसे यूरोपीय लोग देशी राजाओं के आपसी द्वन्द का सफलतापूर्वक फायदा उठा सकते हैं। उसने कर्नाटक तथा हैदराबाद के उत्तराधिकार के लिये चान्दा साहब एवं मुजफ्फरजंग का समर्थन कर दोनों से फ्रांसिसियों के लिये बहुत सा लाभ प्राप्त कर लिया तथा भारतीय नरेशों द्वारा उसे नवाब की उपाधि से सुशोभित किया गया।

डूप्ले एक योग्य एवं जन्मजात नेता था उसके अधीनस्थ कर्मचारी डूप्ले के निर्णयों एवं नीतियों पर आँख बन्द कर विश्वास करते थे तथा उसकी आज्ञाओं का पालन बिना किसी हिचकिचाहट के करते थे। 1754 में जब डायरेक्टरों ने डूप्ले को दोषी मानते हुए वापस बुलाने का आदेश दिया तो बहुत से अधीनस्थों ने त्यागपत्र देने का निश्चय कर लिया वुस्सी ने भी त्याग पत्र दे दिया तो डूप्ले ने उससे कार्य करते रहने का अनुरोध किया प्रति उत्तर में वुस्सी ने जो लिखा है उसे पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि डूप्ले को उसके अधीनस्थों का समर्थन प्राप्त था और वे डूप्ले की वापसी के आदेश को आत्महत्या जैसा कदम मानते थे। वुस्सी ने डूप्ले को पत्र लिखा कि 'आपका यूरोप जाना वह वज्राघात है जिससे मैं भयभीत हो उठा हूँ तथा किंकर्तव्यविभूढ़ हो गया हूँ आप जा रहे हो और मुझे कहते हो कि देश सेवा में लगे रहो और उस कार्य को जो नष्ट प्राय है उसे करते रहो। क्या आप वस्तुतः विश्वास करते हैं कि मेरा भी वही अपमान नहीं होगा जो आपका हुआ है। परन्तु जो भी हो मैंने निश्चय कर लिया है कि यह मेरा कर्तव्य है कि आपका परामर्श स्वीकार कर उसका अनुसरण करूँ।

मालेसन ने 'भारत में फ्रांसीसीयों का इतिहास' नामक पुस्तक में इस बात को उल्लिखित किया है कि डूप्ले की वापसी में अंग्रेजों का हाथ था आगे इन्होंने लिखा कि अंग्रेजी राजदूत ने फ्रांसीसी विदेशामन्त्री को कहा था कि डूप्ले की नीतियां दोनों देशों के हित में नहीं हैं। मालेसन का कथन है कि 'हम उस अन्धेपन, मूर्खता तथा उन्माद पर जिससे डूप्ले को वापस बुलाया केवल विस्मय ही प्रकट कर सकते हैं। मालेसन का विश्वास है कि अगर डूप्ले 2 वर्ष और भारत में रह जाता तो बंगाल का धन अंग्रेजों के स्थान पर फ्रांस की गोद में जा गिरता।

डूप्ले एक अग्रगामी नीतियों वाला राजनीतिज्ञ था भारत में अपने कार्यकाल के प्रारम्भ में उसने व्यापार एवं सुरक्षा पर ध्यान केन्द्रित किया किन्तु भारत की बिगड़ती राजनीतिक दशा को देखकर भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देखने लगा। डूप्ले पहला व्यक्ति था जिसने देशीय राज्यों के मामले में हस्तक्षेप किया जिसने अनुशासित सिपाहियों की श्रेष्ठता स्थापित की। डूप्ले के राजनैतिक विचारों एवं उद्देश्यों पर कुछ इतिहासकारों का कहना है कि डूप्ले साम्राज्य निर्माताओं के अग्रगामी थे, तथा उन्होंने भारत विजय की सुनिश्चित योजना बनाई हुई थी। मैकाले ने भी इसका समर्थन करते हुए लिखा है कि भारतीयों के संघर्ष में हस्तक्षेप करके साम्राज्य विस्तार करने की योजना उसकी मौलिक कल्पना थी। परन्तु कुछ इतिहासकार इससे सहमत नहीं हैं।

डूप्ले के जीवनी लेखक अल्फ्रेड मार्टिन्स का विश्वास है कि 1749 अथवा 1750 तक डूप्ले का ऐसा कोई स्वप्न नहीं था मार्टिन्स के अनुसार भारत में फ्रांसीसी उपनिवेश का विचार वित्तीय आवश्यकता के फलस्वरूप पैदा हुआ। डूप्ले के समक्ष सदैव धन की कठिनाई सामने आती थी और फ्रांस भी धन नहीं उपलब्ध करा पाता था। अन्ततः उसने यह सोचा कि इन कठिनाइयों से बचने का केवल एक ही उपाय है कि फ्रांस से धनप्राप्ति की आशा त्याग कर भारत में ही पर्याप्त धन प्राप्त करने की व्यवस्था की जाय। इसके लिये यह आवश्यक है कि स्थानीय प्रदेशों से एक निश्चित आय प्राप्त हो और यह तभी सम्भव है जब राजसत्ता उसके हाँथ में हो यही विचार पहले डूप्ले के मन में उठा फिर उसने इसे विकसित किया तथा भारत में अपने लाभ के लिये औपनिवेशिक साम्राज्य बनाने का विचार बनाया।

प्रो० डाडवेल एवं पी०ई० राबर्ट्स, मार्टिन्स के विचारों का समर्थन करते हैं। पी०ई० राबर्ट्स ने डूप्ले के बारे में लिखा है कि 'अपनी अन्तिम असफलताओं के बावजूद भी डूप्ले भारतीय इतिहास का एक प्रतिभावान एवं तेजस्वी व्यक्ति है हम उसके प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण भी अपनाएँ तब भी महानता विषयक उसके दावे का झुठलाया नहीं जा सकता। डूप्ले ने कुछ वर्षों तक पूर्व में फ्रांस की प्रतिष्ठा को विस्मयजनक ऊँचाईयों तक उठाया। भारतीय राजाओं एवं राजनायिकों की दृष्टि में जितना सम्मान उसका था उतना किसी अन्य विदेशी को नहीं मिला, उसने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि एवं असाधारण व्यक्तित्व के बल पर अपने अंग्रेज प्रतिद्वन्दियों में भय एवं आतंक फैला दिया था।'

डूप्ले ने पहली बार जिन हथकण्डों का उपयोग भारत जीतने के लिये किया बाद में वही अंग्रेजों का मार्ग दर्शक बना। यह डूप्ले ही था जिसने पहली बार यूरोपीय सेनाओं को देशी राजदरबारों में भारतीय व्यय पर नियुक्त करवाया तथा जिसने पहली बार यूरोपीय हितों के लिये भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप किया। तथा वह पहला व्यक्ति था जिसने भारत में यूरोपीय साम्राज्य निर्माण की नींव डाली। मालेसन ने लिखा है कि "डूप्ले की योजनाओं का प्रभाव उसके जाने के बाद भी रहा वह भूमि जिसे उसने अपनी सुझबूझ से जीता तथा उर्वर बनाया और वह क्षमता जो उसने दर्शाई उसके लौटाने के तुरन्त पश्चात् उसके प्रतिद्वन्दियों ने उपयोग की और उससे अत्यधिक लाभ उठाया। परन्तु डूप्ले के भारत में उसकी सूझबूझ राजनीतिक चतुराई के बावजूद सफलता नहीं मिली। उसकी असफलता के कारणों का मूल्यांकन करते हुए जीवनी लेखक मार्टिन्स लिखता है कि डूप्ले के गलत निर्णय एवं उसकी हठधर्मिता ही उसके पतन का कारण बनी उसने अपनी राजनीतिक योजनाओं की सही एवं पूरी जानकारी फ्रांसीसी सरकार को नहीं दी इसलिये फ्रांस ने भारतीय मदद में रुचि नहीं ली। डूप्ले की उद्देश्य पूर्ति के लिये भारत में फ्रांसीसी साधन पर्याप्त नहीं थे। डूप्ले की इसी भूल ने इसे असफल बना दिया। प्रो० डाडवेल का विचार है कि डूप्ले ने अपनी पहुंच से अधिक प्राप्त करने का प्रयत्न किया जिसके कारण वह अपने साधन भी गवां बैठा तथा असफल भी हुआ। दकन एवं कर्नाटक इतना उर्वर एवं सक्षम क्षेत्र नहीं था जिसे प्राप्त करने के लिये विदेशी शक्ति से टक्कर ली जाती, उसकी योजनाओं की सफलता के लिये डूप्ले को अधिक धनी प्रदेश की आवश्यकता थी। अंग्रेजों का सफलता बंगाल जैसे समृद्ध प्रदेश के कारण ही मिली। क्लाइव के मैदान में उतरते ही डूप्ले के सौभाग्य का सितारा मन्द पड़ने लगा डूप्ले भारत में असफल हो गया जबकि क्लाइव ने भारत में अंग्रेजी साम्राज्य स्थापित कर दिया। यदि डूप्ले के पास भी एक धनी कम्पनी होती जैसाकि इंग्लिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी थी और उसे भी अंग्रेजों जैसे प्रगतिशील जाति का समर्थन प्राप्त होता तो निश्चय ही वह अपने समकालीनों से अधिक सफल होता। भारतीय इतिहास में जिस प्रेरणा एवं राजनीतिज्ञ चातुर्य का प्रदर्शन डूप्ले ने किया उसकी बराबरी को सम्भवतः किसी यूरोपीय व्यक्ति ने नहीं की। डूप्ले के चरित्र में कुछ दोष भी थे वह अहंकारी षड्यंत्रकारी एवं कपटी स्वभाव का था यद्यपि इन गुणों से ही कार्य सिद्धि सम्भव हो सकता था तथापि डूप्ले का प्रतिद्वन्दी क्लाइव उससे कई अधिक कपटी एवं षड्यंत्रकारी था। क्लाइव को सफलता मिली जिससे उसके सब दोष छिप गये। डूप्ले के भाग से जो सफलता उसे नहीं मिली अन्यथा वह ही क्लाइव के स्थान पर भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य के संस्थापक के रूप में जाना जाता। कुछ भी हो असफलता वह पाप है जिसे संसार

में कभी क्षमा नहीं किया जाता यही दुर्घटना डूप्ले के साथ घटी उसकी असफलता उसका पाप बन गयी जबकि क्लाइव की सफलता पुण्य बन गयी।

2.6 बोध प्रश्न

- 1- कर्नाटक का प्रथम युद्ध कब हुआ
- 2- अडयार या सेंटटोमे के युद्ध में सफलता किसे प्राप्त हुई।
- 3- प्रथम कर्नाटक युद्ध की समाप्ति किस सन्धि से हुई।
- 4- अकार्ट का घेरा किसने डाला।
- 5- पॉडिचेरी की सन्धि कब हुई।
- 6- वाडिवास का युद्ध कब हुआ।
- 7- कर्नाटक का तीसरा युद्ध कब समाप्त हुआ।
- 1- ऑग्ल-फ्रांसीसी संघर्ष के मुख्य कारण क्या थे।
- 2- कर्नाटक युद्ध के समय दक्षिण भारत की राजनीतिक दशा पर प्रकाश डाले।
- 3- कर्नाटक युद्ध में अंग्रेजों की सफलता के क्या कारण थे।
- 4- डूप्ले के जीवन एवं योगदान पर प्रकाश डाले।

2.7 सन्दर्भित ग्रन्थ

- 1- पी0ए0 स्मिथ – आक्सफोर्ड हिस्ट्रीऑफ इण्डिया
- 2- जे0 मेरियट- द इंग्लिश इन इण्डिया
- 3- मालेसन – हिस्ट्री ऑफ द फ्रेंच इन इण्डियों, डूप्ले
- 4- डाडवेल – कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, डूप्ले एण्ड क्लाइव
- 5- मार्टिन्यू – डूप्ले
- 6- ग्रोवर एवं यशपाल – आधुनिक भारत का इतिहास

बंगाल में अंग्रेजी सत्ता स्थापना : प्लासी से 1772 तक

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 बंगाल में अंग्रेजी कम्पनी का प्रवेश
 - 3.3.1 बंगाल की राजनीतिक दशा
 - 3.3.2 अंग्रेज और सिराजुद्दौला
 - 3.3.3 ब्लैक होल की घटना
 - 3.3.4 अलीनगर की सन्धि फरवरी 1757
- 3.4 प्लासी का युद्ध
 - 3.4.1 प्लासी के युद्ध का महत्व
 - 3.4.2 प्लासी के बाद
- 3.5 अंग्रेज एवं मीर कासिम
 - 3.5.1 नवाब के रूप में कासिम
 - 3.5.2 कम्पनी एवं कासिम
- 3.6 बक्सर का युद्ध सन् 1764
 - 3.6.1 बक्सर के युद्ध का महत्व
 - 3.6.1.1 बंगाल में कम्पनी का राजनैतिक शक्ति के रूप में उदय
 - 3.6.1.2 इलाहाबाद की सन्धि
 - 3.6.1.3 मुगल सम्राट से सन्धि
- 3.7 बंगाल में व्यवस्था स्थापन
 - 3.7.1 द्वैध प्रणाली (Dual System)
 - 3.7.2 द्वैध शासन प्रणाली का प्रभाव
 - 3.7.3 क्लाइव द्वारा आन्तरिक सुधार
 - 3.7.4 क्लाइव का मूल्यांकन
- 3.8 बोध प्रश्न
- 3.9 अन्य पठनीय ग्रन्थ
- 3.19 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

भारत में अंग्रेजी राजसत्ता का श्रीगणेश बंगाल प्रान्त से शुरू हुआ। बंगाल में अंग्रेजी सत्ता की स्थापना की कहानी बड़ी रोचक एवं विस्मयकारी है। बंगाल से शुरू करके अंग्रेजों ने धीरे-धीरे मराठों, अफगानों को किनारे करते हुए सम्पूर्ण भारत पर कब्जा जमा लिया। यहां सवाल यह उठता है कि एक व्यापारिक कम्पनी अपने मुट्ठी भर सैनिकों के बल पर यह कार्य कैसे कर सकती है। हम इस यूनिट में इसी "कैसे" का जवाब ढूँढने की कोशिश करेंगे।

प्राचीन समय से ही बंगाल भारत का सबसे समृद्ध प्रान्त था। यह प्रान्त न केवल अपने उर्वर भूमि के कारण कृषि में अपितु व्यापार वाणिज्य एवं लघु उद्योगों के लिये भारत में ही नहीं संसार भर में प्रसिद्ध था। बंगाल की इस समृद्धि ने ही अंग्रेजों को आकर्षित किया।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप –

- बंगाल में अंग्रेजी कम्पनी के प्रारम्भिक व्यापारिक प्रवेश के बारे में जान सकेंगे।
- कम्पनी के व्यापारिक शक्ति से राजनीतिक शक्ति बनने की कहानी जान सकेंगे।
- अंग्रेजी सत्ता की स्थापना के क्रम में प्लासी एवं बक्सर युद्ध के कारणों एवं परिणामों को समझ सकेंगे।
- इस इकाई के अध्ययन से बंगाल में स्थापित द्वैध शासन प्रणाली के बारे में जान सकेंगे।
- बंगाल में द्वैध शासन के दुष्परिणामों को जान सकेंगे।
- क्लाइव के कार्यों एवं योगदान से परिचित हो सकेंगे।

3.3 बंगाल में अंग्रेजी कम्पनी का प्रवेश

सर्वप्रथम 1651 में अंग्रेजों ने बंगाल के सूबेदार शाहशुजा की अनुमति से हुगली में अपना गोदाम बनाया। उसी वर्ष आगरा में मुगल राज परिवार की महिला का अंग्रेज डाक्टर वौटन द्वारा सफल शल्य चिकित्सा से प्रसन्न होकर मुगल सम्राट ने 3000 रुपये वार्षिक में बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा में मुक्त व्यापार की अनुमति दे दी। शीघ्र ही अंग्रेजों ने पटना, कासिम बाजार एवं अन्य महत्वपूर्ण व्यापारिक स्थलों पर कोठियां (गोदाम) बना लिया। 1698 में मुगल सम्राट औरंगजेब के पुत्र एवं बंगाल के तत्कालीन सूबेदार अजीमुशान ने 1200 रुपये के बदले अंग्रेजों को तीन गांवों सुतानती, कालीघाट एवं गोविन्दपुर की जमींदारी दे दी। इसी क्षेत्र को अंग्रेजों ने कलकत्ता के रूप में विकसित किया, जहां उन्होंने बंगाल के अपने पहले किले सेंट फोर्ट विलियम की स्थापना की। वर्ष 1717 में सम्राट फर्रुखसीयर ने पुराने सूबेदारों द्वारा दी गयी समस्त व्यापारिक रियायतों की पुष्टि कर दी।

3.3.1 बंगाल की राजनीतिक दशा

मुगलों के अधीन बंगाल का शासन सम्राट द्वारा नियुक्त सूबेदार द्वारा होता था। सल्तनत काल के समय से ही बंगाल अपनी समृद्धि एवं दिल्ली से दूर होने के कारण महत्वाकांक्षी सरदारों को विद्रोह के लिये प्रेरित करता था। मुगलों ने बंगाल में सूबेदारों के विद्रोह को नियंत्रित करने के लिये प्रायः राज परिवार के व्यक्ति को ही बंगाल की सूबेदारी प्रदान की। सूबेदार की अनुपस्थिति में यह कार्य दीवान करता था। सन् 1700 में सम्राट औरंगजेब ने मुर्शीदकुली खान को बंगाल का दीवान बनाया। सन् 1707 में औरंगजेब की मृत्यु ने मुगल शक्ति के खोखले आवरण को नष्ट कर दिया। सम्राट बनने के लिये मुगल राजकुमारों ने षड़यन्त्र, धोखा एवं निर्लज्ज लोलुपता दिखाई, जिससे बड़े-बड़े सूबेदारों ने अपने लाभ को दृष्टिगत रखते हुए इस लड़ाई में भाग लिया। मुगलों की इस स्थिति को देखते हुए मुर्शीदकुली खान ने बंगाल में अपने को स्वतन्त्र कर लिया तथा बंगाल का नवाब बन गया। मुर्शीदकुली खान की मृत्यु के बाद शुजाउद्दीन तथा उसकी मृत्यु के बाद सरफराज खां बंगाल का नवाब बना। सन् 1741 में बिहार का नायब सूबेदार अलीवर्दी खां बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा के नायब सरफराज खां से विद्रोह करके उसे युद्ध में परास्त कर मार डाला तथा इस क्षेत्र का स्वयं नवाब बन गया। मुगल सम्राट मोहम्मदशाह ने बहुत से धन के बदले अलीवर्दी खां को बंगाल का नवाब स्वीकार कर लिया। अलीवर्दी खां एक योग्य एवं महत्वाकांक्षी सरदार था, इसने बंगाल की स्थिति को मजबूत बनाने का प्रयास किया, किन्तु इसका अधिकांश

समय एवं शक्ति मराठों से अपने राज्य को बचाने में नष्ट हो गयी। मराठों के बार-बार आक्रमण ने बंगाल में भय एवं अराजकता फैलाई।

अलीवर्दी खां की मृत्यु (1756) से बंगाल की राजनीति में षडयन्त्र, गुटबन्दी एवं आपसी द्वेष की शुरुआत हुई। अलीवर्दी खां को कोई पुत्र नहीं था, केवल तीन पुत्रियां थीं। इनमें बड़ी पुत्री घसीटी बेगम, दूसरी पुत्री का पुत्र शौकत जंग जो पूर्णिया का अधिकारी था तथा छोटी पुत्री का पुत्र सिराजुद्दौला का आपसी सम्बन्ध अच्छा नहीं था। अलीवर्दी ने अपने दौहित्र 17 वर्षीय सिराजुद्दौला को बंगाल का नवाब बनाया, किन्तु घसीटी बेगम एवं शौकत जंग सिराज को नवाब मानने के लिये तैयार नहीं थे। इसलिये सिराजुद्दौला ने सबसे पहले इस आन्तरिक झगड़े को सुलझाने का प्रयास किया। सिराज ने पूर्णिया के नवाब शौकत जंग को परास्त कर मार डाला तथा घसीटी बेगम की शक्ति को तोड़ दिया, लेकिन इससे सिराज की समस्याओं का अंत नहीं हुआ। मराठे और यूरोपीय लोग राज्य में अशान्ति के कारण बने रहे।

3.3.2 अंग्रेज और सिराजुद्दौला

सिराज के नवाब बनने के समय अन्य यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों ने परम्परानुसार दरबार में पेश हुए किन्तु अंग्रेज दरबार में नहीं गये। यूरोप में इस समय सप्तवर्षीय युद्ध की आशंका के कारण भारत में अंग्रेज एवं फ्रांसीसी अपने को सुदृढ़ बनाने लगे। फ्रांसीसी चन्द्र नगर की तथा अंग्रेज कलकत्ता की किलेबन्दी शुरु कर चुके थे। सिराज ने ऐसे कार्यों को अपने राज्य में अनुचित मानते हुए इसे रोकने को कहा। फ्रांसीसी तो मान गये किन्तु अंग्रेजों ने फोर्ट विलियम के चारों ओर खाई तथा परकोटे पर तोपे चढ़ा लिया और सिराज के विरुद्ध कुछ भगोड़ों को शरण भी। इससे क्रुद्ध होकर सिराज ने अंग्रेजों के विरुद्ध अभियान किया। 15 जून 1756 को फोर्ट विलियम घेर लिया गया तथा 5 दिनों में ही अंग्रेजों ने आत्मसमर्पण कर दिया। गर्वनर रोजर ड्रेक एवं अन्य महत्वपूर्ण अंग्रेज पीछे के द्वार से भाग निकले। नवाब कलकत्ता को जीत कर इसका नाम अलीनगर करते हुए इसे मानिकचन्द्र को सौंपकर वापस मुर्शिदाबाद लौट गया।

3.3.3 ब्लैक होल की घटना

यह एक बहुचर्चित घटना है, जिसे अंग्रेज कम्पनी ने नवाब के विरुद्ध आक्रामक युद्ध के लिये प्रचार का साधन बनाये रखा। इस घटना के अनुसार फोर्ट विलियम के पतन के बाद बन्दी बनाये गये अंग्रेज स्त्रियों एवं बच्चों की जिनकी संख्या 146 थी एक 14 फुट 10 इंच की कोठरी में बन्द कर दिया गया। भयंकर गर्मी एवं दम घुटने से अगले प्रातः केवल 23 बन्दी ही जीवित बचे शेष घुटन अथवा कुचले जाने के कारण मर गये।

अंग्रेजों ने इस घटना के लिये सिराज को उत्तरदायी ठहराया। यद्यपि इतिहासकार गुलाम हुसैन अपनी पुस्तक सियार-उल-मुत्बैरीन में इसका कोई उल्लेख नहीं करता है। जे0जेड0 हालवैल जो जीवित बच गया था तथा इस कहानी का रचयिता माना जाता है, किसी बन्दी अथवा करने वाले के नाम का उल्लेख नहीं करता है। इसलिये यह घटना सन्देहास्पद प्रतीत होती है। यदि यह घटना सत्य भी हो तो यह कार्य किसी अधीनस्थ अधिकारी का था, जिसका दोष सिराज पर मढ़ना न्यायोचित नहीं लगता।

3.3.4 अलीनगर की सन्धि फरवरी 1757

मद्रास के अधिकारियों ने कलकत्ता के पतन का समाचार सुनते ही फ्रांसीसियों के विरुद्ध गठित सेना को क्लाव के नेतृत्व में कलकत्ते को इस हिदायत के साथ भेजी कि शीघ्रातिशीघ्र कार्य करके इस सेना को लौटना था, क्योंकि कभी भी इसकी आवश्यकता फ्रांसीसियों के विरुद्ध पड़

सकती थी थी। क्लाइव ने बड़ी आसानी से बिना युद्ध के नवाब के प्रभारी अधिकारी मानिक चन्द्र को घूस देकर कलकत्ता वापस प्राप्त कर लिया। इधर सिराज मराठों के भय के कारण अंग्रेजों से युद्ध न करके फरवरी 1757 में अली नगर की सन्धि कर लिया। इस सन्धि के अनुसार अंग्रेजों को व्यापार के पुराने अधिकार वापस मिल गये। कलकत्ता के किलेबन्दी की अनुमति भी मिली तथा क्षतिपूर्ति का भी वचन दिया गया।

3.4 प्लासी का युद्ध

रॉबर्ट क्लाइव जो एक महत्वाकांक्षी एवं अत्यन्त चालाक व्यक्ति था वह अली नगर की सन्धि से सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसे अपने गुप्तचरों से यह ज्ञात हो चुका था कि सिराजुद्दौला के कई अधिकारी लालची एवं भ्रष्ट हैं, जो पैसों के लिये कुछ भी कर सकते हैं। मानिकचन्द्र का उदाहरण उसके सामने था, अतः क्लाइव ने एक षडयन्त्र रचा जिसमें नवाब के सेनापति मीर जाफर, प्रभावशाली साहूकार जगत सेठ, राय दुर्लभ एवं अमीनचन्द्र सम्मिलित हो गये। इसमें निश्चय हुआ कि मीर जाफर को बंगाल का नवाब बना दिया जाय, जिसके लिये वह कम्पनी एवं मददगार लोगों को धन एवं पद से कृतार्थ करेगा।

उकसावे के लिये अंग्रेजों ने फ्रांसीसी बस्ती चन्द्रनगर को मार्च 1757 में जीत लिया। एक ऐसे समय में जब अफगानों एवं मराठों का भय नवाब को सता रहा था, क्लाइव सेना सहित नवाब के विरुद्ध मुर्शिदाबाद की ओर बढ़ा। जिससे विवश होकर सिराज को भी युद्ध के लिये आगे बढ़ना पड़ा। 23 जून 1757 को दोनों सेनायें मुर्शिदाबाद से 22 मील दक्षिण में प्लासी के स्थान पर एक दूसरे से टकरायी। यद्यपि संख्या की दृष्टि से अंग्रेजों की तुलना में नवाब की सेना बहुत बड़ी थी, किन्तु सेनापति मीर जाफर के विश्वासघात के कारण नवाब की सेना की पराजय हुई। नवाब की सेना के अग्रगामी दल ने जिसका नेतृत्व मीर मदान एवं मोहन लाल कर रहे थे, अंग्रेजी सेना को पीछे हटने के लिये बाध्य किया था, किन्तु सिराज का 2000 घुड़सवारों के साथ वापस युद्ध से लौटना तथा मीर जाफर के असहयोग से बाजी अंग्रेजों के हाथ लगी। मीर जाफर 25 जून को मुर्शिदाबाद लौटा तथा अपने आपको नवाब घोषित कर दिया। सिराज को बन्दी बना लिया गया तथा उसकी हत्या कर दी गयी। मीर जाफर ने अंग्रेजों को उनकी सेवाओं के लिये 24 परगना की जमींदारी से पुरस्कृत किया। क्लाइव को 2 लाख 34 हजार पौंड की भेंट तथा 50 लाख रुपया सेना एवं नाविकों को दिया। बंगाल की समस्त फ्रांसीसी बस्ती अंग्रेजों को दे दी गयी तथा अंग्रेज पदाधिकारियों एवं व्यापारियों को निजी व्यापार पर चुंगी से छूट दे दी गयी।

3.4.1 प्लासी के युद्ध का महत्व

सामरिक दृष्टि से देखा जाय तो इस युद्ध का कोई विशेष महत्व नहीं है क्योंकि यह कोई युद्ध नहीं अपितु छोटी सी झड़प थी, जिसमें अंग्रेजों की तरफ से 65 तथा नवाब की सेना के 500 व्यक्ति हताहत हुए, इसीलिये कैप्टेन पन्निकर ने इस युद्ध के बारे में लिखा है – “यह एक सौदा था, जिसमें बंगाल के धनी सेठों तथा मीर जाफर ने नवाब को अंग्रेजों के हाथ बेच डाला।”

प्लासी के युद्ध का महत्व केवल उसके बाद होने वाली घटनाओं के कारण है, इसी बात को दृष्टिगत रखते हुए मालेसन ने लिखा है कि “सम्भवतः इतिहास में इतना प्रभावित करने वाला युद्ध कभी नहीं लड़ा गया, इस युद्ध के कारण इंग्लैण्ड मुस्लिम संसार की सबसे बड़ी शक्ति बन गया, इसी के कारण उसे मारीशस तथा आशा अन्तरीय को विजय करने तथा उन्हें अपना उपनिवेश बनाने पर बाध्य होना पड़ा तथा मिश्र को अपने संरक्षण में लेना पड़ा।”

यद्यपि मालेसन की यह बात में अतिशयोक्ति होते हुए भी काफी हद तक उचित ही लगती है क्योंकि बंगाल अंग्रेजों के अधीन हो गया और फिर स्वतन्त्र नहीं हो सका। इस युद्ध के

बाद बंगाल की लूट ने अंग्रेजों को अपार साधनों का स्वामी बना दिया। मैकाले के अनुसार अंग्रेजों को बंगाल से मिले धन की पहली किस्त 8 लाख पौंड की थी, जो चांदी के सिक्कों के रूप में थी तथा जिसे 100 से अधिक नावों में भरकर कलकत्ता से लाया गया। बंगाल के इसी धन ने अंग्रेजों को दक्षिण में फ्रांसीसियों के खिलाफ विजय दिलवाई तथा कम्पनी का भी कायाकल्प कर दिया। बंगाल के इसी धन ने आगे चलकर अंग्रेजों की भारत पर सत्ता स्थापित करने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

3.4.2 प्लासी के बाद

मीर जाफर को क्लाइव का गीदड़ कहा जाता है, वह अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली था, जो अपने पद तथा रक्षा के लिये अंग्रेजों पर निर्भर था। प्लासी युद्ध के बाद कम्पनी व्यापारिक कम्पनी की जगह सैनिक कम्पनी बन गयी, जिसे अपने युद्धों के लिये निरन्तर धन की आवश्यकता था। इस धन की पूर्ति मीर जाफर नहीं कर सकता था। शीघ्र ही वह अंग्रेजों के दासत्व से दुखी हो गया। मीर जाफर के ऊपर कम्पनी का बकाया सन् 1760 तक 25 लाख हो गया। इस बकाया धन को चुकाने का सामर्थ्य मीर जाफर में नहीं था, अतः वह डच लोगों से मिलकर अंग्रेजों को भगाने की सोचने लगा। लेकिन क्लाइव ने नवम्बर 1759 में वेदरा के युद्ध में डचों को परास्त कर इस षडयन्त्र को असफल बना दिया। जब मीर जाफर ने इन घटनाओं से अपने को अनभिज्ञ बताया तो उसे गद्दी छोड़ने के लिये बाध्य किया गया।

3.5 अंग्रेज एवं मीर कासिम

मीर जाफर का दामाद मीर कासिम एक योग्य एवं महत्वाकांक्षी व्यक्ति था, उसने इस स्थिति का लाभ उठाकर अपने आपको अंग्रेजों का मित्र तथा नवाब के प्रत्याशी के रूप में प्रस्तुत किया। फलतः मीर कासिम एवं कलकत्ता काउंसिल के बीच सितम्बर 1760 में एक सन्धि हो गयी, जिसके अनुसार :-

- 1- मीर कासिम ने कम्पनी को वर्दवान, मिदनापुर तथा चटगांव के जिले देना स्वीकार किया।
- 2- सिल्हट के चूने के व्यापार में कम्पनी का आधा हिस्सा होगा।
- 3- मीर कासिम कम्पनी को दक्षिण अभियानों के लिये 5 लाख रुपये देगा।
- 4- मीर कासिम कम्पनी के मित्र को मित्र एवं शत्रु को शत्रु मानेगा।
- 5- कम्पनी आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी तथा नवाब को सैनिक सहायता देगी।

सन्धि को कार्यान्वित करने के लिये वेनसिटार्ट एवं केलाड मुर्शिदाबाद पहुंचे। महल घेर लिया गया विश्वासघाती मीर जाफर ने गद्दी छोड़ दी तथा 15 हजार पेंशन पर कलकत्ते में रहना स्वीकार किया। मीर जाफर को अपने कर्मों का फल मिल चुका था। अब अगली बारी मीर कासिम की थी।

3.5.1 नवाब के रूप में कासिम

नवाब बनते ही मीर कासिम ने वेनसिटार्ट, केलाड एवं अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों को 17 लाख रुपये घूस के रूप में दिया। मीर कासिम एक योग्य व्यक्ति था, उसने राजधानी अंग्रेजों से दूर मुंगेर में स्थानान्तरित किया। सेना का गठन यूरोपीय ढंग से तथा तोपों एवं बन्दूकों को बनाने की व्यवस्था की। नवाब मीर कासिम की इच्छा थी कि वह अपना शासन स्वतन्त्र होकर करे। वह अपने राज्य को नेपाल की ओर विस्तारित करने की आशा रखता था, इसलिये उसने पहले बंगाल में शान्ति एवं स्थिरता पैदा करने की कोशिश की उसने बिहार के उप सूबेदार राम नरायन को जो बिहार में लगभग स्वतन्त्र होकर कार्य कर रहा था, उसे सेवा से हटा दिया तथा मार डाला। उसने

उन अधिकारियों पर जिन्होंने गबन किया था, उन पर जुर्माने लगाये तथा आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने के लिये कुछ नये एवं अतिरिक्त कर लगाये। समकालीन इतिहासकार गुलाम हुसैन मीर कासिम के प्रशासन की बड़ी प्रशंसा करता है, वह लिखता है कि मीर कासिम ने प्रशासन की गुत्थियों विशेषकर वित्तीय मामलों को बड़ी कुशलता से सुलझाया। सेना तथा सेवकों को नियमित रूप से वेतन मिलता था, अच्छे लोगों का आदर होता था, उसके व्यवहार में उदाहरता एवं कृपणता दोनों का समावेश था।

3.5.2 कम्पनी एवं कासिम

शुरू में नवाब कासिम एवं कम्पनी के सम्बन्ध मधुर रहे, क्योंकि कासिम ने कम्पनी की आर्थिक मांगों को सफलता से पूरा कर रहा था, किन्तु यह सम्बन्ध अधिक दिनों तक अच्छे नहीं रह सके, कारण था कम्पनी एवं कासिम के उद्देश्य एवं हित एक दूसरे के विपरीत थे। जहां कम्पनी एक डरपोक एवं कठपुतली नवाब चाहती थी, वहीं कासिम स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष नवाब बनने की आकांक्षा रखता था।

गर्वनर हैरी वेरेलस्ट ने अपनी पुस्तक में मीर कासिम एवं कम्पनी के झगड़ों को दो भागों में बांटते एवं लिखा है कि झगड़े का तात्कालिक कारण आन्तरिक व्यापार था, किन्तु वास्तविक कारण नवाब की राजनैतिक महत्वाकांक्षा थी, वह लिखता है – “यह असम्भव था कि मीर कासिम अपनी सरकार की नींव हमारे समर्थन पर रखते हुए स्वाधीनता का व्यवहार करे।” प्रो० डाडवेल भी इसका समर्थन करते हुए लिखते हैं कि “स्थिति की प्रमुख बात यह थी कि अंग्रेज तथा नवाब के हित एक दूसरे के विरोधी थे, स्थिति में स्थिरता उस समय तक नहीं आ सकती थी, जब तक नवाब अपने आपको स्वतन्त्र मानता रहता तथा अंग्रेज वे अधिकार मांगते रहते जो इस परिस्थिति के अनुकूल नहीं थे।”

मीर कासिम एवं कम्पनी का झगड़ा आन्तरिक व्यापार को लेकर शुरू हुआ। कम्पनी को 3000 रुपये के बदले मुगल सम्राट ने व्यापारिक कर से छूट दे दी थी। कम्पनी के आन्तरिक व्यापार पर कोई विवाद नहीं था, बल्कि विवाद कम्पनी के कर्मचारियों के निजी व्यापार को लेकर था। कासिम आन्तरिक व्यापार में उस दस्तक की बात उठाता था, जिसमें कम्पनी के अधीनस्थ कर्मचारी निजी व्यापार करते थे। यह दस्तक केवल अंग्रेज कर्मचारी ही नहीं भारतीय लोगों को भी बेचे जाते थे, इससे नवाब को आन्तरिक व्यापार पर कर का नुकसान होता था। कम्पनी के कर्मचारी केवल कर रहित व्यापार से ही संतुष्ट नहीं थे, वे बाजार से बल प्रयोग द्वारा सामान सस्ता खरीदते थे तथा नवाब के कानूनों का निरादर एवं अपमान करते थे। मीर कासिम ने कम्पनी को लिखा “आपके भद्र पुरुष इस प्रकार का व्यवहार करते हैं, वे समस्त देश में गड़बड़ी फैलाते हैं, लोगों को लूटते हैं तथा मेरे अधिकारियों का निरादर करते हैं तथा उन्हें शारीरिक यातनाएं देते हैं। मूल्य का चौथाई दाम देते हैं। इनके ऐसे कार्यों से मुझे 25 लाख का वार्षिक नुकसान हो रहा है।”

आन्तरिक व्यापार के इस गतिरोध को दूर करने के लिये वेससिटार्ट के नेतृत्व में एक दल नवाब से मिला तथा एक समझौता हो गया जिसमें अंग्रेज कर्मचारियों को व्यापार पर 9 प्रतिशत कर देना था तथा दस्तक देने का अधिकार नवाब का माना गया, किन्तु इस समझौते को कलकत्ते की काउंसिल ने अस्वीकार कर दिया, जिससे क्रुद्ध होकर नवाब ने आन्तरिक व्यापार पर लगे कर को ही समाप्त कर दिया। नवाब के इस निर्णय को अनुचित नहीं ठहराया जा सकता, किन्तु अब अंग्रेजों को होने वाला लाभ कम हो गया। कम्पनी चाहती थी कि नवाब अपनी प्रजा पर कर लगाये। यहां झगड़ा न्याय एवं अन्याय का न होकर शक्ति का था। मीर कासिम की स्थिति विकट हो गयी, लोग उस पर हंसते थे, जो कार्य उसने अपने श्वसुर के विरुद्ध किया था, वही उसके गले आ पड़ा।

3.6 बक्सर का युद्ध सन् 1764

कम्पनी तथा नवाब के इस तनावपूर्ण सम्बन्ध में शान्ति की कोई गुंजाइश नहीं थी। नवाब अपनी कमजोर स्थिति से अनभिज्ञ नहीं था, इसलिये मीर कासिम ने अवध के नवाब एवं मुगल सम्राट से मिलकर अंग्रेजों का खदेड़ने की योजना बनाई। इन तीनों की सम्मिलित सेना का मुकाबला बक्सर नामक स्थान पर अंग्रेजी सेना से हुआ। 22 अक्टूबर 1764 को हुए इस मुकाबले में अंग्रेजी सेनापति मेजर मनरो की जीत हुई। बक्सर में घमासान युद्ध हुआ था। इसमें अंग्रेजों के 847 तथा दूसरी ओर के 2000 सिपाही घायल अथवा हताहत हुए। दोनों ओर से डटकर युद्ध लड़ा गया, किन्तु अधिक कुशल एवं प्रशिक्षित सेना की विजय हुई।

3.6.1 बक्सर के युद्ध का महत्व

बक्सर का युद्ध भारत के इतिहास में होने वाले महत्वपूर्ण युद्धों में से एक है। इस युद्ध के परिणाम भारत के लिए स्थायी एवं दीर्घजीवी हुए। अब प्लासी युद्ध के निर्णय पर पक्की मोहर लग गयी।

भारत में अब अंग्रेजों को चुनौती देने वाला कोई नहीं रह गया। बंगाल में फिर वही कठपुतली मीर जाफर को नवाब बनाया गया। अवध का नवाब अंग्रेजों का आभारी एवं मुगल सम्राट उनका पेंशनर बन गया। इलाहाबाद तक का प्रदेश अंग्रेजों की अधीनता में आ गया तथा दिल्ली को लेने का रास्ता खुल गया। भारत की दासता अब निश्चित थी।

बक्सर युद्ध के बाद फौरी तौर पर मीर जाफर को पुनः नवाब बना दिया गया, किन्तु अब जबकि पूरा उत्तर भारत कम्पनी के कदमों में था, इस जटिल राजनीतिक स्थिति को नियंत्रित करना, बंगाल में शान्ति व्यवस्था बनाना तथा व्यापार को नियमित कर अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने हेतु एक कर्मठ एवं योग्य व्यक्ति की आवश्यकता थी। बक्सर के युद्ध का समाचार जब ब्रिटेन पहुंचा तो सबका मत यह था कि जिस व्यक्ति ने भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की नींव रखी है उसे ही उस साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिये भेजा जाय।

अतएव लार्ड क्लाइव को भारत में अंग्रेजी प्रदेशों का सेनापति एवं गर्वनर बनाकर भेजा गया। क्लाइव ने भारत आकर देखा कि विजय के उपरान्त राजनैतिक स्थिति अनिश्चय की अवस्था में है तथा प्रशासन अस्त व्यस्त है। कम्पनी के कार्यकर्ता एवं पदाधिकारी धन लोलुप होकर पूर्णतया भ्रष्ट हो गये हैं, जिससे कम्पनी का व्यापार एवं जनता की स्थिति चिन्ताजनक बन चुकी है। क्लाइव को अब शीघ्रता से उस स्थिति को सम्भालना था, जिसके लिये उसने निम्न कदम उठाये।

3.6.1.1 बंगाल में कम्पनी का राजनैतिक शक्ति के रूप में उदय

गर्वनर के रूप में क्लाइव के सामने सबसे महत्वपूर्ण चुनौती राजनैतिक व्यवस्था की थी उसे निर्णय लेना था कि अवध एवं मुगल सम्राट के साथ क्या करना है तथा बंगाल में राजनैतिक सत्ता के स्वरूप में किस प्रकार का परिवर्तन करना है।

3.6.1.2 इलाहाबाद की सन्धि

क्लाइव राजनैतिक व्यवस्था के तहत सबसे पहले अवध गया, अवध के नवाब शुजाउद्दौला से इलाहाबाद में भेंट की तथा इलाहाबाद की सन्धि (16 अगस्त 1765) की जिसके अनुसार –

- (1) शुजाउद्दौला इलाहाबाद एवं कारा का जिला सम्राट शाह आलम को देगा।
- (2) युद्ध की क्षतिपूर्ति के लिये कम्पनी को 50 लाख रूपया देगा।

- (3) बनारस के जागीरदार को उसकी जागीर में प्रस्थापित करेगा। इसके बदले कम्पनी उसके समस्त क्षेत्र को लौटा देगी।
इस व्यवस्था के अतिरिक्त नवाब शुजाउद्दौला ने कम्पनी के साथ आक्रामक एवं रक्षात्मक सन्धि की।

3.6.1.3 मुगल सम्राट से सन्धि

क्लाइव ने बड़ी चालाकी से मुगल सम्राट शाह आलम से इलाहाबाद में ही दूसरी सन्धि की, जिसके अनुसार भगोड़े शाह आलम को अंग्रेजी संरक्षण में लिया गया तथा अवध के नवाब से मिले दोनो जिले इलाहाबाद एवं कारा, शाह आलम को दे दिये गये, बदले में सम्राट ने कम्पनी को बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा की दीवानी स्थायी रूप से दिया।

क्लाइव द्वारा इलाहाबाद की सन्धि तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप थी, उसने बड़ी चतुराई से कम्पनी को मराठों एवं अफगानों के झगड़े से बचाते हुए नवाब को मित्रता की सन्धि में बांध दिया तथा सम्राट को अंग्रेजों की कठपुतली बना दिया तथा कम्पनी को कानूनी रूप से बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा का स्वामी बना दिया।

3.7 बंगाल में व्यवस्था स्थापन

क्लाइव ने इलाहाबाद की सन्धि के द्वारा जटिल राजनीतिक समस्या का समाधान तो कर दिया, लेकिन उसे अब बंगाल में व्यवस्था स्थापित करने की चुनौती का भी सामना करना था। बंगाल में व्यवस्था स्थापित करने का जो समाधान क्लाइव ने निकाला उसे ही बंगाल में शासन की 'द्वैध प्रणाली' कहा जाता है।

3.7.1 द्वैध प्रणाली (Dual System)

मुगलों की प्रशासनिक प्रणाली में सूबे का शासन दो अधिकारियों के द्वारा होता था। पहला अधिकारी सूबेदार कहलाता था, जिसका कार्य शान्ति व्यवस्था, फौजदारी एवं सैनिक मामलों को देखना था। सूबे के दूसरे अधिकारी को दीवान कहा जाता था, जिसका प्रमुख कार्य कर व्यवस्था एवं दीवानी कानून देखना था, ये दोनो अधिकारी एक दूसरे से स्वतन्त्र किन्तु केन्द्र के अधीन होते थे, जिससे वे एक दूसरे को नियंत्रित करते थे। मुगलों की इस व्यवस्था को ही क्लाइव ने थोड़े परिवर्तन के साथ लागू किया। क्लाइव ने 26 लाख के बदले दीवानी का कार्य कम्पनी के ऊपर ले लिया तथा मीर जाफर की मृत्यु के बाद नजमुद्दौला को नवाब बनाने की अनुमति के बदले निजामत का कार्य भी कम्पनी के हाथों में केन्द्रित कर लिया। इस प्रकार निजामत एवं दीवानी दोनो का अधिकार कम्पनी के पास आ गया। कम्पनी ने अपने दीवानी कार्य के लिये बंगाल में मुहम्मद रजा खां एवं बिहार के लिये राजा शितान राय को उप दीवान नियुक्त कर दिया। अर्थात् इन दो भारतीय अधिकारियों द्वारा ही कम्पनी ने अपना दीवानी कार्य शुरू किया। निजामत के कार्य के लिये कम्पनी ने नवाब को 53 लाख रुपये देना स्वीकार किया। इस प्रकार कम्पनी ने बंगाल के शासन को इसी द्वैध शासन प्रणाली द्वारा चलाने का प्रयास किया।

3.7.2 द्वैध शासन प्रणाली का प्रभाव

तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए क्लाइव द्वारा अपनायी गयी यह द्वैध शासन प्रणाली अंग्रेजों के लिये हितकर थी क्योंकि द्वैध शासन प्रणाली से कम्पनी का वास्तविक चेहरा छिपा ही रहा, जिससे भारतीय राज्यों के अतिरिक्त यूरोपीय राज्य भी संगठित हो अंग्रेजों का विरोध न कर सके। साथ ही भारतीय माल एवं रीति रिवाजों ने अनभिज्ञ अंग्रेजों के पास कर्मचारी

एवं अधिकारी भी नहीं थे, जो इस कार्य को कर सकते थे। किन्तु बंगाल में रहने वाली जनता की दृष्टि से देखे तो यह शासन प्रणाली पूर्णतया खोखली, भ्रष्ट एवं विनाशक थी।

द्वैध शासन प्रणाली के स्वरूप को प्रकट करते हुए सर जार्ज कार्नवाल ने ब्रिटिश हाउस आफ कामन्स में कहा था "मैं निश्चय पूर्वक यह कह सकता हूँ कि 1765-84 तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार से अधिक भ्रष्ट झूठी तथा बुरी सरकार संसार के किसी भी सभ्य देश में नहीं थी।" इस शासन प्रणाली का दुष्परिणाम जीवन के सभी क्षेत्रों में पड़ा। प्रशासन पूरी तरह से ठप्प एवं चौपट हो गया था। कम्पनी प्रशासन का उत्तरदायित्व स्वीकार नहीं करती थी और नवाब के पास प्रशासन का सामर्थ्य नहीं था। डाकू एवं चोर दिन में लूट पाट करते थे, न्याय केवल विडम्बना मात्र रह गया। भ्रष्ट अंग्रेज अधिकारी एवं उनके भारतीय मातहत गरीब जनता का रक्त चूस रहे थे।

- इस शासन प्रणाली से अन्न एवं खाद्यान्न से भरपूर प्रदेश को उजाड़ बना दिया। कर संग्रह का कार्य अधिक बोली लगाने वाले को ठेके पर दिया जाने लगा, जिनका उद्देश्य अधिकाधिक कर संग्रह था। इस अधिक कर एवं इसके एकत्रित करने की कड़ाई ने कृषकों को कृषि छोड़ने के लिये बाध्य किया। किसान अपनी भूमि एवं गांव छोड़कर जंगलो में भागने एवं छिपने को मजबूर हो गये।
- कृषि को अवनति ने व्यापार एवं वाणिज्य को भी प्रभावित किया। व्यापार एवं वाणिज्य पर अंग्रेजों का एकाधिकार हो गया, जिससे वे माल को कम से कम कीमत पर खरीदते एवं मनमाने दाम पर बेचते थे। भारतीय व्यापारी वर्ग धीरे धीरे नष्ट हो गया। अब वे व्यापारी से भिखारी बन गये।
- जो बंगाल अपने हस्त कुटीर उद्योगों के लिये विश्व प्रसिद्ध था, जहां के कारीगरों की कारीगरी और कौशल का सानी विश्व में कहीं नहीं मिलता था, वह बंगाल एवं उसके करीगर अन्न के लिये मोहताज हो गये। कपास, सिल्क एवं मलमल के कारीगरों को अंग्रेजों ने अपने काम करने के लिये बाध्य किया, जिन्होंने आनाकानी की उनके हाथ के अंगूठे काट लिये गये। कारीगरों एवं जुलाहों को पेशगी के बदले दास बना लिया गया। इस प्रकार इस शासन प्रणाली ने बंगाल के लोगों का बहुत कष्ट दिया, कृषि, व्यापार, उद्योग सब नष्ट हो गये। बंगाल के लोगों का चारित्रिक एवं नैतिक पतन हुआ।

3.7.3 क्लाइव द्वारा आन्तरिक सुधार

क्लाइव जब गवर्नर बन कर भारत आया तो उसके सम्मुख केवल राजनीतिक व्यवस्था बनाने का कार्य ही नहीं था, अपितु उसके सामने कम्पनी के अधीनस्थ अंग्रेज कर्मचारियों एवं कम्पनी प्रशासन को सुधारने की भी चुनौती थी। क्लाइव इस सुधार के लिये दृढ़ था, उसने असैनिक क्षेत्र में उत्पन्न भ्रष्टाचार व घूसखोरी को समाप्त करने के लिये उपहार लेने एवं निजी व्यापार को प्रतिबन्धित कर दिया, किन्तु क्लाइव के इस कार्य का अंग्रेजों ने विरोध शुरू कर दिया।

क्लाइव ने सैनिक क्षेत्र में सैनिकों को मिलने वाले दोहरे भत्ते को बन्द कर दिया क्योंकि इससे बंगाल के सैनिकों का वेतन मद्रास के सैनिकों से अधिक होता था। श्वेत अधिकारियों ने क्लाइव के इस निर्णय का विरोध करने के लिये सामूहिक त्याग पत्र की धमकी दी। लेकिन क्लाइव ने बिना डरे त्याग पत्र मंजूर करते हुए नये लोगों को कमीशन देना प्रारम्भ कर दिया। मद्रास से कुछ अफसर बुलाये गये तथा क्लाइव ने निर्भीकता से सैनिक क्षेत्र में इन सुधारों को कार्यान्वित किया।

क्लाइव 1767 में पुनः इंग्लैण्ड लौट गया। 1760 में जब वह इंग्लैण्ड पहली बार लौटा था तो इंग्लैण्ड में उसका विशेष सम्मान हुआ था तथा वह "लार्ड" की उपाधि से विभूषित

किया गया। किन्तु 1769 में जब वह इंग्लैण्ड पहुंचा तो उसका विरोध हुआ। उस पर रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार के अनेक आरोप लगा कर बदनाम किया गया। हालांकि इंग्लैण्ड की पार्लियामेन्ट ने उसे इन आरोपों से मुक्त करते हुए उसके देशभक्ति की सराहना की। किन्तु इन आरोपों से क्लाइव इतना दुखी हुआ अथवा उसकी आत्मा ने भारत में उसके किये गये अनैतिक कार्यों से मुक्ति के लिये 1774 में आत्महत्या करने पर विवश किया।

1767 से 1769 तक वेरेलस्ट एवं 1769 से 1772 तक कार्टियर बंगाल के गर्वनर रहे। किन्तु इन दोनों के काल में कम्पनी की स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी। द्वैध शासन के अधीन बंगाल की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी। किसान, मजदूर, व्यापारी सबका पतन हो रहा था। बंगाल में भयंकर दुर्भिक्ष एवं महामारी ने बंगाल की जनता की पीड़ा को असहनीय बना दिया। कम्पनी के सेवक अपने स्वार्थ एवं भ्रष्टाचार में इतने लिप्त थे कि ऐसी विषम परिस्थितियों में भी उन्होंने बलपूर्वक अधिक लगान वसूला।

बंगाल को इस दुर्गति से उबारने तथा कम्पनी की साख को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिये वारेन हेस्टिंग्स को 1772 में बंगाल का गर्वनर नियुक्त किया गया। अपने 12 वर्ष के शासन काल में वारेन हेस्टिंग्स ने इस उत्तरदायित्व को योग्यता पूर्वक निभाया जिसके कारण कुछ इतिहासकार ब्रिटिश साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक वारेन हेस्टिंग्स को ही मानते हैं।

3.7.4 क्लाइव का मूल्यांकन

सामान्य परिवार में जन्मा व्यक्ति जिसने जीवन की शुरुआत साधारण पद से की हो और जो सर्वोच्च पद को सुशोभित किया हो वह व्यक्ति साधारण नहीं हो सकता। उपरोक्त बातें क्लाइव को असाधारण बना देती हैं। क्लाइव के मूल्यांकन में इतिहासकारों में मतभेद नहीं है। उसका कारण दृष्टिकोण का अन्तर है। अंग्रेजों के दृष्टिकोण से देखें तो क्लाइव ही वह व्यक्ति है जिसने अर्काट का घेरा डाला और फ्रांसीसियों से अंग्रेजों को बचाया। बंगाल में उसने मुट्ठी भर अंग्रेजी सेना की मदद से प्लासी का युद्ध जीतकर अंग्रेजी सत्ता की नींव डाली। एडमण्ड वर्क ने लिखा है "लार्ड क्लाइव ने स्वयं तो अज्ञात गहराई वाली नदी को अत्यन्त कठिनता से पैदल ही पार किया, परन्तु वह अपने उत्तराधिकारियों के लिये एक ऐसा पुल तैयार कर गया, जिस पर लंगड़े भी चल सकें और अन्धे भी अपना रास्ता टटोल सकें.... अपने विशेष गुणों के कारण क्लाइव उस अभिनय के लिये असाधारण रूप से उपयुक्त था, जो उसे भारतीय रंगमंच पर करना था। तनिक तीखी तात्त्विक शक्ति और अनथक उत्साह यही दो विशेषताओं ने उसे एक साम्राज्य का सच्चा संस्थापक बना दिया।"

अल्फ्रेड लायल के अनुसार "अंग्रेज लोग भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव के लिये अन्य व्यक्तियों से अधिक इस ऊंची उत्तेजना वाले, साहसी तथा अजेय व्यक्ति के ऋणी हैं।"

लार्ड मैकाले ने क्लाइव के कार्य एवं उससे उपजे परिणाम को संतुलित करते हुए लिखा है "उन मनुष्यों की भांति जो जन्मजात तीव्र उत्तेजना एवं प्रलोभनों से प्रेरित होते हैं, क्लाइव ने भी बहुत सी भूलों की परन्तु प्रत्येक व्यक्ति जो उसके समस्त जीवन पर न्याय संगत तथा पक्षपात रहित दृष्टि डालेगा उसे स्वीकार करना होगा कि हमारे द्वीप, जिसने बहुत से वीरों को जन्म दिया है, ने बिरले ही इतने महान व्यक्ति को जो शास्त्रों से तथा सूझबूझ से अलंकृत हो, जन्म दिया है। क्लाइव के भारत में दूसरे आगमन से हमारा राजनैतिक उत्कर्ष आरम्भ होता है। इतना विशाल उर्वर प्रदेश, इतना अधिक कर, इतनी अधिक प्रजा अंग्रेजों के अधीन कभी नहीं हुई।"

इस प्रकार अंग्रेजों को हुए लाभ की दृष्टि से क्लाइव महान है, किन्तु यदि हम भारतीयों की दृष्टि से बात करें तो क्लाइव अजेय तो था, किन्तु उसने कोई युद्ध कौशल एवं वीरता से नहीं बल्कि छल, प्रलोभन एवं धोखे से जीता। उसमें अनेक मानवीय दुर्बलताएं थीं। वह धन

लोलुप, कुचक्री, विश्वासघाती एवं कपटी था। क्लाइव ने भारतीय जनता के हितों की अनदेखी की, उसके द्वारा स्थापित द्वैध शासन व्यवस्था ने भारतीयों को अकथनीय कष्ट एवं क्षति पहुंचाई। के०एम० पन्निकर ने लिखा है कि – “सन् 1765 से 1772 तक कम्पनी ने बंगाल में डाकुओं का राज्य स्थापित कर दिया तथा बंगाल को अविवेकी ढंग से लूटा। इस अवधि में अंग्रेजी साम्राज्य का सबसे भौंडा रूप देखने को मिला तथा बंगाल की जनता ने बहुत दुःख उठाया।”

प्रायः यह कहा जाता है कि भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना का उद्देश्य शान्ति एवं व्यवस्था बनाना था। यदि हम इस कथन पर ध्यान दें तो इस कार्य में क्लाइव का कोई योगदान नहीं था। वस्तुतः उसके कार्य से व्यवस्था की जगह अव्यवस्था ही फैली।

अन्ततः कहा जा सकता है कि यद्यपि उसने अपने देश का महान हित किया, किन्तु इस कार्य में उसने बेईमानी, छल-कपट एवं विश्वासघात का सहारा लिया। लाभ के लिये अनैतिक साधनों का प्रयोग करने वाला व्यक्ति कभी भी महान नहीं हो सकता।

3.8 बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न –

- 1— अली नगर की सन्धि कब हुई?
- 2— काल कोठरी दुर्घटना की कहानी का जनक कौन है?
- 3— प्लासी का युद्ध कब लड़ा गया?
- 4— मीर जाफर कौन था?
- 5— मीर कासिम की राजधानी कहाँ था?
- 6— बक्सर का युद्ध किसके बीच लड़ा गया?

3.9 अन्य पठनीय ग्रन्थ

- | | | |
|-------------------------------|---|------------------|
| ➤ आधुनिक भारत का इतिहास | — | यशपाल एवं ग्रोवर |
| ➤ लाइफ आफ लार्ड क्लाइव | — | जॉन मालेसन |
| ➤ हिस्टोरिकल ऐसे | — | लार्ड मैकाले |
| ➤ क्लाइव इज एन एडमिनिस्ट्रेटर | — | नन्दलाल चटर्जी |
| ➤ मास्टर आफ बंगाल | — | पर्सीवेल स्पीयर |
| क्लाइव एण्ड हिज इण्डिया | | |

3.19 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

- 1— प्लासी युद्ध के कारणों एवं परिणामों पर प्रकाश डालिये?
- 2— बक्सर युद्ध से अंग्रेजों को क्या लाभ हुआ?
- 3— द्वैध शासन प्रणाली एवं गुण दोषों की विवेचना करें।
- 4— लार्ड क्लाइव का ब्रिटिश राज के संस्थापक के रूप में मूल्यांकन करें।

आंग्ल-मराठा संघर्ष

- 1.1- प्रस्तावना
- 1.2- उद्देश्य
- 1.3- मराठा साम्राज्य: एक संक्षिप्त विवरण
- 1.4- पेशवा और मराठा साम्राज्य
- 1.5- आंग्ल-मराठा संघर्ष की पृष्ठभूमि
 - 1.5.1- सूरत की संधि
- 1.6- प्रथम आंग्ल-मराठा संघर्ष
 - 1.6.1- पुरंदर की संधि
 - 1.6.2- सालबाई की संधि
 - 1.6.3- परिणाम
- 1.7- द्वितीय आंग्ल मराठा युद्ध
- 1.8- तृतीय आंग्ल मराठा युद्ध
- 1.9- मराठाओं का पतन
 - 1.9.1- मराठों के आंतरिक मतभेद
 - 1.9.2- मराठा शासन व्यवस्था में दोष
 - 1.9.3- राजनैतिक दूरदर्शिता का अभाव
 - 1.9.4- अयोग्य नेतृत्व
 - 1.9.5- मराठा सैन्य व्यवस्था
 - 1.9.6- अंग्रेजों की श्रेष्ठ कुटनीति एवं गुप्तचर व्यवस्था
- 1.10- सारांश
- 1.11 पारिभाषिक शब्दावली
- 1.12 स्वमूल्यांकित प्रश्न के उत्तर
- 1.13 संदर्भ ग्रंथ की सूची
- 1.14 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

17वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के पतन की प्रक्रिया प्रारंभ होने के साथ ही देश में स्वतंत्र राज्यों की स्थापना का जो सिलसिला आरंभ हुआ, उनमें राजनीतिक दृष्टि से सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य मराठों का था। यह मूल रूप से वर्तमान महाराष्ट्र में शिवाजी के द्वारा स्थापित हुआ। 18वीं शताब्दी के दूसरे दशक में मराठा साम्राज्य का शासन मुख्य रूप से पेशवा के हाथों में आ गया। पेशवा का पद क्रमशः पैतृक और शक्तिशाली होता गया। यदि यह कहा जाए कि पेशवा ही मुख्य रूप से शासक थे तो गलत नहीं होगा। दरअसल पेशवाओं ने मुगल साम्राज्य के खंडहर पर मराठा साम्राज्य का विस्तार किया परन्तु इन्हीं परिस्थितियों का लाभ उठाकर अंग्रेजों का कंपनी शासन भी अपना विस्तार कर रहे थे। यदि मराठे शेष भारतीय शक्तियों में सर्वाधिक शक्तिशाली थे तो अंग्रेज भी शेष यूरोपीय कंपनियों में सर्वश्रेष्ठ थे। अतः दोनों में संघर्ष निश्चित था। 18वीं शताब्दी के अंतिम दशक में आंग्ल-मराठा संघर्ष का सूत्रपात हुआ, जो प्रथम, द्वितीय एवं

तृतीय आंग्ल-मराठा संघर्ष के रूप में घटित हुआ और अंततः अंग्रेज विजयी रहे फलस्वरूप अंग्रेजों ने मराठा राज्यों का विलय अपने राज्य में कर लिया.

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको अंग्रेज और मराठों के बीच हुए संघर्ष से अवगत कराना है. सर्वप्रथम हम संक्षिप्त चर्चा मराठा साम्राज्य के बारे में एवं पेशवा की भूमिका पर करेंगे. इसके बाद ब्रिटिश-मराठा संघर्ष के कारण, परिस्थितियां, संघर्ष के विभिन्न युद्ध, उनके परिणामस्वरूप उभरने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करेंगे. अंत में आंग्ल-मराठा संघर्ष में मराठा साम्राज्य के पतन एवं हार के लिए उत्तरदायी कारकों की भी समीक्षा करेंगे.

1.3 मराठा साम्राज्य: एक संक्षिप्त विवरण

मराठा राज्य की औपचारिक स्थापना 14 जून 1674 को शिवाजी के राज्याभिषेक से माना जाता है. शिवाजी (1627-80) अपने संपूर्ण शासन काल में मुगलों से संघर्ष करते रहे. 1680 में उनकी मृत्यु के पश्चात पुत्र शंभाजी उत्तराधिकारी बने परंतु 1689 में मुगल सेना ने शंभाजी को पराजित कर मार डाला तथा उनके पुत्र साहूजी को कैद कर लिया. मुगलों के विरुद्ध चलने वाले मराठा संघर्ष का नेतृत्व शंभाजी के सौतेले भाई राजाराम (1689-1700) ने जारी रखा. राजाराम के 1700 ई. में मृत्यु के उपरांत उनकी विधवा पत्नी ताराबाई ने अपने चार वर्षीय पुत्र को शिवाजी द्वितीय के नाम सेगद्दी पर बैठाया परन्तु 1707 में मुगल बादशाह औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल शासन की शिथिलताओं का लाभ मराठों को मिला तथा इसी वर्ष साहूजी तो मुगल कैद से रिहा कर दिया गया और वह मराठवाड़ा लौट आया. उसने सत्ता पर अपना अधिकार जताया. सत्ता के विवाद के कारण वर्तमान शासक शिवाजी द्वितीय एवं उनकी संरक्षिका ताराबाई तथा साहूजी के मध्य खेड़ा का युद्ध हुआ. इस युद्ध में साहूजी को बालाजी विश्वनाथ की सहायता से विजय मिली तथा साहूजी मराठा शासक (1707-1748) बने तथा शिवाजी द्वितीय एवं ताराबाई को एक समझौते के तहत कोल्हापुर दे दिया गया. साहूजी ने 1713 में अपने सेनापति बालाजी विश्वनाथ को पेशवा (प्रधानमंत्री) नियुक्त किया. साहूजी के नेतृत्व में पेशवा की सहायता से एक नवीन मराठा साम्राज्य की स्थापना की गई.

1.4 पेशवा और मराठा साम्राज्य

मराठा शासन व्यवस्था में पेशवा नवीन साम्राज्यवाद के प्रवर्तक थे. ये औपचारिक तौर पर तो छत्रपति के प्रधानमंत्री थे परन्तु शासन की वास्तविक शक्तियां क्रमशः पूरी तरह से पेशवा में निहित होती चली गई. बालाजी विश्वनाथ के प्रयास से मुगलों और मराठों के मध्य एक समझौता हुआ. जिसमें दक्कन के 6 मुगल प्रांतों में चौथ एवं सरदेशमुखी का अधिकार, मालवा एवं गुजरात में चौथ वसूली का अधिकार तथा साहूजी को महाराष्ट्र में स्वतंत्र स्थिति की मान्यता दी गई. पेशवा मराठा साम्राज्य में सत्ता और हर प्रकार के संरक्षण का स्रोत बन गया.

बालाजी विश्वनाथ की 1720 में मृत्यु के बाद उनके पुत्र बाजीराव प्रथम (1720-40) को पेशवा नियुक्त किया गया. इस तरह से पेशवा का पद भी पैतृक हो गया. बाजीराव प्रथम के नेतृत्व में मराठा शक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गई. उसने न केवल दक्कन में सर्वोच्चता स्थापित की अपितु दिल्ली में मुगल बादशाह तक उसने आक्रमण किया. बाजीराव प्रथम की मृत्यु के पश्चात बालाजी बाजीराव (1740-61) पेशवा नियुक्त हुए. इन्हीं के कार्यकाल में साहूजी का निधन 15 दिसंबर 1749 को हो गया. साहूजी को कोई संतान नहीं थी. अतः उन्होंने ताराबाई के पौत्र राजाराम द्वितीय को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था. जनवरी 1750 में राजाराम द्वितीय का छत्रपति के रूप में राज्याभिषेक हुआ. ताराबाई शासन पर अपना बर्चस्व चाहती थीं परन्तु पेशवा को यह स्वीकार नहीं था. अतः 1750 में राजाराम द्वितीय एवं पेशवा के बीच संगोला की संधि हुई. जिसके अनुसार मराठाछत्रपति केवल नाममात्र के शासक रह

गए. जबकि वास्तविक शासन पेशवा वंशानुगत तौर पर बन गए. मराठे इतने शक्तिशाली थे कि मुगल बादशाह का निर्णय करने लगे. अवध, बंगाल, उड़ीसा, लाहौर, सरहिंद तक आक्रमण किये.

मराठों को सर्वाधिक क्षति पानीपत के तृतीय युद्ध में अहमद शाद अब्दाली के आक्रमण से हुआ. अब्दाली ने इस युद्ध में मराठों को परास्त किया. इस युद्ध में मराठों का सर्वाधिक जनक्षति हुई. प्रमुख मराठा सरदार मारे गए. इसी के बाद बालाजी बाजीराव की 23 जून 1761 को मृत्यु हो गई. उनका पुत्र माधव राव प्रथम मात्र 17 वर्ष की आयु में पेशवा बना. माधव राव पानीपत के युद्ध से हुई क्षति से आगे निकलकर पुनः एकबार मराठा साम्राज्य के प्रभाव को पुनः स्थापित करने का प्रयास कर ही रहा था कि नवंबर 1772 में क्षय रोग से उसकी मृत्यु हो गई.

1.5 आंग्ल-मराठा संघर्ष की पृष्ठभूमि

पेशवा माधव राव की मृत्यु के बाद उसका भाई नारायण राव पेशवा बना परन्तु एक वर्ष बाद ही उसके चाचा रघुनाथ राव ने उसकी हत्या करवा दी और स्वयं पेशवा का पद प्राप्त करने का प्रयास करने लगा. पेशवा पद प्राप्त करने का यही आंतरिक मतभेद एवं संघर्ष ने अंग्रेजों को हस्तक्षेप करने का अवसर दे दिया.

रघुनाथ राव (रघोबा) पेशवा का पद प्राप्त करने में असफल रहा क्योंकि उसपर हत्या के आरोप के कारण प्रमुख मराठा सरदार उससे नाराज थे तथा इसी बीच नारायण राव की विधवा गंगाबाई ने 18 अप्रैल 1774 को एक पुत्र को जन्म दिया. मराठा सरदारों के परिषद ने 28 मई 1774 को गंगाबाई के पुत्र को माधवराव नारायणराव द्वितीय के नाम से पेशवा स्वीकार कर लिया. अल्पायु के पेशवा माधव नारायण राव द्वितीय की सहायता के लिए मराठा सरदारों का एक 12 सदस्यीय परिषद बना. जिसे 'बाराभाई परिषद' के नाम से जाना जाता था. इस परिषद में सखा राम बापू, महादजी सिंधिया और नाना फडनवीस जैसे प्रमुख मराठा सरदार थे. वहीं दूसरी ओर मराठा सरदारों की परिषद ने रघुनाथ राव पर हत्या की जांच की सिफारिश भी कर दी. रघुनाथ राव ने अपने जीवन को खतरे में देख अंग्रेजों की शरण ली और उनसे स्वयं को पेशवा बनाने की अपील की. इस प्रकार अब पेशवा पर को लेकर मराठों के बीच चल रहा आंतरिक संघर्ष खुलकर सामने आ गया.

1.5.1 सूरत की संधि

6 मार्च 1775 ई. में रघुनाथ राव और ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के बंबई प्रेसिडेंसी के बीच एक संधि हुई. जिसे 'सूरत की संधि' के नाम से जाना जाता है. इस संधि की प्रमुख शर्तों के अनुसार –

- ईस्ट इंडिया कंपनी रघुनाथ राव को पेशवा पद प्राप्त करने में सहायता प्रदान करेगी.
- रघुनाथ राव कंपनी की बंबई प्रेसिडेंसी को बसीन, सालसेट और जम्बूसर (गुजरात) के प्रदेश देगा.
- इसके बदले रघुनाथ की सहायता के लिए 2500 अंग्रेज सैनिक पूना में रखे जाएंगे. जिसका खर्च 1.25 लाख रुपये प्रति वर्ष के हिसाब से रघुनाथ कंपनी को देगा.
- रघुनाथ राव अंग्रेजों को शामिल किए बिना कोई संधि नहीं करेगा.

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि 1773 ई. में ब्रिटिश संसद में रेग्यूलेटिंग एक्ट पारित होता है. जिसके माध्यम से बंबई और मद्रास प्रेसिडेंसियों पर बंगाल के गवर्नर जनरल एवं उसकी काउंसिल का नियंत्रण स्थापित किया गया. जबकि बंबई प्रेसिडेंसी ने बिना गवर्नर जनरल के अनुमति के सूरत की संधि की और मात्र पत्र लिखकर गवर्नर जनरल को इसकी सूचना भेज दी.

इस तरह मराठे के आपसी झगड़े, अंग्रेजों की महात्वाकांक्षा एवं सूरत की संधि के कारण आंग्ल-मराठा संघर्ष की नींव डाल दी. सूरत की संधि (6 मार्च 1775) के बाद बंबई की कंपनी सरकार ने रघुनाथ राव की सहायता के लिए अंग्रेज सेना भेज दी. यहीं से आंग्ल-मराठा युद्ध की शुरुआत होती है.

1.6 प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध (1775-82)

प्रथम आंग्ल-मराठा संघर्ष लगभग 7 वर्ष तक चलता है. इसकी शुरुआत 18 मई 1775 को अरास नामक जगह पर होती है, जहां मराठा एवं अंग्रेजी सेना के बीच युद्ध से होता है. जिसमें मराठे परास्त हुए और सालसेट पर अधिकार कर लिया. परंतु उसी समय बंगाल के गवर्नर जनरल की काउंसिल ने सूरत की संधि को अस्वीकार करते हुए मराठों के विरुद्ध चल रहे युद्ध को बंद करने का आदेश दिया क्योंकि यह संधि रेग्यूलेटिंग एक्ट के विरुद्ध थी तथा इसके चलते कंपनी को अनावश्यक युद्ध में भाग लेना पड़ा. उसके बावजूद भी ये युद्ध बंद नहीं हुआ. बंगाल काउंसिल ने कर्नल आप्टन को मराठों से बातचीत के लिए भेजा परंतु आप्टन एवं मराठों के बीच रघुनाथ राव को लेकर मतभेद हो गया. मराठे चाहते थे कि रघुनाथ राव को कंपनी उन्हें सौंप दे जबकि आप्टन इस बात पर तैयार नहीं था. साथ ही आप्टन सालसेट व बसीन पर अधिकार बनाए रखना भी चाहता था, अतः वार्ता असफल हो गई.

1.6.1-पुरंदर की संधि

प्रथम आंग्ल-मराठा संघर्ष (1775-1782) के बीच इस तरह के संधि करने के कई प्रयास हुए परंतु सफलता नहीं मिली. 1776 ई. में दोनों पक्षों ने पुरंदर में बातचीत की, जिसे पुरंदर की संधि कहा गया. इस पर संधि मराठों की ओर से सुखाराम बापू तथा ब्रिटिश की तरफ से कर्नल आप्टन अधिकृत रूप से बात कर रहे थे. इसी संधि को 'पुरंदर की संधि' कहा जाता है. इस संधि की प्रमुख शर्तें इस प्रकार थीं-

- कंपनी ने माधवराव नारायण राव द्वितीय को पेशवा और नाना फडनवीस को उसका संरक्षक मान लिया.
- अंग्रेजों ने रघुनाथ राव (रघोबा) को युद्ध में लिए समर्थन के लिए जो राशि खर्च की है. उसके लिए मराठा अंग्रेजों को 12 लाख रुपये देंगे.
- सूरत की संधि को रद्द कर दिया गया.
- मराठों ने रघोबा को 3 लाख 15 हजार रुपये वार्षिक पेंशन देना स्वीकार कर लिया.
- रघोबा कोई सेना नहीं रखेगा तथा गुजरात के कोपरगांव में जा कर रहेगा.
- कंपनी ने मराठों से सालसेट एवं बसीन जो प्राप्त किए थे, कंपनी के पास ही रहेंगे.

परंतु कुछ महीने शांति रहने के बाद दोनों पक्षों में फिर से युद्ध आरंभ हो गए. जनवरी 1779 में पूना के निकट तेलगांव में भयंकर युद्ध हुआ. जिसमें मराठा सेना ने ब्रिटिश सेना को बुरी तरह से परास्त कर दिया और अंग्रेज बड़गांव की अपमानजनक संधि करने पर मजबूर हो गए. इस संधि की शर्तों के अनुसार कंपनी रघोबा को मराठों के हवाले करेगी तथा कंपनी ने अबतक जिन मराठा प्रदेशों पर अधिकार किया था, वे मराठों को सौंप देंगे. कंपनी जब तक शर्तें न पूरा करे तब तक दो अंग्रेज अधिकारी बंधक के तौर पर मराठों की कैद में रहेंगे.

यह संधि अंग्रेजों के लिए घोर अपमानजनक थी. वारेन हेस्टिंग ने इसे स्वीकार नहीं किया तथा मराठों के खिलाफ दो अलग-अलग सेना भेज दी. जिनमें से एक का नेतृत्व कर्नल पोफम कर रहा था, वहीं दूसरी सेना का नेतृत्व कर्नल गॉर्डर कर रहा था. जब नाना फडनवीस को यह खबर मिली तो उसने हैदराबाद के निजाम और मैसूर के हैदर अली को अपने

साथ मिलाया किंतु वारेन हेस्टिंग ने निजाम को कूटनीति से अलग कर दिया. कर्नल गॉर्ड अहमदाबाद एवं बसीन पर अधिकार करते हुए 1780 में बड़ौदा पहुंचा और वहां से पूना की ओर प्रस्थान किया किंतु पूना के निकट मराठों ने उसे काफी क्षति पहुंचाई. इधर कर्नल पोफम अगस्त ने 1780 में ग्वालियर दुर्ग पर अधिकार कर लिया. उसके बाद सिप्री नामक स्थान पर महादजी सिंधिया ने कर्नल पोफम को बुरी तरह से परास्त किया. इधर दूसरी तरफ हैदर अली ने कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया. इसके बाद अंग्रेज निरंतर हारने लगे. जिसके कारण उनका मनोबल गिरने लगा. ऐसी परिस्थिति को देखते हुए वारेन हेस्टिंग ने एंडरसन को मराठों से संधि करने के लिए भेजा. हेस्टिंग ने एंडरसन और नाना फड़नवीस को जो पत्र लिखा है, उससे स्पष्ट होता है कि हेस्टिंग संधि करने के लिए बहुत व्यग्र था.

1.6.2- सालबाई की संधि

17 मई 1782 को अंग्रेजों एवं मराठों के बीच 'सालबाई की संधि' हुई. इस संधि की प्रमुख शर्तें इस प्रकार हैं.

- अंग्रेजों ने रघोबा का साथ छोड़ने का आश्वासन दिया तथा मराठे रघोबा को 25 हजार रुपये की मासिक पेंशन देंगे.
- सालसेट तथा भड़ौच को छोड़कर कंपनी सभी अधिकृत मराठा प्रदेशों पर अपना अधिकार छोड़ने के लिए सहमत हो गई.
- कंपनी ने माधव राव नारायण राव द्वितीय को पेशवा तथा फतेह सिंह गायकवाड़ को बड़ौदा का शासक स्वीकार कर लिया.
- इस संधि के स्वीकृति के 6 महीने के भीतर मैसूर शासक हैदर अली जीते हुए प्रदेशों को लौटा देगा.

इस संधि पर महादजी सिंधिया और नाना फड़नवीस के बीच मतभेद उत्पन्न हो गए क्योंकि नाना फड़नवीस का मित्र हैदरअली अभी भी अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध मैदान में था. अतः अंग्रेजों से संधि करना हैदर अली के साथ विश्वासघात जैसा था. जब 7 दिसंबर 1782 को हैदर अली की मृत्यु हो गई, तब नाना फड़नवीस ने 20 दिसंबर 1782 को इस संधि पर हस्ताक्षर किया.

1.6.3- प्रथम आंग्ला-मराठा युद्ध का परिणाम

सामान्य तौर पर सालबाई की संधि की शर्तें मराठों के पक्ष में दिखाई पड़ती हैं. इसके बाद लगभग 20 वर्ष तक मराठों एवं अंग्रेजों के बीच शांति बनी रही. इस संधि से पेशवा एवं महादजी सिंधिया का महत्व बढ़ गया. यहां तक कि महादजी सिंधिया को अंग्रेजों ने आश्वासन दिया कि वो मुगल बादशाह शाह आलम के मामले में हस्तक्षेप नहीं करेंगे. परन्तु विशेष तथ्य यह है कि इस संधि के द्वारा अंग्रेजों ने मराठे एवं मैसूर की मित्रता समाप्त कर दी. मैसूर का शासक मराठा सहायता नहीं प्राप्त कर सका. हालांकि हैदर अली के मरने के बाद भी उसके बेटे टीपू सुल्तान ने अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष को जारी रखा किंतु मराठों की ओर से उसे कोई सहायता नहीं दी गई. अंग्रेजों ने मैसूर को पराजित करके दक्षिण भारत में कंपनी का प्रभुत्व स्थापित कर दिया. अतः सालबाई के संधि के द्वारा अंग्रेजों ने अपने को भारतीय शक्ति के सामूहिक विरोध से बचा लिया तथा दूसरी तरफ भारतीय शक्ति को विभाजित करने में भी सफलता प्राप्त कर ली.

1.7 द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध (1798-1805)

लार्ड वेलेजली (1798-1805)को बंगाल का गर्वनर जनरल नियुक्त किया गया. उस समय अंग्रेजों को फ्रांसीसियों से भी भय था, जो अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम में अंग्रेजों के विरुद्ध मदद किए थे. वेलेजली ने सहायक संधि की प्रणाली का विकास किया. जिसके माध्यम से वह समस्त भारतीय राज्यों पर कंपनी का प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था और इसी क्रम में वो मराठों को भी सहायक संधि के जाल में फंसाना चाहता था.

दूसरी तरफ पेशवा माधवराव नारायणराव द्वितीय की 1796 में मृत्यु हो गई. जिसके बाद रघोबा का पुत्र बाजीराव द्वितीय (1796-1818) मराठा साम्राज्य का अंतिम पेशवा बना. पेशवा के उत्तराधिकार के विवाद ने पूरे मराठा साम्राज्य को ही उलझा कर रख दिया. बाजीराव द्वितीय प्रधानमंत्री नाना फड़नवीस को पसंद नहीं करता था और उससे आजादी चाहता था. इसी बीच 1800 ई. में नाना फड़नवीस की मृत्यु होगई. कहा जाता है कि नाना की मृत्यु के साथ ही मराठाओं में नेतृत्व एवं सूझबूझ समाप्त हो गया. बाजीराव द्वितीय ने खुद मराठा सरदारों के मध्य झगड़े और षड़यंत्र करवाए परंतु खुद भी उसमें उलझ गया. दौलत राव सिंधिया एवं जसवंत होल्कर दोनों ही पूना में अपना प्रभुत्व जमाना चाहते थे. जिसमें सिंधिया सफल रहा तथा बाजीराव द्वितीय के समर्थन में आ गया. यशवंत राव होल्कर ने मल्हाव राव होल्कर की हत्या करके उसके पुत्र को बंदी बना लिया. 1801 में पेशवा बाजीराव द्वितीय ने यशवंत राव होल्कर के भाई की हत्या कर दी. यशवंत राव ने पूना पर आक्रमण कर दिया तथा सिंधिया और पेशवा को संयुक्त रूप से पराजित किया और पूना को अपने अधिकार में ले लिया. उसने अमृतराव के बेटे विनायक राव को पूना की गद्दी पर बैठा दिया. बाजीराव द्वितीय ने भागकर बेसिन में शरण ली और अंग्रेजों से मदद की गुहार लगाई. 13 दिसंबर को पेशवा बाजीराव और अंग्रेजों के बीच एक सहायक संधि हुई. जिसे 'बेसिन की संधि' के नाम से जाना जाता है. विदित हो कि इससे पूर्व कंपनी हैदराबाद के निजाम से सहायक संधि कर चुकी थी तथा मैसूर को पूरी तरह से शक्तिहीन कर चुकी थी. इस संधि के अनुसार पेशवा निम्न शर्तों को मानने के लिए तैयार हो गए थे-

- 6000 अंग्रेजी सैनिक पेशवा की सहायता के लिए तैनात किए जाएंगे, जिसका खर्च 26 लाख रुपये प्रति वर्ष था. पेशवा इतने ही वार्षिक आय का भूभाग अंग्रेजों के देगा. साथ ही अपने दरबार में एक अंग्रेज रेजिडेंट नियुक्त करेगा.
- पेशवा अंग्रेजों की अनुमति के बिना किसी भी अन्य यूरोपियन को अपने राज्य में न तो नियुक्त करेगा और न ही रहने की आज्ञा देगा.
- पेशवा हैदराबाद के निजाम एवं बड़ौदा के गायकवाड़ के साथ अपने विवादों में कंपनी की मध्यस्थता स्वीकार करेगा.
- पेशवा सूरत से अपना अधिकार छोड़ देगा.
- पेशवा कंपनी की अनुमति के बिना किसी भी देसी राज्य के साथ युद्ध या संधि नहीं करेगा.

बेसिन की संधि के द्वारा कंपनी को मराठों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार मिल गया. पेशवा ने मराठों के सम्मान एवं स्वतंत्रता को कंपनी के हाथों में बंधक रख दिया. मराठों के लिए यह राष्ट्रीय अपमान से कम नहीं था. दूसरी तरफ इस संधि ने ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के लिए अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न कर दी.

कंपनी ने बाजीराव द्वितीय को सेना के संरक्षण में पूना भेजकर गद्दी पर तो बैठा दिया परंतु मराठा सरदार इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं थे. मराठा सरदार आपस में एकता का प्रयास करने लगे. गायकवाड़ अंग्रेजों का मित्र था, इसलिए

उसने अंग्रेज विरोधी संघ में शामिल होने से इंकार कर दिया परंतु सिंधिया और भोंसले एक हो गए. होल्कर भी सिंधिया से व्यक्तिगत दुश्मनी के कारण इसमें शामिल नहीं हुआ. अतः सिंधिया और भोंसले अंग्रेजों के खिलाफ युद्ध की तैयारी शुरू कर दी. उधर लार्ड वैलेजली ने एक सेना अपने भाई आर्थर वैलेजली तथा दूसरी सेना जनरल लेक के नेतृत्व में मराठों के खिलाफ भेज दी. आर्थर वैलेजली ने अहमदनगर जीतते हुए अजंता एवं एलोरा के निकट असाई नामक स्थान पर सिंधिया एवं भोंसले की संयुक्त सेना को पराजित किया फिर असीरगढ़ एवं अरगाव में भी परास्त किया. अंततः 17 दिसंबर 1803 को रघु जी भोंसले एवं अंग्रेजों के बीच गोवगांव की संधि हुई. इस संधि की शर्तों के अनुसार-

- भोंसले ने कटक एवं वर्धा नदी के तटवर्ती क्षेत्र कंपनी को दे दिए.
- अपनी सेवा से सभी विदेशियों को निकाल दिया.
- निजाम एवं पेशवा के साथ मतभेद सुलझाने के लिए कंपनी की मध्यस्थता स्वीकार करेगा.

भोंसले ने अंग्रेजों की सहयक संधि की सभी शर्तों को मान तो लिया, किंतु राज्य में कंपनी की सेना रखने की शर्त स्वीकार करने से मना कर दिया. वैलेजली ने भी इसपर ज्यादा दबाव नहीं दिया.

उधर जनरल लेक ने उत्तर भारत के अलीगढ़ से अपनी विजय शुरू करते हुए दिल्ली और फिर भरतपुर पर आक्रमण किया. भरतपुर के बाद आगरा पर आक्रमण किया और अंत में लासवाड़ी नामक जगह पर सिंधिया को हराकर 30 दिसंबर 1803 ई. को सिंधिया से 'सूरजी-अर्जनगांव की संधि' की. इस संधि की शर्तों के अनुसार-

- गंगा एवं यमुना के बीच का क्षेत्र कंपनी को दे दिया गया.
- बुंदेलखंड और अहमदनगर का दुर्ग, भड़ौच, अजंता घाट भी कंपनी को दे दिए गए.
- अपने दरबार में ब्रिटिश रेजिडेंट रखना स्वीकार कर लिया.
- सिंधिया को 6 बटालियन की सेना दी जाएगी. जिसका खर्च उसके द्वारा दिए गए भू-क्षेत्र से प्राप्त राजस्व से पूरा किया जाएगा.
- अंग्रेजों की अनुमति के बिना किसी भी यूरोपियन को नहीं रखा जाएगा.

इस प्रकार सिंधिया और भोंसले ने भी बेसिन की संधि को स्वीकार कर लिया. इस सफलता से उत्साहित कंपनी ने घोषणा कर दी कि युद्ध के प्रत्येक उद्देश्य को प्राप्त कर लिया गया है. परंतु होल्कर, जो अंत तक इन घटनाओं से अलग था. उसने अप्रैल 1804 ई. में राजस्थान में कंपनी के मित्र राज्यों पर आक्रमण कर दिया. हालांकि शुरूआत में होल्कर को कुछ आरंभिक सफलता मिली परंतु बाद में वैलेजली के निर्देश पर आर्थर वैलेजली के नेतृत्व में दक्षिण से तथा कर्नल मेर के नेतृत्व में गुजरात की ओर से होल्कर के राज्यों पर आक्रमण किया गया. बाद में एक और सेना कर्नल मान्सन के नेतृत्व में राजपूताने की ओर से भेजी गई और अंततः होल्कर को पराजित होना पड़ा. 25 दिसंबर 1805 को 'राजपुर घाट संधि' करनी पड़ी. इस संधि की शर्तों के अनुसार-

- चंबल नदी के उत्तरी प्रदेश, बुंदेलखंड छोड़ दिए गए.
- अपनी सेवा में किसी यूरोपियन की नियुक्ति नहीं करना.
- इसके बदले मालवा और मेवाड़ पर होल्कर का अधिकार मान लिया गया.

इस प्रकार से यह द्वितीय आंग्ल-मराठा संघर्ष का अंत था. लार्ड वैलेजली भी वापस इंग्लैंड चले गए और उनकी जगह सर जार्ज बाल्लो को भेजा गया. इस युद्ध के अंत तक कंपनी भारत में सर्वश्रेष्ठ शक्ति के रूप में स्थापित हो गई.

1.8 तृतीय आंग्ल-मराठा युद्ध (1817-18)

तृतीय आंग्ल-मराठा संघर्ष की शुरुआत लार्ड हेस्टिंग्स के कार्यकाल में हुआ, जो 1813 में कंपनी का गवर्नर जनरल नियुक्त हुआ. हेस्टिंग्स ने मराठों के अनियमित सैनिक, जिनको पिण्डारी कहा जाता था, उनके खिलाफ अभियान से शुरु हुआ. पिण्डारी मालवा एवं राजस्थान के गावों में लूटपाट किया करते थे. हेस्टिंग्स के अभियान से मराठा प्रभुत्व को चुनौती मिली. हेस्टिंग्स ने भोंसले (1816), पेशवा (1817) तथा सिंधिया (1817) को बहुत अपमानजनक संधि करने के लिए बाध्य किया. इससे विवश होकर पेशवा ने विद्रोह कर दिया. सभी मराठा अपमान की आग में जल रहे थे. पेशवा ने किंकी की रेजिडेंसी पर आक्रमण कर जला दिया परंतु अंत में पराजित हुआ और उसे पीछे हटना पड़ा. पेशवा भागकर सतारा गया परंतु वहां से भी उसे भागना पड़ा और पहले कोरेगांव और उसके बाद 20 फरवरी 1818 को आस्थी में उसे पराजय का मुंह देखना पड़ा. जून 1818 में उसने आत्मसमर्पण कर दिया. इसके बाद कंपनी ने पेशवा का पद ही समाप्त कर दिया और उसके संपूर्ण राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया. पेशवा को 8 लाख रुपये वार्षिक पेंशन देकर कानपुर के नजदीक बिठूर नामक स्थान पर भेज दिया गया. पेशवा के सहायक त्रिंबक जी को भी पकड़कर चुनार के किले में जीवनपर्यंत के लिए कैद रखा गया.

एक-एक करके अन्य मराठा सरदार भोंसले और होल्कर को भी युद्ध में पराजित करके शक्तिहीन बना दिया गया. सिंधिया और गायकवाड़ तो युद्ध में भाग लेने का साहस तक नहीं कर सके. मराठा संघ समाप्त हो गया और उसके साथ ही भारत में अंग्रेजी शक्ति का मुकाबला करने वाली अंतिम शक्ति का भी अंत हो गया. अंग्रेजों ने नाममात्र के लिए शिवाजी के एक वंशज प्रताप सिंह को सतारा का राजा बना दिया परंतु उनमें अंग्रेजी सत्ता के विरोध का कोई साहस नहीं था. प्रिंसेप के अनुसार, “ अंग्रेजी प्रभाव और सत्ता जादू की तरह भारत में फैल गई.” इस प्रकार भारत की राजसत्ता के लिए अंग्रेजों से हुआ संघर्ष समाप्त हो गया.

1.9 मराठों के पतन का कारण

मुगल साम्राज्य के पतन के बाद भारत में शीघ्रता से मराठों ने प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास किया. मराठे संपूर्ण भारत पर शासन तो नहीं स्थापित कर सके परंतु संपूर्ण भारत उनसे आतंकित था. वे भारत के सभी भागों से चौथ और सदशमुखी वसूलते थे. बंगाल और पंजाब के अलावा राजस्थान, अवध, हैदराबाद, कर्नाटक, मैसूर आदि के शासक उन्हें कर देते थे. गुजरात, मालवा, बुंदेलखंड, महाराष्ट्र आदि उनके अधीन थे. मुगल बादशाह तक उनके पेंशनर थे. उस समय मराठे ही भारत में सबसे शक्तिशाली माने जाते थे. मराठों की यह शक्ति जिसने पूरे भारत को रौद दिया था, अंग्रेजों के सामने कमजोर पड़ गई. प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध वारेन हेस्टिंग के समय, दूसरा आंग्ल-मराठा युद्ध लार्ड वैलेजली तथा तीसरा लार्ड हेस्टिंग्स के कार्यकाल में हुआ. तीसरे व अंतिम संघर्ष के परिणाम स्वरूप पेशवा का पद समाप्त करके कंपनी का पेंशनर बना दिया गया. मराठा राज्यों में अंग्रेजी सेनाएं नियुक्त कर दी गईं. आंतरिक व विदेश नीति कंपनी के अधिकारी तय करते थे. अतः संपूर्ण भारत में अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने वाले मराठा अंग्रेजों के अधीन हो गए.

मराठा साम्राज्य के पतन को लेकर इतिहासकारों में अलग-अलग मत हैं.

जानेमाने इतिहासकार डॉक्टर तारा चंद के अनुसार 1761 ई. में हुए पानीपत के तृतीय युद्ध से बहुत पहले ही मराठों के पतन के कारण विद्यमान थे. जबकि डॉक्टर जदुनाथ सरकार ने पानीपत के तृतीय युद्ध की पराजय को मराठों के पतन

का कारण बताया. डॉक्टर एम.एन. सेन के अनुसार मराठा साम्राज्य की प्रगति में ही उसके पतन के कारण निहित हैं. मराठों की तीव्र प्रगति ने उन्हें आपस में विभाजित कर दिया, जो उनके पतन का मुख्य कारण बना. ग्राण्ट डफ और सरदेसाई भी पानीपत के तृतीय युद्ध की पराजय को मराठों के पतन का मुख्य कारण मानते हैं. सरदेसाई के अनुसार पेशवा माधवराव प्रथम की मृत्यु के समय से मराठों का पतन शुरू हो गया था.

आंग्ल-मराठा संघर्ष में मराठों के पराजय के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं-

1.9.1- मराठों के आंतरिक मतभेद

मराठा साम्राज्य एक राज्य न होकर संघ राज्य था. जिसमें शक्तिशाली मराठा सरदार स्वतंत्र व्यवहार करते थे. उनमें एकता का पूर्ण अभाव था. जैसे-जैसे पेशवा कमजोर होते गए, मराठा संघ बिखरता चला गया. सिंधिया, होल्कर, गायकवाड़ और भोसले जैसे मराठा सरदार आपस में ही लड़ते रहे और जरूरत पड़ने पर एक-दूसरे के विरुद्ध अंग्रेजों की मदद लेने से भी परहेज नहीं करते थे. अतः अंग्रेजों को मराठों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने तथा उन्हें कमजोर करने का अवसर मिल गया. पूना दरबार के झगड़े का लाभ उठाकर अंग्रेजों ने प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध में भाग लिया था. अतः मराठों का पारस्परिक संघर्ष, एकता का अभाव और केंद्रीय राज्य की कमी सबसे बड़ी कमजोरी थी.

1.9.2- मराठा शासन व्यवस्था का दोष

मराठा राज्य के राजनीतिक एवं प्राशासनिक व्यवस्था में भारी दोष थे. मराठों ने कभी भी आम नागरिकों की शिक्षा, रक्षा, सामुदायिक विकास, भौतिक उन्नति का कोई प्रयत्न नहीं किया. उन्होंने जनता के एकीकरण का भी कोई प्रयास नहीं किया. उनका कार्य धन लूटना और अपनी शक्ति को स्थापित करना भर था. लूटमार एवं उत्तर भारत से प्राप्त होने वाली धन-संपत्ति ने उन्हें विलासप्रिय बना दिया था. उनके सरदारों का भी नैतिक पतन हो चुका था. जिस नागरिक समाज ने मुगल साम्राज्य से संघर्ष में विशेष भूमिका निभाई थी, आंग्ल-मराठा संघर्ष में उदासीन बने रहे.

1.9.3- राजनैतिक दूरदर्शिता का अभाव

मराठा सरदारों में राजनीतिक दूरदर्शिता का स्पष्ट अभाव दिखाई देता है. मराठों ने कभी भी पतन की ओर अग्रसर हो रहे मुगल साम्राज्य पर अपना दावा नहीं किया. वे चाहते तो मुगल बादशाह को हटाकर छत्रपति या पेशवा को भारत का सम्राट बना सकते थे. उस स्थिति में मराठों के नेतृत्व में भारत की एकता संभव थी, परंतु मराठों ने एक राजनीतिक गुट की तरह केवल मुगल बादशाह को अपनी कठपुतली बनाने में अपनी सफलता समझ ली थी. यदि मराठे दिल्ली के सम्राट बनते तो अंग्रेजों के खिलाफ सभी छत्रपतियों एवं राज्यों को एक साथ ला सकते थे.

1.9.4- अयोग्य नेतृत्व

किसी भी राजनैतिक व्यवस्था में उसके नेतृत्व की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है. 18वीं सदी के अंत तक महादजी सिंधिया, अहिल्याबाई होल्कर, पेशवा माधव राव, तुको जी होल्कर तथा नाना फडनवीस जैसे योग्य मराठा सरदारों की मृत्यु हो चुकी थी. पेशवा बाजीराव द्वितीय, दौलत राव सिंधिया तथा जसवंत राव होल्कर जैसे सरदारों का नेतृत्व पूरी तरह से दुर्बल एवं स्वार्थी से भरा था. यह आपस में ही संघर्ष करते थे. इनका नैतिक रूप से पतन हो चुका था. जनता इनके लूट, कुशासन और उत्पीड़न से त्रस्त हो चुकी थी. दूसरी तरफ आंग्ल सेना के पास एलफिंस्टन, माल्कम, आर्थर वैलेजली, जनरल लेक, लार्ड वैलेजली जैसा योग्य राजनीतिक एवं सैन्य नेतृत्व प्राप्त था. मराठों के अयोग्य नेता कूटनीति, कौशल एवं युद्ध क्षेत्र में अंग्रेजों के सामने ठहर नहीं पाए.

1.9.5- मराठा सैन्य व्यवस्था

आंग्ल सैन्य व्यवस्था मराठों की तुलना में अत्यधिक अनुशासित, प्रशिक्षित एवं तकनीकी रूप से सुसज्जित थी। आंग्ल सैन्य नेतृत्व भी मराठा नेतृत्व से कुशल था। दूसरा मराठों की गुरिल्ला युद्ध प्रणाली को छोड़कर यूरोपियन तरीके से युद्ध करना एक भारी भूल थी। अल्फ्रेड लायन ने अपनी पुस्तक Rise and Expansion of British power in India में इस मत का समर्थन किया है परंतु उत्तर भारत में गुरिल्ला युद्ध प्रणाली से युद्ध नहीं हो सकता था। वास्तव में दुर्बलता का कारण यूरोपियन तरीके अपनाने के बाद उचित मात्रा में फैक्ट्रियों में हथियार का उत्पादन न होना भी था। तोपों एवं बारूद के कारखाने लगाए गए लेकिन इनमें जरूरत के हिसाब से उचित समय पर उत्पादन नहीं हुआ। मराठे यूरोपियन पद्धति एवं हथियारों के प्रयोग के लिए प्रायः फ्रांसीसियों पर निर्भर थे, जो आवश्यकता पड़ने पर काम नहीं आ सके।

1.9.6- अंग्रेजों की श्रेष्ठ कूटनीति एवं गुप्तचर व्यवस्था

अंग्रेजों की कूटनीति उत्तम श्रेणी की थी। वे युद्ध प्रारंभ करने से पहले प्रायः दूसरे राज्यों से मित्रता करके उन्हें अलग कर देते थे। साथ ही वह मराठा सरदारों के आंतरिक फूट डालने का प्रयास करते थे। वे इस प्रयास में प्रायः सफल भी रहते थे। द्वितीय एवं तृतीय मराठा युद्ध में ऐसा ही हुआ। अंग्रेज अपनी कूटनीति के कारण ही विभिन्न भारतीय शासकों को एक-दूसरे के खिलाफ संघर्ष एवं युद्ध करवाते रहे। वहीं दूसरी तरफ मराठे ये समझ ही नहीं सके कि उनके सबसे शक्तिशाली शत्रु कोई और नहीं बल्कि ये अंग्रेज ही थे। मराठे शेष भारतीय शासकों मसलन मुसलमानों या राजपूतों को अपनी ओर मिला भी नहीं सके।

दूसरे अंग्रेजों की गुप्तचर व्यवस्था भी मराठों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ थी। वह मराठों के आंतरिक मामलों, मतभेदों की पूरी खबर रखते थे। अंग्रेजों ने मराठी भाषा का भी अध्ययन किया। कई अंग्रेज अधिकारी मराठी भाषा अच्छे से बोलते और समझते थे। जबकि मराठे अंग्रेजों की शक्ति से, नीति तथा योजना से अनजान रहते थे। इस तरह से सही और सटीक आंतरिक सूचनाएं भी अंग्रेजों के विजय में सहायक सिद्ध हुईं। जबकि मराठों के पास अंग्रेजों की इस तरह की कोई जानकारी नहीं मिल पाती थी।

अतः हम कह सकते हैं कि अंग्रेज साम्राज्यवादी विचारों से प्रेरित होकर तकनीकी एवं वैज्ञानिक तरीके से अपनी शक्ति का प्रयोग करके उपनिवेश विस्तार में जुटे हुए थे, वहीं मराठे परंपरागत मध्ययुगीन विचारों में ही जकड़े हुए थे। आंग्ल-मराठा संघर्ष से पूर्व ही मराठों की निष्क्रियता और आंतरिक कमजोरी स्पष्ट थी, जो उन्हें पराजय की ओर ले जाने में सहायक सिद्ध हुईं।

1.10 सारांश

इस प्रकार आपने अध्ययन किया कि सत्रहवीं सदी के उत्तरार्ध में शिवाजी द्वारा स्थापित मराठा राज्य औरंगजेब की मृत्यु के बाद पुनः एक बार पेशवाओं ने अपने नेतृत्व में प्रभुत्व स्थापित किया। मुगलों के पतन के बाद भारत में सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य के रूप में उदय हुआ। जिसमें प्रारंभिक पेशवाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही। परंतु पानीपत के तृतीय युद्ध में पराजय, पेशवा माधव राव की मृत्यु तथा मराठा सरदारों के आंतरिक मतभेद ने मराठा शक्ति को कमजोर किया। अंग्रेजों ने ऐसे अवसर का लाभ उठाते हुए अपने विस्तार हेतु मराठों पर आक्रमण किए। प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध अंग्रेजों के पक्ष में निर्णायक नहीं रहा परंतु द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध ने अंग्रेजों को महत्वपूर्ण स्थिति में ला दिया। तीसरे एवं अंतिम आंग्ल-मराठा युद्ध (1817-18) में अंग्रेजों ने मराठों को निर्णायक रूप से पराजित कर मराठा शक्ति, जो कि अंग्रेजों के लिए एक चुनौती थी, की संभावना ही समाप्त कर दिया।

नोट- निम्नलिखित प्रश्नों में रिक्त स्थानों की पूर्ति करें।

1. प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध (1775-82 ई.) में मराठा पेशवा थे।

2. 1775 ई. सूरत की संधि और के मध्य हुई थी.
3. प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध का अंत की संधि के द्वारा हुआ.
4. पेशवा पूना से भागकर बेसिन चला गया और अंग्रेजों से मदद मांगी.
5. प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध के दौरान कंपनी का गवर्नर जनरल था.
6. तृतीय आंग्ल-मराठा युद्ध का तत्कालीन कारण था.
7. मराठा साम्राज्य का अंतिम पेशवा था.
8. गवर्नर जनरल के नेतृत्व में मराठा साम्राज्य को अंग्रेजी राज्य में विलय कर लिया गया.

1.11 पारिभाषिक शब्दावली

छत्रपति- मराठा शासक की राजकीय उपाधि

पेशवा- मराठा शासन में छत्रपति का प्रधानमंत्री

गुरिल्ला युद्ध- परोक्ष युद्ध की एक तकनीक, जिसमें मराठों को महारथ हासिल थी.

पिण्डारी- मराठों के अस्थाई सैनिक

1.12 स्वमूल्यांकित प्रश्न के उत्तर

1. माधव राव द्वितीय 2. रघुनाथ राव (रघोबा) और अंग्रेज 3. सालबाई
 4. बाजीराव द्वितीय 5. वारेन हेस्टिंग 6. पिण्डारियों का दमन 7. बाजीराव द्वितीय 8. लार्ड हेस्टिंग्स
-

1.13 संदर्भ ग्रंथ की सूची

शेखर बंदोपाध्याय-प्लासी से विभाजन तक

राम लखन शुक्ला- आधुनिक भारत का इतिहास

बीएल ग्रोवर एवं यशपाल- आधुनिक भारत का इतिहास

एलपी शर्मा- आधुनिक भारत का इतिहास

Grant Duff- History of The Marathas (2 Vols)

GS Sardesai- New History of Maratha People

सहायक एवं उपयोगी पाठ्य सामग्री –

Stewart Gordon- The Marathas 1600-1800

GS Sardesai- Main currents of Maratha History

1.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. 1772-1818 ई. के मध्य आंग्ल-मराठा संघर्ष की विवेचना करिए. उसके क्या परिणाम हुए.
2. आंग्ल-मराठा संघर्ष में मराठों के पराजय के क्या कारण थे.
3. द्वितीय आंग्ल-मराठा संघर्ष के कारण एवं परिणाम की विवेचना करिए.

- 2.1- प्रस्तावना
- 2.2- उद्देश्य
- 2.3- लार्ड हेस्टिंग्स एवं भारतीय चुनौतियां
- 2.4- आंग्ल-नेपाल युद्ध
- 2.5- पिण्डारियों का दमन
- 2.6- पठानों को कंपनी के अधीन लाना
- 2.7- हेस्टिंग्स द्वारा मराठों पर प्रभुत्व स्थापित करना
- 2.7.1- पेशवा को कंपनी के अधीन लाना
- 2.8- राजपूत रियासतों पर प्रभुत्व स्थापित करना
- 2.9- मुगल सम्राट की सर्वोच्चता को चुनौती देना
- 2.10- प्रशासनिक सुधारों के द्वारा कंपनी को सुदृढ़ बनाना
- 2.11- सारांश
- 2.12- स्वमुल्यांकित प्रश्न
- 2.13- परिभाषिक शब्दावली
- 2.14- संदर्भ ग्रंथ सूची
- 2.15- निबंधात्मक प्रश्न

2.1-प्रस्तावना

मार्किस्व हेस्टिंग्स सन 1813 से 1823 तक ईस्ट इंडिया कंपनी का भारत में गवर्नर जनरल रहा. सिद्धांततः वह 'हस्तक्षेप न करने की नीति' को मानता था परन्तु अपने शासन के प्रारंभिक वर्षों में ही उसने अहस्तक्षेप की नीति का त्याग कर अग्रगामी तथा साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण कर लिया. लार्ड हेस्टिंग्स के आधिकारिक नीति को 'सर्वोच्चता की नीति' के नाम से जाना जाता है. जिसमें कंपनी सर्वोच्च थी तथा समस्त भारतीय राज्यों का शासक कंपनी के अधीन था. कंपनी की सर्वोच्चता इस नीति के तहत कंपनी राज्यों के अधिग्रहण हेतु अधिकृत थी. उसे यह अधिकार था कि यदि कोई भारतीय राज्य कंपनी के विरुद्ध षण्यंत्र में संलग्न पाया जाता है तो कंपनी उस राज्य को अधिगृहित कर ले. इसके लिए कुछ संधियों के प्रवधान भी थे, परंतु हेस्टिंग्स ने कंपनी के एकतरफा हित में संधियों के प्रवधानों की उपेक्षा कर भारतीय राज्यों को अधिगृहित करके उपनिवेश का विस्तार किया. इस प्रकार अपने पूर्व अधिकारियों की योजना को आगे बढ़ाते हुए उसने भारत में कंपनी की राजनैतिक श्रेष्ठता स्थापित की.

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विस्तार के क्रम में ईस्ट इंडिया कंपनी के गवर्नर जनरल लार्ड हेस्टिंग्स द्वारा भारत में कंपनी की राजनैतिक श्रेष्ठता एवं सर्वोच्चता स्थापित करने के नीतियों एवं प्रयासों के बारे में अवगत कराना है. इसी इकाई के अध्ययन के बाद आप लार्ड हेस्टिंग्स के द्वारा छोटी-छोटी रियासतों को अंग्रेजी संरक्षण में लाना, पिण्डारियों के दमन तथा मराठों को कंपनी के अधीन लाने के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे. इसके अतिरिक्त हम सर्वप्रथम हेस्टिंग्स द्वारा नेपाल पर आक्रमण एवं सगौली की संधि का भी विश्लेषण करेंगे.

2.3- लार्ड हेस्टिंग्स एवं भारतीय चुनौतियां

लार्ड हेस्टिंग्स जब भारत में कंपनी का गर्वनर जनरल बनकर आया, तब भारत में कंपनी से सामने विभिन्न प्रकार की चुनौतियां थीं. मराठे एकबार पुनः अपनी शक्ति को एकजुट करने का प्रयास कर रहे थे, पिण्डारियों के लुटेरे दल मध्य भारत में खुलेआम लूटमार मचा रहे थे. सीमा पर गोरखा एवं बर्मियों के आक्रमण शुरू हो गए थे. लोगों को ऐसा प्रतीत होने लगा था कि अंग्रेज पूरी तरह से शक्तिहीन हो गए हैं. हेस्टिंग्स ने इन समस्याओं के प्रति आक्रामक रुख अपनाया. वह युद्धों के द्वारा भारत में अंग्रेजी शक्ति की श्रेष्ठता को स्थापित करने में सफल रहा. उसने मराठा शक्ति को सदा के लिए समाप्त कर दिया और पिण्डारियों को मौत के घाट उतार दिया गया. नेपाल से युद्ध करके न केवल महत्वपूर्ण भूमि प्राप्त कि बल्कि उत्तर में सीमाओं को भी सुरक्षित किया. पीई राबर्ट्स ने लिखा है, “उसने भारत में अंगीकृत सबसे महान और युक्तिपूर्ण सैनिक अभियान की योजना बनाई तथा उसे वास्तविकता में परिणत किया. उसने बिना असफलता के 28 युद्ध लड़े और 120 किलों को जीता. लार्ड हेस्टिंग्स का उद्देश्य भारत में अंग्रेजी प्रभुत्व और शक्ति की सर्वोच्चता स्थापित करना था. इस दृष्टि से वेल्लेजली के अधूरे पड़े कार्यों को पूरा किया.

2.4- आंग्ल 1816-1814) नेपाल युद्ध-ई

हेस्टिंग्स ने पहला युद्ध नेपाल के साथ किया क्योंकि जब लार्ड हेस्टिंग्स भारत आया, उस समय तक नेपाल एक शक्तिशाली राज्य के रूप में स्थापित हो चुका था. उसका विस्तार पूर्व में तीस्ता नदी से लेकर पश्चिम में सतलज नदी तक था. अतः भारत की उत्तरी सीमाओं के संपूर्ण पहाड़ी प्रदेशों पर नेपाल का आधिकार था. नेपाल ने उत्तर में चीनियों को आगे बढ़ने से रोका तो वहीं बंगाल और अवध के अनिश्चित सीमाओं का लाभ उठाकर गोरखपुर तथा बस्ती जिले प्राप्त कर लिए. अब अंग्रेजी राज्य की सीमाएं नेपाल से मिल गईं. हिमालय की तराई भाग पर अपने अधिकार को लेकर दोनों शक्तियां अपना दावा करती थीं. तराई के जो भी जिले गोरखा या अंग्रेजों, जिसके भी कब्जे में आ रहे थे. वो उसे अपने कब्जे में लेने का प्रयास कर रहा था. ऐसी स्थिति में दोनों शक्तियों के बीच युद्ध तो होना ही था.

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि अंग्रेजों ने पहली बार नेपाल पर प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास नहीं किया था. इससे पूर्व में भी अंग्रेज अफसर गोल्लिंडग के नेतृत्व में अंग्रेजों ने आक्रमण किया था, परंतु उसमें उन्हें कोई सफलता नहीं मिली. इसके बाद 1792 ई. में एक व्यापारिक संधि के द्वारा अंग्रेजों ने नेपाल से एक व्यापारिक संधि स्थापित करने का प्रयास किया. कर्नल क्रिक पैट्रिक को दूत बनाकर काठमांडू भेजा गया परन्तु नेपाल पर ब्रिटिश प्रभुत्व नहीं कायम हुआ. 1802 ई. में कैप्टन नोक्स को रेजिडेंट ऑफिसर बनाकर नेपाल भेजा गया, परंतु इसका भी कोई विशेष लाभ नहीं मिला. इसके उपरांत लार्ड वेल्लेजली ने 1804 ई. में नेपाल के साथ व्यापारिक संधि को समाप्त कर दिया. नेपाल पर राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित नहीं होने के बहुत से कारण थे, जिसमें भौगोलिक परिस्थितियां भी एक थी. जिसके कारण किसी भी आक्रामणकारी सेना को बहुत कठिनाईयों का सामना करना पड़ता था. पहाड़ी क्षेत्र होने के कारण मार्ग बहुत ही दुर्गम थे, जिससे बड़ी सेना सरलता से एक जगह से दूसरी जगह पर नहीं जा सकती थी.

आंग्ल-नेपाल युद्ध का तात्कालिक कारण बस्ती के उत्तर में दो जिले बुटवाल और शेरोज पर अधिकार को लेकर था. इन दोनों जिलों पर गोरखों ने अधिकार कर लिया था, बाद में अंग्रेजों ने उस पर अपना अधिकार कर लिया. मई 1814 ई. में गोरखों ने पुनः बुटवाल पर अधिकार को लेकर पुलिस चौकियों पर हमला कर दिया. लार्ड हेस्टिंग्स ने युद्ध का निर्णय लिया और अक्टूबर 1814 ई. में नेपाल के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी. लार्ड हेस्टिंग ने अलग-अलग युद्ध दल गठित कर अलग-अलग दिशाओं से आक्रमण किया. कर्नल आक्टरलोनी को सतलज नदी की तरफ से भेजा गया तथा मेजर जनरल जिलेस्पी को मेरठ से आक्टरलोनी की मदद के लिए एक सैन्य दल

के साथ भेजा, जो नेपाली सेनापति अमर सिंह थापा के विरुद्ध युद्ध लड़ रहा था। दूसरा सैन्य आक्रमण मेजर जनरल मार्ले के नेतृत्व में पटना से काठमांडू की तरफ किया गया। तीसरी सैन्य टुकड़ी ने जॉन वुड के नेतृत्व में गोरखपुर की तरफ से हमला किया। पूरे युद्ध का संचालन हेस्टिंग्स खुद कर रहा। अंग्रेजों ने कुटनीतिक रूप से नेपाली सेनापतियों को भी अपनी तरफ मिलाने का प्रयास किया परन्तु इसमें कोई विशेष सफलता नहीं प्राप्त हुई। नेपाली गोरखों ने बहादुरी से सामना किया। मार्ले और वुड को पीछे हटना पड़ा। मेजर जनरल जिलेस्पी मारा गया परन्तु बाद में अंग्रेजों ने अपनी सेना में कुछ पहाड़ी सैनिकों को शामिल किया। जिसके कारण 1815 ई. में कर्नल निकोलस एवं गार्डनर ने कुमायू एवं अल्मोड़ा पर अधिकार कर लिया। मई 1815 ई. में आक्टर लोनी ने गोरखों को मात देते हुए अमर सिंह थापा से मालोन का किला जीत लिया। अब तक दोनों पक्ष एक-दूसरे की सैनिक क्षमता को जान चुके थे। अतः संधि वार्ता शुरू हुई और नवंबर 1815 ई. में ‘सगौली की संधि’ हुई। इस संधि की शर्तों के अनुसार –

- अंग्रेजों को गढ़वाल, कुमायू के जिले तथा तराई का अधिकांश क्षेत्र मिले।
 - दोनों राज्यों की सीमाएं निश्चित कर दी गईं और सीमाओं पर पक्के खंभे लगा दिए गए।
 - नेपाल ने सिक्किम राज्य से अपने समस्त अधिकार वापस ले लिए।
 - नेपाल सरकार ने राजधानी काठमांडू में अंग्रेज रेजिडेंट ऑफिसर रखना स्वीकार कर लिया।
- आंग्ल-नेपाल युद्ध में अंग्रेजों को सैन्य एवं आर्थिक दृष्टि से काफी नुकसान हुआ। इस युद्ध को लेकर लार्ड हेस्टिंग्स की काफी आलोचना हुई। परंतु इसमें संदेह नहीं की ब्रिटिश राज्य की सीमाओं का विस्तार हुआ। अंग्रेजों को शिमला, मसूरी, नैनीताल, अलमोड़ा, रानीखेत, लैंसडाउन, पौड़ी इत्यादी क्षेत्र प्राप्त हुए। सिक्किम पर से नेपाल का दावा समाप्त हो गया। अंग्रेजों ने सिक्किम के राजा से संधि कर उसे अधीन राज्य बना लिया।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण लाभ यह हुआ कि अब अंग्रेजी सेना को वीर लड़ाके गोरखा सैनिक प्राप्त होने लगे, जो आवश्यकता पड़ने पर विश्वसनीय सिद्ध हुए।

2.5- पिण्डारियों का दमन

पिण्डारी मध्य भारत में लूट-मार करने वाला एक समुदाय था। इनका धर्म विशेष से कोई संबंध नहीं था। इसमें हिंदू और मुसलमान दोनों थे। ये बड़े ही सुनियोजित तरीके से अचानक हमला कर लूटते थे। इनका सर्वप्रथम विवरण मुगल-मराठा संघर्ष में मिलता है। सर्वप्रथम पेशवा बाजी राव प्रथम ने इनका प्रयोग अनियमित घुड़सवार के रूप में किया था। पानीपत के युद्ध के बाद पिण्डारी मालवा में बस गए तथा आवश्यकता पड़ने पर सिंधिया, होल्कर तथा निजाम के लिए सैनिक सेवा देते थे। मराठा शक्ति के कमजोर होते ही ये लोग मराठा प्रदेश में भी लूट-मार और डकैती करने लगे। क्रमशः इनके कार्य क्षेत्र में विस्तार होता जा रहा था। मैलकम ने पिण्डारियों को ‘मराठा शिकारियों के साथ शिकारी कुत्तों’ की संज्ञा दी है। इनका कोई स्थाई संगठन नहीं था, जो मराठा सरदार इनको संरक्षण का आश्वासन देता था, वे उसी के साथ हो जाते थे। ये प्रायः घुड़सवारी करते थे और शांतिपूर्ण गांव या नगरों पर अचानक आक्रमण कर लूटते और भाग जाते थे। हेस्टिंग्स के भारत आने के समय मध्य भारत पिण्डारियों के अत्याचार से पीड़ित था। उनके लूटमार की सफलताओं से उनके कार्य क्षेत्र, संख्या एवं शक्ति में विस्तार होता जा रहा था। कई बार तो ये गांव और नगरों में आग तक लगा देते थे। इनको मराठा सरदारों का संरक्षण प्राप्त था। हेस्टिंग्स के समय उनके प्रमुख नेता चित्तू वासिल मुहम्मद, करीम खां और हीरू थे। उन्होंने समय-समय पर अंग्रेजों के अधीन राज्यों में भी लूटमार की। निजाम के भी राज्य में लूटमार करके वापस चले जाते थे। 1812 ई. में उन्होंने

अंग्रेजों के अधीन शाहाबाद एवं मिर्जापुर जिलों में लूटपाट की. 1815-16 ई. में हैदराबाद के निजाम के क्षेत्र में इनका आतंक बढ़ गया था. 1817 ई. में इन्होंने उत्तरी सरकार में लूटमार की.

लार्ड हेस्टिंग्स को यह भी ज्ञात था कि पिण्डारियों को मराठों का संरक्षण प्राप्त है और ऐसे समय जब मराठा स्वयं भी अंग्रेजी शक्ति से मुकाबले की तैयारी कर रहे थे, तो अंग्रेजों को अच्छे से मालूम था कि पिण्डारी आंग्ल-मराठा संघर्ष में मराठों के मददगार होंगे. हेस्टिंग्स ने यह भी कुटनीतिक प्रयास किया कि पिण्डारी और मराठे एक साथ न हो पाएं. इसके लिए उसने मराठा सरदारों से संधि भी की.

हेस्टिंग्स ने कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स से अनुमति लेते हुए 1817 ई. में पिण्डारियों के विरुद्ध अभियान की शुरुआत कर दी.

सेना को दो भागों में विभाजित कर उत्तरी सेना का नेतृत्व स्वयं संभाला तथा दक्षिणी सेना का नेतृत्व सर टॉमस हिंसलोप कर रहे थे. सैनिक योजना इस तरह बनाई गई कि उत्तर एवं दक्षिण की सेनाएं एक घेरा बनाते हुए आगे बढ़ें. जिससे की पिण्डारी इस घेरे से बाहर ही न निकल पाएं. 1818 ई. के प्रारंभ तक पिण्डारियों का क्रूरता से दमन कर दिया गया. उन्हें कठोरता से मारा गया, वासिल मोहम्मद को पकड़ कर जेल में डाल दिया गया, जहां उसने आत्म हत्या कर ली. चित्तू जंगल में भाग गया, जहां जंगली जानवर उसे खा गए. वहीं करीम खां ने अंग्रेजों के सामने आत्मसमर्पण कर दिया. मालकम ने लिखा है कि पिण्डारी इतनी अच्छी तरह दबा दिए गए कि कुछ ही समय में लोग उनका नाम तक भूल गए. डफ के अनुसार कुछ पिण्डारी आम जनसमूहों के साथ सम्मिलित हो गए तथा उनकी कुछ टुकड़ियां दक्कन में पेशवा से युद्ध समाप्त होने तक दिखाई देती रहीं.

2.6- पठानों को कंपनी के अधीन लाना

पिण्डारियों की तरह पठानों का भी एक संगठित समूह था, जो मुख्य रूप से राजपूताना क्षेत्र में सक्रिय था. पिण्डारी आम जनता को लूटते थे, जबकि पठान मुख्य रूप से राज्यों के बीच पारस्परिक झगड़े एवं विवादों में धन लेकर सैन्य मदद देते थे. ये सरकारों एवं शक्तिशाली सरदारों पर हमला करते एवं लूटते थे. ये अलग-अलग समय पर भिन्न-भिन्न राजपूत दलों का साथ देते थे. अमिर खां एवं मुहम्मद शाह खां के नेतृत्व में इनकी शक्ति काफी बढ़ गई थी. 1809 ई. में जोधपुर के राजा ने सिंधिया के आक्रमण को रोकने के लिए मोहम्मद शाह खां कि मदद ली थी. अमिर खां ने जयपुर के राजा जगत सिंह को जोधपुर के विरुद्ध सहायता दी. इससे पूर्व अमिर खां जसवंत राव होल्कर के साथ भी था. राजपूतों के आपसी संघर्ष का लाभ उठाकर पठान लड़ाके उनसे अधिकतम लाभ लेने की कोशिश करते. संपूर्ण राजस्थान में इनका आतंक था. इनके पास सैनिक होते थे और किसी संगठित सेना से इनका संगठन कम नहीं था.

मुहम्मद शाह खां की तो 1814 ई. में मृत्यु हो गई. उसके बाद इसका मुख्य नेता अमिर खां था. हेस्टिंग्स ने चॉर्ल्स मेटकॉफ के द्वारा बातचीत शुरू की. नवंबर 1817 ई में अंग्रेजों एवं अमिर खा के मध्य संधि हो गई. इस संधि के अनुसार अमिर खां अपनी सेना समाप्त करने पर सहमत हो गया. अंग्रेजों ने होल्कर से प्राप्त भूमि को अमिर खां के पास रहने दी और साथ ही उसे टोंक का नवाब स्वीकार कर लिया. इस तरह हेस्टिंग्स ने पठानों को अंग्रेजों का मित्र बना लिया एवं होल्कर और मराठों से उन्हें अलग कर दिया. अंग्रेजों ने 1818 ई. में मंदसौर की संधि में होल्कर से अमिर खां को टोंक के नवाब होने की स्वीकृति दिलवा दी.

इस तरह हेस्टिंग्स ने पिण्डारियों के साथ-साथ पठानों के शक्तिशाली दल को समाप्त करके राजपूताना में शांति स्थापित की और साथ ही अंग्रेजों के प्रभाव में वृद्धि भी की. राजपूत सरदार पुनः अंग्रेजी संरक्षण में आ गए, जिससे मराठों को पराजित करने में आसानी हुई.

2.7- हेस्टिंग्स द्वारा मराठों पर प्रभुत्व स्थापित करना

हेस्टिंग्स का उद्देश्य भारत में कंपनी की सर्वोच्चता स्थापित करना था और यह तभी संभव था जब मराठों के राजनैतिक अस्तित्व को समाप्त कर दिया जाए. इसलिए उसने मराठों एवं पठानों को समाप्त करने की योजना बनाई. उसके बाद उसने सिंधिया, भोंसले और होल्कर के राजनैतिक अस्तित्व को समाप्त करने का प्रयास किया. उधर वैलेजली की सहायक संधि एवं पूर्व के आंग्ल-मराठा युद्धों से मराठों ने कोई सीख ली हो ऐसा प्रतीत नहीं होता. इन सबके बाद भी मराठों ने अपने शक्ति को संगठित करने का कोई सुदृढ़ प्रयास नहीं किया. उनमें अभी भी एकता का अभाव था, व्यक्तिगत मतभेद काफी गहरे थे. आंतरिक प्रशासन में सुधार का कोई प्रयास नहीं किया गया तथा योग्य सरदारों का अभाव था. जसवंत राव होल्कर की मृत्यु पागलपन से हुई. उसके बाद उसका बेटा मल्हाव राव द्वितीय, जो अल्पआयु था, शासक बना. शासन का वास्तविक नियंत्रण उसकी पत्नी के हाथों में था. दौलत राव सिंधिया का नियंत्रण अपने सरदारों पर ही नहीं था और न ही उसने सेना को मजबूत करने का प्रयास किया. पेशवा बाजीराव द्वितीय अपने प्रधानमंत्री त्रियंबक जी का गुलाम बना हुआ था और गायकवाड़ पूरी ईमानदारी से अंग्रेजों के साथ हुए सहायक संधि का निर्वाह कर रहा था. ऐसी स्थिति में मराठा सरदार अंग्रेजी सेना का मुकाबला करने में अक्षम थे. मराठे अपना सबसे बड़ा शत्रु अंग्रेजों का मानते थे. वे उनसे असंतुष्ट थे और अवसर की तलाश कर रहे थे. परंतु इन सब से कोई लाभ नहीं था क्योंकि मराठों की सैनिक तैयारी ही सवालों के घेरे में थी. हेस्टिंग्स ने सर्वप्रथम मराठा सरदार रघुजी भोंसले के राज्य नागपुर में हस्तक्षेप किया. रघुजी भोंसले की मार्च 1816 ई. में मृत्यु हो गई. उसके बाद उसका पुत्र परशु जी गद्दी पर बैठा. परंतु वह एक कमजोर शासक था. राजमाता बुकाबाई एवं उसके चचेरे भाई अप्पा साहिब में संरक्षक बनने का झगड़ा था. अप्पा साहब अपने को परशु जी का उत्तराधिकारी मानता था. अप्पा साहब अंग्रेजों से मदद चाहता था. अतः भोंसले दरबार के मतभेदों का लाभ उठाते हुए कंपनी ने मई 1816 ई. में 'नागपुर की संधि' की. इस संधि के अनुसार 6 बटालियन घुड़सवार रेजिमेंट तथा यूरोपि तोपखाने का दस्ता नागपुर में रहेगा तथा इसके बदल में भोंसले कंपनी को 7.50 लाख देना स्वीकार कर लिया. भोंसले के विदेशी मामलों पर भी कंपनी का नियंत्रण स्थापित हो गया. अतः नागपुर जो एक महत्वपूर्ण मराठा केंद्र था, अब कंपनी के अधिपत्य में था. यह मराठों पर सर्वोच्चता स्थापित करने का एक महत्वपूर्ण पड़ाव था.

2.7.1- पेशवा पर नियंत्रण

भोंसले पर नियंत्रण स्थापित करने के बाद लार्ड हेस्टिंग्स ने मराठा पेशवा बाजीराव द्वितीय पर ध्यान केंद्रित किया, जो पहले तो अंग्रेजों का मित्र था, परंतु अब मराठा सरदारों में अंग्रेजों का सबसे बड़ा विरोधी बन गया था. उसने प्रधानमंत्री त्रियंबक जी के सलाह पर अपने दूत भोंसले, सिंधिया और होल्कर के पास भेजे. बाजीराव द्वितीय सभी लोगों का मिलाकर एक मराठा संघ बनाना चाहता था. इधर अंग्रेजों के मित्र गायकवाड़ ने अंग्रेजों के कहने पर अपने दूत गंगाधर शास्त्री को पूना भेजा, परंतु पूना से लौटते समय नासिक के पास गंगाधर शास्त्री की हत्या कर दी गई. अंग्रेजों का यह मानना था कि यह हत्या त्रियंबक जी ने करवाई है.

ब्रिटिश रेजिडेंट अफसर एल्फिस्टन ने पेशवा से त्रियंबक जी को सौंपने की मांग की. पेशवा ने कुछ दिनों के दबाव के बाद त्रियंबक जी को अंग्रेजों के हवाले कर दिया. अंग्रेजों ने उसे थाने के किले में कैद कर दिया परंतु त्रियंबक जी अक्टूबर 1816 में किसी प्रकार से अंग्रेजों के कैद से भाग निकला. एल्फिस्टन को यह शक था कि त्रियंबक जी बिना पेशवा के मदद के भाग नहीं सकता था. वहीं दूसरी तरफ लार्ड हेस्टिंग्स आंग्ल-नेपाल युद्ध से मुक्त हो चुका था. उसने एल्फिस्टन को लिखा कि वह पेशवा से त्रियंबक जी को निश्चित समय सीमा में पुनः लौटाने की मांग करे. यदि पेशवा ऐसा न करे तो उसे शत्रु घोषित करते हुए युद्ध का एलान कर दे. 7 मई 1817 ई. को एल्फिस्टन ने पेशवा से एक महीने के भीतर त्रियंबक जी को सौंपने की मांग की. इसके साथ ही उसने रायगढ़, सिंहगढ़ और पुरंदर के किलों को जमानत के रूप में अंग्रेजों को सौंपने की भी मांग की.

इधर दूसरी ओर पेशवा मराठा संघ बनाकर अंग्रेजों के खिलाफ युद्ध की तैयारी में लगा हुआ था. उसने इस मामले में पिण्डारियों और पठानों से भी बातचीत शुरू कर दी थी. पेशवा अभी मराठा संघ का गठन कर पाया ही था कि कर्नल स्मिथ ने पूना को चारों तरफ से घेरा और किले पर कब्जा कर लिया. इसके परिणामस्वरूप पेशवा ने हथियार डाल दिए. पेशवा और अंग्रेजों के बीच एक संधि हुई. जिसे 'पूना की संधि' कहा जाता है. इस संधि के अनुसार-

- मराठा संघ समाप्त हो गया और मराठों पर पेशवा का नेतृत्व भी खत्म हो गया.
- पेशवा ने त्रियंबक जी को अंग्रेजों को सौंपने का वादा किया.
- पेशवा अंग्रेज रेजिडेंट की स्वीकृती के बिना किसी भी विदेशी शक्ति से कोई संबंध नहीं रखेगा.
- पेशवा ने गायकवाड़ पर से सारे अधिकार छोड़ दिए.
- पेशवा ने अहमदनगर दुर्ग, मालवा और बुंदेलखंड पर कंपनी का अधिपत्य स्वीकार कर लिया.

इस प्रकार पहले भोंसले और अब पेशवा से संधि करके कंपनी अपनी सर्वोच्चता की ओर तेजी से अग्रसर थी और इसके बाद कंपनी का अगला लक्ष्य सिंधिया था.

सितंबर 1817 ई. में लार्ड हेस्टिंग्स एक विशाल सेना के साथ कानपुर पहुंचा तथा सिंधिया को संधि करने पर मजबूर कर दिया. अंत में कोई रास्ता न देख दौलत राव सिंधिया ने नवंबर 1817 ई. को अंग्रेजों के साथ एक अपमानजनक संधि कर ली. इस संधि को 'ग्वालियर की संधि' के नाम से जाना जाता है. इस संधि के अनुसार-

- सिंधिया ने 5000 सैनिकों का एक दल पिण्डारियों के विरुद्ध अभियान के लिए देना स्वीकार कर लिया.
- सिंधिया अपनी सेना में कोई वृद्धि नहीं करेगा.
- असीरगढ़ एवं हिंदिया के किलों को अंग्रेजों को पिण्डारियों के विरुद्ध अभियान के दौरान प्रयोग करने की छूट होगी.
- राजस्थान के रियासतों उदयपुर, जोधपुर, कोटा, बूंदी आदि पर सिंधिया अपने दावे नहीं करेगा.

औपचारिक रूप से सिंधिया अभी भी स्वतंत्र थे परंतु वास्तविक स्थिति काफी दयनीय थी. सभी मराठा सरदार अंग्रेजों के सामने लाचार नजर आने लगे. अलग-अलग संधियों ने सभी मराठा सरदारों को पूरी तरह से कमजोर एवं अलग-थलग कर दिया. तृतीय आंग्ल-मराठा युद्ध से पूर्व ही हेस्टिंग्स आधा युद्ध जीत चुका था. सभी मराठा सरदार अपमान के आग में जल रहे थे. अतः उन्होंने पेशवा के नेतृत्व में अंग्रेजों से टक्कर लेने का निर्णय लिया. नवंबर 1817 ई. में पेशवा ने किरकी की रेजिडेंसी पर आक्रमण करके उसे जला दिया परंतु कर्नल स्मिथ के नेतृत्व में ब्रिटिश सेना ने उसे परास्त कर दिया और स्मिथ ने पूना पर भी अधिकार कर लिया. उधर अप्पा साहिब भोंसले ने नागपुर में और मल्हाव राव होल्कर ने इंदौर में अंग्रेजों के खिलाफ हथियार उठा लिया. दोनों ने अंग्रेजों को कड़ी टक्कर दी लेकिन अंग्रेजी सेना ने अप्पा साहिब को सीताबर्डी के युद्ध में तथा होल्कर को महीदपुर के युद्ध में पराजित किया. पेशवा किरकी से पराजित होकर सतारा की ओर भागा और अंततः 18158 ई. के प्रारंभ में ही

कोरेगांव और फिर आस्थी के मैदान में अंग्रेजों के हाथों से पराजित होना पड़ा. जून 1818 ई. में पेशवा ने अंग्रेजों के सामने समर्पण कर दिया. भोंसले जोधपुर भाग गया, जहां उसकी मृत्यु हो गई. होल्कर एवं सिंधिया ने भी हथियार डाल दिए. अंततः यह मराठों की निर्णायक हार थी.

हेस्टिंग्स ने पेशवा का पद ही समाप्त कर दिया और बाजीराव द्वितीय को भी सत्ता से बेदखल करके कानपुर के समीप बिठुर नामक जगह पर 18 लाख वार्षिक पेंशन पर भेज दिया. सतारा की गद्दी शिवाजी के वंशज प्रताप सिंह को देकर शेष प्रदेश का अंग्रेजी राज्य में विलय कर दिया गया. होल्कर से मंदसौर की संधि जनवरी 1818 ई. में की गई.

होल्कर ने अपने यहां सहायक सेना रखना, उसका व्यय देना तथा अपनी विदेश नीति अंग्रेजों के हाथों में सौंप दी. होल्कर ने राजपूत राज्यों से अपने सारे अधिकार खत्म कर लिए तथा होल्कर को अब पेशवा से स्वतंत्र दे दी गई. ज्ञात हो कि यह संधि पेशवा को पराजित करने से पहले ही की गई थी. इस प्रकार भोंसले और सिंधिया को भी कठोर और अपमानजनक संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश किया गया और अब वो पूरी तरह से अंग्रेजों के नियंत्रण में थे.

इस प्रकार अंग्रेजों के द्वारा एक-एक मराठा सरदारों को पराजित करके पूर्णतः शक्तिहीन कर दिया गया. पेशवा का पद समाप्त करके मराठा संघ को भंग कर दिया गया. भोंसले, होल्कर और सिंधिया अंग्रेजों की कठपुतली बन गए. इसके साथ ही भारत में अंग्रेजों के साथ संघर्ष करने वाली अंतिम शक्ति को भी समाप्त कर दिया गया. इस तरह से हेस्टिंग्स ने मराठों को पराजित करके कंपनी की राजनैतिक सर्वोच्चता को स्थापित किया.

2.8- राजपूत रियासतों से संबंध

राजस्थान के राजपूत प्रदेश अलग-अलग मराठा सरदारों के नियंत्रण में थे और उनके कर देते थे. सर्वप्रथम लार्ड वैलेजली ने इन पर नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास किया परंतु वैलेजली के हाथ कोई खास सफलता नहीं लगी. लार्ड हेस्टिंग्स कंपनी की सर्वोच्चता की नीति के तहत इन राज्यों को कंपनी के अधिन लाना चाहता था तथा उन पर सैनिक नियंत्रण स्थापित करना चाहता था. हेस्टिंग्स ने नवंबर 1817 ई. में सिंधिया के साथ संधि की थी. इस संधि के शर्तों के अनुसार सिंधिया राजपूत राज्यों पर अपना प्रभुत्व छोड़ देगा. अतः इस राज्यों पर कंपनी का नियंत्रण हो गया. हेस्टिंग्स मराठों को अपना शत्रु मानता था. अतः उसने मराठों से राजपूत राज्यों को अलग कर मराठों को कमजोर किया. जिससे कंपनी के राज्यों का विस्तार हुआ. उसने अलग-अलग राजपूत राज्यों से अलग-अलग संधियां कीं. हेस्टिंग्स ने चार्ल्स मेटकाफ को मारवाड़, जयपुर, जोधपुर तथा उदयपुर से संधि करने के लिए अधिकृत किया. उसने जनवरी 1818 ई. में जोधपुर से संधि की. जिसके अनुसार राज्य को 1500 घुड़सवारों की एक सेना कंपनी को देना तथा जरूरत पड़ने पर और भी सैनिक देना शामिल था. इसके साथ ही कंपनी को सालाना कर के तौर पर 1 लाख आठ हजार रुपये देना भी शामिल था.

जोधपुर से संधि करने के बाद कुछ दिनों के बाद ही उदयपुर से भी कंपनी ने संधि की. उदयपुर के शासक ने अगले 5 वर्ष तक अपनी आय का आधा भाग तथा उसके बाद 3/8 भाग कंपनी को देना स्वीकार किया. अंत में जयपुर के महाराजा को भी कंपनी के साथ संधि करना पड़ा. इसके अतिरिक्त अन्य छोटी-छोटी रियासतों जैसे कोटा, बूंदी, बीकानेर, जैसलमेर, बासवाड़ा, डुंगरपुर तथा प्रतापगढ़ के साथ भी कंपनी ने संधि करके अपनी सर्वोच्चता स्थापित की.

2.9- मुगल सम्राट की सर्वोच्चता को चुनौती देना

कंपनी भारत में अब तक निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठ शक्ति के रूप में स्थापित हो चुकी थी परंतु भारत में अभी भी बादशाह के रूप में मुगलों का नाम आता था. गवर्नर जनरल भी मुगल सम्राट के सामने अर्जी या प्रार्थना पत्र देता था और सम्राट अभी भी कंपनी के लिए कृपापात्र जैसे शब्दों का प्रयोग करता था. गवर्नर जनरल की मुद्रा में भी

“सम्राट का भृत्य” शब्द लिखे होते थे. अतः औपचारिक रूप से मुगल बादशाह के सामने कंपनी की सर्वोच्चता प्रस्थापित करने की चुनौती थी. लार्ड हेस्टिंग्स ने मुगल सम्राट से मिलने से तब तक मना कर दिया, जब तक पुराने शिष्टाचार एवं परंपरा को समाप्त कर समानता की स्थिति में न मिले. वैसे हेस्टिंग्स के कार्यकाल में तो ऐसा नहीं हो पाया परंतु इसका परिणाम यह हुआ कि हेस्टिंग्स का उत्तराधिकारी लार्ड एमहर्स्ट 1827 ई. में मुगल सम्राट से समानता के आधार पर मुलाकात की.

2.10- प्रशासनिक सुधारों के द्वारा कंपनी को सुदृढ़ बनाना

लार्ड हेस्टिंग्स ने प्रमुख रूप से न्याय, भू राजस्व, प्रेस एवं शिक्षा के क्षेत्र में सुधार करके कंपनी को भारत में और सुदृढ़ करने का प्रयास किया. हेस्टिंग्स को इसके लिए टामस मुनरो, चार्ल्स मेटकाफ, एल्फिस्टन और मेलकम जैसे योग्य एवं प्रतिभाशाली प्रशासकों का सहयोग प्राप्त था.

हेस्टिंग्स ने कार्नवालिस द्वारा स्थापित न्याय प्रणाली में महत्वपूर्ण सुधार किए. उसने प्रत्येक थाने में एक मुंशी की नियुक्ति की, जो 64 रूपये तक के मुकदमों की सुनवाई कर सकता था. प्रत्येक जनपद एवं नगर में एक सदर अमीन की नियुक्ति की गई. जिसे 150 रूपये तक के मुकदमों सुनने का अधिकार था. रजिस्ट्रार को 500 रूपये तक तथा जिला दीवानी अदालतों को 5000 रूपये तक के मुकदमों सुनने का अधिकार दिया गया. इसके उपर का विवाद सदर दीवानी अदालतों द्वारा निपटारे की व्यवस्था की गई. उसी समय बंगाल में न्यायाधीश एवं दंडनायकों की पृथक्ता को समाप्त कर दिया तथा कलकत्तों को दंड नायक को कार्य करने की अनुमति दी गई.

हेस्टिंग्स ने भू-राजस्व के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए व बंगाल में लागू स्थाई बंदोबस्त व्यवस्था का विस्तार कर आगरा एवं पंजाब के क्षेत्रों में लागू करना चाहता था परंतु कंपनी के निदेशक मंडल से इसकी स्वीकृती नहीं मिली. अतः पंजाब व आगरा के क्षेत्र में महालवाड़ी व्यवस्था लागू की गई. जिसमें गांव के सम्मिलित समूह को इकाई मानकर उसके मुखिया के द्वारा लगान वसूली की व्यवस्था की गई. इसी समय टामस मुनरो जो मद्रास का गवर्नर था, मालाबार, कन्नड, कोयंबटूर, मद्रै, डिंडीगुल में रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू किया. जिसमें कंपनी सीधे किसानों से लगान वसूल करती थी. हेस्टिंग्स ने 1822 ई. में बंगाल काशतकारी अधिनियम पारित किया. जिसके द्वारा किसानों के हितों की सुरक्षा की गई. इस अधिनियम में यह निश्चित किया गया कि यदि किसान अपना लगान देते रहते हैं तो उन्हें जमीन से विस्थापित नहीं किया जाएगा. अल्फिस्टन जो पूना का गवर्नर था, उसने पेशवा से प्राप्त भूमि पर महालवाड़ी एव रैयतवाड़ी व्यवस्था का मिश्रित रूप लागू किया. इस व्यवस्था में ‘पाटिल’ समुदाय को महत्वपूर्ण दायित्व प्रदान किया गया.

हेस्टिंग्स ने शिक्षा एवं प्रेस के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण प्रयास किया. उसने बंगाल में वर्नाक्यूलर स्कूल स्थापित करवाए. इसी से प्रेरित होकर बंबई और मद्रास में भी स्कूल खोले गए. उसने कलकत्ता के पास में अंग्रेजी शिक्षा के लिए कॉलेज की स्थापना करवाई. हेस्टिंग्स ने प्रेस लगाए प्रतिबंध को 1818 ई. में एक कानून के द्वारा समाप्त कर दिया. परंतु समाचार पत्रों के प्रकाशन हेतु दिशा-निर्देश के रूप में कुछ नियम बनाए गए.

2.11- सारांश

लार्ड हेस्टिंग्स का कार्यकाल ब्रिटिश भारत के इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है. भारत में आगमन के समय वह 60 वर्ष का था, परंतु अपने अदम्य साहस एवं कूटनीतिक सफलता के कारण भारत पर कंपनी के प्रभुत्व को स्थापित करने में सफल रहा. मुगल साम्राज्य के अवशेष पर जो भारतीय शक्तियां राजनीतिक साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे. वे अब ब्रिटिश अधिपत्य को स्वीकार कर चुके थे. नेपाल को अपनी सीमा बता दी गई थी. जबकि मराठा शक्ति को पूरी तरह से समाप्त कर दिया गया था. राजपूत राज्य भी कंपनी की सर्वोच्चता स्वीकार कर चुके थे. अब ब्रिटिश प्रभुत्व उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तथा पूर्व में ब्रम्हपुत्र नदी से लेकर पश्चिम में सतलज नदी तक विस्तृत हो गया.

यद्यपि हेस्टिंग्स लार्ड वैलेजली की नीतियों का कटु आलोचक था, परंतु वैलेजली के अधूरे साम्राज्य विस्तार के कार्य को उसी ने पूरा किया। उसने 28 युद्ध लड़े तथा 120 किलों को जीता और भारत में निर्विवाद रूप से कंपनी को एक सर्वोच्च शक्ति के रूप में स्थापित करने में सफलता पाई। जो भी संभावित शक्तियां अंग्रेजों के लिए चुनौती बन सकती थीं, उन्हें कुचल दिया गया। इसके अतिरिक्त एक कुशल प्रशासक के रूप में भी उसने शासन के विभिन्न क्षेत्रों न्यायिक एवं भू-राजस्व के क्षेत्र में सुधार की। शिक्षा तथा प्रेस के क्षेत्र में भी हेस्टिंग्स का उल्लेखनीय योगदान है। महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि इन कार्यों में सहयोग के लिए हेस्टिंग्स के पास सर टामस मुनरो, सर जान मेलकम, एल्फिस्टन और मेटकाफ जैसे योग्य एवं प्रतिभाशाली सहयोगी थे। पीई राबर्ट्स के अनुसार लार्ड हेस्टिंग्स एक चतुर प्रशासक, बहुत इमानदार तथा कड़ा परिश्रमी शासक था। वह व्यक्तियों का पारखी था तथा उसका नाम संभवतः सबसे विशिष्ट गवर्नर जनरलों में से एक ही चरण नीचे माना जाना चाहिए। जेएस मिल का मानना है कि जिस योजना की नींव क्वाइव ने रखी तथा उसे वारेन हेस्टिंग एवं वैलेजली ने कार्यान्वित किया। उसे पूर्ण करने का श्रेय लार्ड हेस्टिंग्स को जाता है। लार्ड हेस्टिंग्स के कार्य की प्रमुख सफलता यह थी कि भारत में कंपनी की सर्वश्रेष्ठता स्थापित हो गई।

2.12- स्वमूल्यांकित प्रश्न

नोट- निम्नलिखित प्रश्नों में रिक्त स्थानों की पूर्ति करें.

1. आंग्ल-नेपाल युद्ध के समय बंगाल के गवर्नर जनरल ----- थे.
2. गवर्नर जनरल ----- ने मुगल सम्राट से समानता के आधार पर मिलने की शर्त रखी थी.
3. गवर्नर जनरल ----- जो प्रथम बार मुगल सम्राट से समानता के आधार पर मिला.
4. बंगाल काश्तकारी अधिनियम ----- में पारित किया गया.
5. ----- ने रैय्यतवाड़ी व्यवस्था की शुरुआत की.
6. लार्ड हेस्टिंग्स के नेतृत्व में ----- आंग्ल-मराठा युद्ध हुआ.

2.13- पारिभाषिक शब्दावली

गोरखा- नेपाल में रहने वाली एक जाति

रैय्यत- किसान

अमीन- राजस्व विभाग का कर्मचारी

दीवानी- अर्थ एवं भूमि से संबंधित मामले

दण्डनायक- न्यायाधीश

बंदोबस्त- भूमि से संबंधित व्यवस्था

भृत्य- सेवक

स्वमूल्यांकित प्रश्न के उत्तर

1. लार्ड हेस्टिंग्स
2. लार्ड हेस्टिंग्स
3. लार्ड एमहर्स्ट (1827)
4. 1822 ई.
5. टामस मुनरो
6. तृतीय

2.14- संदर्भ ग्रंथ की सूची

शेखर बंदोपाध्याय- प्लासी से विभाजन तक

राम लखन शुक्ला- आधुनिक भारत का इतिहास

बीएल ग्रोवर एवं यशपाल- आधुनिक भारत का इतिहास

एलपी शर्मा- आधुनिक भारत का इतिहास

M S Mehta – Lord Hastings and The Indian States

P E Roberts- History of British India

Stewart Gordon- The Marathas 1600-1800

G S Sardesai- Main currents of Maratha History

Grant Duff- History of The Marathas (2 Vols)

G S Sardesai- New History of Maratha People

2.15- निबंधात्मक प्रश्न

1. लार्ड हेस्टिंग्स ने वैलेजली के अधूरे कार्यों को पूरा कर दिया. क्या आप इस विचार से सहमत हैं.
2. आंग्ल-नेपाल युद्ध के कारण एवं परिणाम के विवेचना करिए.
3. लार्ड हेस्टिंग्स ने भारत में कंपनी की सर्वोच्चता की नीति को सफल बनाने के लिए क्या-क्या प्रयास किए. व्याख्या करिए.

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 आर्थिक सुधार
- 3.4 प्रशासनिक एवं न्यायिक सुधार
- 3.5 शैक्षणिक एवं सामाजिक सुधार
 - 3.5.1 शिक्षा में सुधार
 - 3.5.2 सामाजिक सुधार
- 3.6 भारतीय रियासतों के प्रति नीति
- 3.7 समाचार पत्रों के प्रति नीति
- 3.8 सारांश
- 3.9 स्वमूल्यांकित प्रश्न
- 3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 3.11 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

विलियम केवेंडिश बैंटिक को लार्ड एम्हर्स्ट के बाद बंगाल का गवर्नर जनरल (1828-35) बनाया गया। 1833 ई. के चार्टर एक्ट के द्वारा उसे भारत का गवर्नर जनरल बना दिया गया। उसने अपने जीवन की शुरुआत ब्रिटिश सेना से किया और शीघ्र ही लेफ्टिनेंट कर्नल के पद पर पहुंच गया। 1796 ई. में वह ब्रिटिश संसद का सदस्य बना। उसने फ्रांस के विरुद्ध सिसली (इटली) में अंग्रेजी सेना का नेतृत्व भी किया। उसे 1803 ई. में मद्रास का गवर्नर नियुक्त किया गया था परंतु 1806 ई. में वैल्लोर में सैनिकों पर धार्मिक चिन्ह जैसे तिलक लगाने या दाढ़ी रखने पर लगे प्रतिबंध के कारण उपजे सैनिक विद्रोह के कारण कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने उसे अचानक वापस बुला लिया। 1828 ई. में उसे पुनः गवर्नर जनरल बनाकर भारत वापस भेजा।

विलियम बैंटिक एक उदारवादी व्यक्ति था। वह मिल और बेलथम के उपयोगितावादी विचारों से प्रभावित था। जब बैंटिक भारत आया उस समय उसके पूर्ववर्ती लार्ड हेस्टिंग्स एवं लार्ड एम्हर्स्ट के लगातार युद्धों के कारण कंपनी की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। वहीं दूसरी तरफ भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का काफी विस्तार हो चुका था। इसलिए उसने भारत में सुधार एवं शांति का शासन स्थापित करने का प्रयास किया। 1828 ई. में उसने भारत की जो स्थिति देखी, उससे उसने सभी क्षेत्रों में सुधार की आवश्यकता महसूस की। उसने कंपनी के आर्थिक सुधार पर तो ध्यान दिया ही साथ ही उसने कंपनी के पुराने प्रचलित कानून व्यवस्था एवं प्राशासनिक दोषों को समाप्त करने का निर्णय लिया। उसने समाज में प्रचलित कुरीतियों के विरुद्ध कानून बनाए। उसने शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन करके भारत के नैतिक एवं बौद्धिक जीवन को प्रभावित किया। न्यायिक सुधार के अलावा उसने समाचार पत्रों के स्वतंत्रता के बारे में श्रेष्ठ भावनाएं व्यक्त कीं।

उसने सरकारी सेवाओं में भेदभाव की नीति को समाप्त करने का प्रयास किया।

भारतीय रियासतों के प्रति उसने अहस्तक्षेप की नीति अपनाई. राज्यों के आंतरिक मामलों में उसने यथा संभव हस्तक्षेप नहीं किया और संभवतः युद्धों को टालने का प्रयास किया. अतः बैटिक को एक सुधारवादी प्रशासक भी कहा जाता है.

बैटिक ने नए कानून बनाकर या सैनिकों द्वारा लोगों को कुचलकर ही नहीं बल्कि नैतिक व सामाजिक स्थिति में आंतरिक प्रगति करके, व्यय में कटौती करके, उपयोगी शिक्षा को प्रोत्साहित करके, न्याय प्रशासन में व्यापक सुधार करके तथा उदारवादी विचारधारा अपनाकर एक सुदारवादी प्रशासक की छवि स्थापित करने में सफल रहा. उसने भारत में शासन को उदारवादी बनाने या राजनैतिक स्वतंत्रता देने का कोई ऐसा प्रयत्न नहीं किया. उसके सुधारों का उद्देश्य कंपनी की स्थिति और शासन को सुदृढ़ करने के लिए था परंतु परोक्ष रूप से इसका लाभ भारतीयों को भी मिला.

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य भारत में लार्ड विलियम बैटिक के गवर्नर जनरल के रूप में किए गए विभिन्न सुधारों एवं नीतियों से आपको अवगत कराना है. इस इकाई के अन्तर्गत आप बैटिक के निम्नलिखित प्रयासों के बारे में जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करेंगे.

- आर्थिक सुधार
- प्राशासनिक एवं न्यायिक सुधार
- शैक्षणिक एवं सामाजिक सुधार
- भारतीय रियासतों के प्रति नीति
- सरकारी सेवाओं में सुधार
- समाचार पत्रों के प्रति नीति

3.3 आर्थिक सुधार

जब विलियम बैटिक भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त हुआ, उस समय कंपनी की स्थिति अच्छी नहीं थी. लार्ड हेस्टिंग्स और लार्ड एमहर्स्ट के लगातार युद्ध के कारण कंपनी पर आर्थिक दबाव बहुत ज्यादा बढ़ गया था. नेपाल युद्ध, तृतीय मराठा युद्ध, बर्मा का प्रथम युद्ध तथा पिंडारियों के विरुद्ध कार्यवाही ने कंपनी के कोष को रिक्त कर दिया था. जब बैटिक भारत आया तो कंपनी का बजट घाटे में चल रहा था. आय कम और खर्च अधिक की नीति ने कंपनी को प्रति वर्ष 1 करोड़ रूपए का घाटा देना शुरू कर दिया था. आर्थिक घाटे से मुक्ति पाने के लिए बैटिक ने आय में वृद्धि एवं खर्च में कटौती का प्रयास किया. बर्मा में युद्ध के कारण कंपनी की आर्थिक स्थिति अत्यंत दयनीय हो गई थी. उसका सामना करने के लिए उसने सबसे पहले सेना में छटनी की. बैटिक ने सेना को घटाने का काम अपनी बदनामी को ध्यान में रखते हुए किया. बैटिक से पहले के गवर्नरों ने भी व्यय को कम करने का प्रयत्न किया था परंतु वो सभी इसमें असफल रहे थे. बैटिक ने कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के आदेश से नवंबर 1828 ई. में आदेश जारी किया. जिसके द्वारा कलकत्ता के 400 मील के क्षेत्रों में नियुक्त होने पर सैनिक भत्तों में 50 फीसदी तक की कटौती की गई. इसी प्रकार असैनिक भत्ते भी कम कर दिए गए. सिर्फ वेतन और भत्तों में कटौती करके 1,20,000 पाउंड की वार्षिक बचत की गई. नस्लीय भेदभाव के कारण भारतीयों को सेना एवं न्यायालयों में महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त नहीं किया जाता था. बैटिक ने यह अनुभव किया कि भारतवासियों की छोटे महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्ति की जानी चाहिए. इस कार्य के दो लाभ हुए. एक तो पढ़े-लिखे कंपनी के प्रशासन में कार्य करने के योग्य हो गए, जो उसी पद पर किसी युरोपियन से कम वेतन पर कार्य करने को तैयार थे. दूसरे इससे कंपनी के खर्च

में भारी बचत हुई. बैटिक ने अदालतों के खर्च को भी कम कर दिया तथा अनेक व्यर्थ अदालतें बंद कर दीं. उसने भारतीयों को सदर अमीन तक के पदों पर नियुक्त किया.

उसने ऐसे समस्त भूमि पर कर लगाया, जो भारतीय राजाओं द्वारा अपने नजदीकी व्यक्तियों को उपहार में या फिर मंदिरों को दिए गए थे और लगान मुक्त थे. इस तरह की सारी भूमि को जब्त की गई, जिसपर किसी का अधिकार प्रमाणित नहीं किया जा सकता था. इस कदम से भी कंपनी के आय में वृद्धि हुई. बैटिक ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा में भूमि कर संग्रहण की व्यवस्था में सुधार किया. उसे पश्चिमोत्तर प्रांत (आगरा एवं अवध का वह भाग जो अवध राज्य से प्राप्त किया गया था.) में मार्टिन बर्ड की देखरेख में भूमि का माप व लगान व्यवस्था में सुधार किया गया. इसके अतिरिक्त उसने मलक्का के उपनिवेश के शासन पर अभी तक काफी खर्च हो रहा था. उसने ज्यादा वेतन पाने वाले अंग्रेजों के स्थान पर यथासंभव कम वेतन पर भारतीयों को नियुक्त कर व्यय में कमी की.

अंग्रेज भारत से अफीम चीन ले जाकर बेचते थे. चीनी नागरिक इस मादक पदार्थ का अधिक प्रयोग करते थे. मध्य भारत से अफीम कराची और वहां से पुर्तगाली जहाजों से चीन को निर्यात होती थी. बैटिक ने इस लंबे तरीके को समाप्त कर मालवा से सीधे बंबई बंदरगाह पर भेजने की व्यवस्था की तथा वहां से चीन को आपूर्ति होने लगी. अतः अफीम ले जाने में होने वाले व्यय में काफी कमी आई. मध्यस्थ और ठेकेदार समाप्त हो गए जिससे उसके मुल्य में काफी कमी आई और ज्यादा मात्रा में निर्यात करके अधिक लाभ कमाया गया.

इस प्रकार विलियम बैटिक ने विभिन्न क्षेत्रों में सुधार किए. जब वह 1828 ई. में गवर्नर जनरल के रूप में भारत आया. उस समय कंपनी को 1 करोड़ रुपए प्रतिवर्ष का घाटा हो रहा था किंतु 1835 ई. में उसने कंपनी को 2 करोड़ प्रतिवर्ष लाभ की स्थिति में पहुंचा दिया.

3.4 प्रशासनिक एवं न्यायिक सुधार

भारत में अंग्रेजी शासन का एक प्रमुख उद्देश्य कानून व्यवस्था स्थापित करके ब्रिटिश शासन को मजबूत बनाना था. इसी उद्देश्य के तहत ब्रिटिश सरकार ने 1833 ई. के चार्टर अधिनियम के द्वारा पहली बार गवर्नर जनरल के पद को अधिकार देकर उसके महत्व को स्थापित किया गया. अब बंगाल का गवर्नर जनरल भारत का गवर्नर जनरल बन गया तथा उसे भारत के सभी ब्रिटिश अधिकृत क्षेत्रों के लिए कानून बनाने का अधिकार दे दिया गया. यह कानून अंग्रेज, भारतीय, विदेशी तथा सभी कंपनी कर्मचारियों पर लागू होंगे. प्रांतीय सरकारें पूर्णतया गवर्नर जनरल एवं उसके काउंसिल के नियंत्रण में होंगे. उसकी सहायता के लिए काउंसिल में एक नये सदस्य की नियुक्ति की गई, जिसका कार्य पूर्णतया वैधानिक था. विधि विधान की भूमिका रखने वाले इस सदस्य, लार्ड मैकाले ने बैटिक के साथ प्रशासनिक नियमों एवं शिक्षा नीति में सुधार के लिए महत्वपूर्ण भूमिका अदा की.

लार्ड कार्नवालिस के बाद भारत में प्रशासनिक एवं न्याय व्यवस्था पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया. कार्नवालिस जहां तक संभव था, प्राशासनिक पदों पर अंग्रेजों को ही नियुक्त करने की नीति का पालन करता था. कार्नवालिस भारतीयों को भ्रष्ट एवं इमानदारी से कार्य करने में असमर्थ बताता था, जबकि कंपनी यूरोपियन अधिकारी काफी भ्रष्ट थे. यही कारण था कि बैटिक ने इस व्यवस्था को आर्थिक एवं न्याय की दृष्टि से उपयुक्त नहीं माना. 1833 ई. के चार्टर एक्ट की धारा 87 के अनुसार- 'योग्यता ही सेवा का आधार' को सम्मिलित किया गया और सिद्धांततः यह स्वीकार किया गया कि अब जाति, धर्म, रंग, जन्म एवं वंश के आधार पर किसी भी व्यक्ति को कंपनी की सेवाओं से वंचित नहीं किया जाएगा. इस प्रकार बैटिक ने प्रशासन में भारतीयों की नियुक्ति करके आर्थिक एवं सामाजिक लाभ प्राप्त करने में मदद की. बैटिक की इन नीतियों ने भारतीयों के लिए वृहद अवसर प्रदान किए.

बैटिक के प्रशासकीय नेतृत्व ने 1833 के चार्टर अधिनियम द्वारा पहली बार सिविल सर्विस में प्रतियोगिता के द्वारा नियुक्ति का सिद्धांत आया. अभी तक इसपद पर केवल मनोनयन होता था. परंतु यह प्रतियोगिता बहुत सीमित

अर्थों में थी. आवश्यक पदों पर चार गुना प्रत्याशियों का मनोनयन कर इनके मध्य प्रतियोगिता परीक्षा आयोजित की जाती थी. इसमें से एक चौथाई लोगों को अंतिम रूप से सिविल सर्विस के लिए चुना जाता था.

बैंटिक ने जिले को पूर्ण रूप से कलक्टर के नियन्त्रण में दे दिया. मैजिस्ट्रेट एवं पुलिस अधीक्षक भी कलक्टर के अधीन कर दिए गये. कलक्टर एवं तहसीलदार के बीच डिप्टी कलक्टर की नियुक्ति होने लगी तथा अनुभवी भारतीयों को भी इस पद पर नियुक्त किया जाने लगा. बैंटिक ने स्थानीय आवश्यकताओं के अनुकूल प्रशासन को ढालने के लिए, स्थानीय समस्याओं की भारतीयों को बेहतर समझ तथा प्रशासन में होने वाले खर्च के कारण भारतीयों की प्रशासन में भागीदारी को सार्वजनिक तौर पर स्वीकार किया. इसे न्याय एवं नैतिकता का आवरण देकर निचले पदों पर भारतीयों को नियुक्त किया जाने लगा.

बैंटिक ने न्यायिक सुधार के तहत कार्नवालिस द्वारा प्रारंभ किए गए प्रांतीय अपीलीय न्यायालय तथा सर्किट न्यायालय को समाप्त कर दिया क्योंकि इनमें न्याय महंगा था और कार्य प्रणाली सही नहीं होने के कारण समय का व्यय बहुत ज्यादा होता था. उसने राजस्व तथा सर्किट कार्यों के लिए कमिश्नर नियुक्त किए. बैंटिक ने बंद न्यायालयों का कार्य मैजिस्ट्रेट तथा कलेक्टरों को दे दिया. 1831 ई. में एक आदेश द्वारा जिला तथा नगर अदालतों में प्रतिष्ठित भारतीयों की नियुक्ति की अनुमति प्रदान की. भारतीयों को 300 रुपए तक के मुकदमें सुनने का अधिकार था. आधुनिक उत्तर प्रदेश के लिए इलाहाबाद में एक सदर दीवानी अदालत और एक सदर निजामत अदालत की स्थापना की गई ताकि यहां के लोगों को कलकत्ता नहीं जाना पड़े. 1832 ई. के एक कानून के द्वारा बंगाल में ज्यूरी पद्धति को प्रारंभ किया गया. यूरोपियन न्यायधीशों को इस बात का अधिकार दिया गया कि वे स्थानीय पंचायतों को मुकदमा भेजकर आवश्यक जांच-पड़ताल करवाए तथा उक्त सूचना के आधार पर न्याय करें. बैंटिक ने अदालती भाषा के रूप में प्रयोग में लाए जाने वाली फारसी को छोड़कर लोगों को अपनी प्रादेशिक भाषा में मुकदमा पेश करने की स्वतंत्रता दे दी. इससे अदालतों का कार्य लोगों के लिए आसान हो गया. बैंटिक ने 1833 ई. में लार्ड मैकाले की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन किया. जिसने भारतीय दंड संहिता और सैनिक एवं असैनिक कानूनी नियमों का संकलन किया. जिसे संपूर्ण ब्रिटिश भारत में प्रत्येक भारतीय पर जातिगत या सामाजिक भेदभाव के बिना समान रूप से लागू किया गया. सिद्धांत के तौर पर यह कानून एवं न्याय के शासन की बात थी परन्तु समानता के इस सिद्धांत से यूरोपवासी मुक्त थे. उनके लिए अलग कानून और न्यायालय थे. महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस न्यायिक सुधार से न्याय बहुत महंगा हो गया तथा साधारण व्यक्ति की पहुंच से बाहर हो गया. अब अदालतों में लोगों को अदालती शुल्क देना पड़ता था. कानून साधारण व्यक्ति की समझ से परे था. अतः वकील भी रखना पड़ता था, इससे सामान्य व्यक्ति के खर्च में वृद्धि हुई. इस सुधार की एक उपलब्धि यह थी कि इससे भारत में न्यायिक एकीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ.

3.5 शैक्षिक एवं सामाजिक सुधार

बैंटिक का काल का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य शिक्षा एवं सामाजिक सुधार था. निःसंदेह कंपनी को आर्थिक घाटे से उबारने के लिए छोटी नौकरियों पर भारतीयों को लेने की आवश्यकता थी, जिससे कंपनी के व्यय में कमी आए. यदि भारतीय शिक्षित होंगे तो यह काम और आसान होगा साथ ही साथ अंग्रेजी सभ्यता का प्रसार कर अंग्रेजी शासन को सुदृढ़ बनाया जा सकता है. एल्फिंस्टन ने 1825 ई. में ही कहा था कि सामाजिक सुधार का सबसे प्रभावशाली मार्ग शिक्षा है. अतः शिक्षा एवं सामाजिक सुधार उसके सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्यों में से एक है.

3.5.1 शिक्षा में सुधार

1813 ई. के चार्टर एक्ट में यह निश्चित किया गया था कि कंपनी प्रतिवर्ष एक लाख रुपया भारतीयों की शिक्षा के लिए व्यय करेगी परंतु बैंटिक के भारत आने तक इस तरह का कोई प्रयास नहीं किया गया. 1823 ई. में भी भारत में शिक्षा के विकास के लिए 'जनरल कमेटी ऑफ़ पब्लिक इंस्ट्रक्शन' गठित की गई परंतु इस कमेटी के ज्यादातर

सदस्यप्राच्यवादी शिक्षा के पक्ष में थे. 1833 के चार्टर अधिनियम में शिक्षा पर खर्च को एक लाख रुपये से बढ़ाकर 10 लाख रुपये प्रतिवर्ष कर दिया गया.बैंटिक ने भारतीयों के शिक्षा के लिए कदम उठाने का निर्णय किया. सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह था कि इस धन को किस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था की जाए? भारतीयों के प्राचीन ग्रंथों, पाठशालाओं, मकतबों पर धन व्यय किया जाएगा या पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के आधार पर स्कूल, कालेज खोला जाए. एक विवाद शिक्षा के माध्यम को लेकर भी था. शिक्षा का माध्यम संस्कृत एवं फारसी हो या फिर अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया जाना चाहिए ?

इन प्रश्न के निराकरण के लिए लार्ड मैकाले की अध्यक्षता में बैंटिक ने 'सार्वजनिक शिक्षा समिति'के नाम से एक समिति बनाई परंतु इस समिति के सदस्यों के बीच गहरे मतभेद थे. एक वर्ग जिसका नेतृत्व विल्सन और प्रिंसेप बंधु कर रहे थे. प्राच्य विद्या (भारतीय शिक्षा) का समर्थन कर रहा था जबकि दूसरा वर्ग जिसका नेतृत्व ट्रेवेलियन कर रहे थे, पाश्चात्य शिक्षा (आंग्ल शिक्षा) का समर्थन कर रहे थे और उन्हें राजाराम मोहन राय जैसे उदारवादियों का समर्थन भी प्राप्त था. अंत में मैकाले ने 2 फरवरी 1835 ई. को अपने प्रसिद्ध स्मरण पत्र में अपने विचारों को प्रस्तुत किया. इस विख्यात वाद-विवाद में मैकाले ने अंग्रेजी भाषा, साहित्य एवं विज्ञान को भारत में लाने का निर्णय किया तथा अंग्रेजी को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने का प्रयास किया. उसने अपने विवरण में भारत के आयुर्वेद विज्ञान, गणित, ज्योतिष, इतिहास तथा भूगोल की खिल्ली उड़ाई और कहा,“ क्या हमें यह मिथ्या धर्म से संबंधित इतिहास, गणित, ज्योतिष और आयुर्वेद पढ़ाना है.”उसने कहा कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक शिक्षा का सर्वथा अभाव है और ज्ञान की दृष्टि से वे बहुत निम्न श्रेणी की हैं. मैकाले ने कहा,“ यूरोप के अच्छे पुस्तकालय की आलमारी का केवल एक भाग ही भारत और अरब के समस्त साहित्य के बराबर है.” अपने प्रस्तावों में मैकाले की यह योजना थी कि इस शिक्षा व्यवस्था के द्वारा एक ऐसा वर्ग उत्पन्न होगा जो रंग तथा रक्त से तो भारतीय होगा परंतु प्रवृत्ति, विचार, नैतिकता तथा बुद्धि से अंग्रेज हो. अतः मैकाले के समर्थन के कारण 7 मार्च 1835 ई. को अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम एवं पाश्चात्य शिक्षा को भारतीय शिक्षा व्यवस्था के आधार पर स्वीकार कर लिया गया. यहीं से भारत में अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत हुई. 1835 ई. में ही कलकत्ता में एक मेडिकल कॉलेज की स्थापना की गई.

बैंटिक द्वारा 1835 ई. में घोषित प्रस्ताव के अनुसार राजभाषा के रूप में फ़ारसी का स्थान अंग्रेजी को दिया गया.अंग्रेजी पुस्तक का प्रकाशन निःशुल्क कर दिया गया ताकि कम से कम कीमत पर लोगो को उपलब्ध हो. अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार में सरकार द्वारा वित्तीय सहायता प्रदान की जाने लगी, जबकि प्राच्य विद्या के लिए अब वित्तीय सहायता नहीं दी जाएगी.

अतः स्पष्ट है कि मैकाले ब्रिटेन और अंग्रेजी शिक्षा का भक्त था. कंपनी को शिक्षित क्लर्कों की आवश्यकता थी. मैकाले का यह मानना था कि पाश्चात्य शिक्षा द्वारा भारतीय सभ्यता एवं विचारों को प्रभावित करके, भारत में अंग्रेजी शासन, संस्कृत एवं धर्म की सुरक्षा तथा विस्तार में सहजता होगी. मैकाले का उद्देश्य जो भी था परंतु यह स्पष्ट था कि उसका उद्देश्य कम से कम भारतीय समाज का हित तो नहीं था.इस अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था ने व्यापक जन शिक्षा के महत्व की उपेक्षा की. इस व्यवस्था के तहत कुछ गिने-चुने लोगों को ही शिक्षित किया जाना था. ऐसा माना गया कि इन गिने-चुने लोगों द्वारा धीरे-धीरे सामान्य जन समुदाय तक शिक्षा का प्रसार होगा. परन्तु या व्यावहारिक रूप से असफल रहा. समाज का व्यापक समुदाय बुनियादी शिक्षा के वंचित रहा. अतः उद्देश्य आम जनता को शिक्षित करना नहीं अपितु औपनिवेशिक प्रशासन के हितों की पुष्टि करना था.परंतु इस निर्णय से भारत को जो लाभ हुए उसका वर्णन करना कठिन है. इसने राष्ट्रीय एकता एवं स्वतंत्रता में महत्वपूर्ण योगदान दिया और आज भी यह देश की सरकारी भाषा बनी हुई है.

3.5.2 सामाजिक सुधार

बैंटिक ने सामाजिक सुधारों के अंतर्गत पुरानी प्रचलित कुरीतियों को जड़ से समाप्त करने का प्रयास किया। इसके साथ ही भारत में सामाजिक सुधारों के लिए मजबूत एवं सफल रास्ता तैयार किया। समाज में सति प्रथा, शिशु वध, नर बलि, ठगी प्रथा जैसी सामाजिक कुरीतियां समाज एवं देश को कलंकित कर रही थीं। इससे पूर्व किसी भी गवर्नर जनरल ने सामाजिक समास्याओं को इतने दृढ़ता से निपटाने का प्रयास नहीं किया था क्योंकि गवर्नर जनरल भारत की सामाजिक परंपराओं में हस्तक्षेप करना कंपनी के हितों में नहीं मानते थे परंतु बैंटिक ने इसकी परवाह न करते हुए इन कुरीतियों को समाप्त करने का साहसिक कदम उठाया। बैंटिक ने सबसे पहला प्रयास सती प्रथा को समाप्त करने के लिए किया। सती प्रथा एक ऐसी अमानवीय एवं क्रूर प्रथा थी, जिसमें स्त्री पति की मृत्यु के बाद स्वयं को उसके शव के साथ जला कर मर जाती थी। हिंदू परंपरा में ऐसा माना जाता है कि स्त्री-पुरुष का संबंध शाश्वत एवं जन्मान्तर का है। संभवतः कई बार स्त्रियां स्वेच्छा से चिता में जलती थीं परंतु कई बार सामाजिक असम्मान, रिश्तेदारों का भय और ईर्ष्या आदि के कारण जलने को बाध्य कर दिया जाता था। अनेकों बार मादक द्रव्य पिलाकर अचेत करके पति की चिता में बल पूर्वक फेंक दिया जाता था।

1795 ई. में कॉलब्रुक ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि सती प्रथा वैदिक परंपरा का हिस्सा नहीं है। कार्नवालिस के कार्यकाल में कुछ कलक्टरों ने सती प्रथा को रोकने का प्रयास किया। परंतु उन्हें निर्देश था कि दमन की बजाय आग्रह एवं बातचीत की नीति अपनाई जाए। विलियम कैरे काफी सर्वेक्षण एवं अध्ययन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचा था कि हिंदू धर्म में सती प्रथा कहीं से भी आवश्यक नहीं है। उसने वेलेजली से इस पर रोक लगाने की मांग की थी। 1819 एवं 1821 ई. में सुप्रीम कोर्ट के न्यायिक अधिकारियों द्वारा इस प्रथा पर रोक लगाने की मांग की गई। लार्ड हेस्टिंग्स के समक्ष भी इस पर रोक लगाने का प्रस्ताव था। परन्तु जन असंतोष एवं धार्मिक उन्माद के भय से वह पीछे हट गया। इससे पूर्व में भी अकबर, जहांगीर, गुरु रामदास, मराठे, पेशवा तथा गोवा के पुर्तगाली शासकों ने भी इस अमानवीय प्रथा को रोकने का प्रयास किया। तत्कालीन समय में राजा राम मोहन राय, देवेन्द्र नाथ टैगोर जैसे उदारवादियों ने भी सती प्रथा का विरोध करा प्रारंभ कर दिया तथा इस पर रोक लगाने की मांग की। राजा राम मोहन राय के नेतृत्व में बंगाली बुद्धिजीवियों के एक वर्ग ने सती प्रथा के उन्मूलन के लिए आन्दोलन खड़ा कर दिया। उन्होंने इस प्रथा को समाप्त करने के लिए सरकार के पास ज्ञापन भेजा तथा रुढ़िवादियों के तर्कों का खंडन किया। उन्होंने सती प्रथा के विरुद्ध जनमत तैयार करने के लिए पर्चे निकाले, समाचार पत्रों में लेख लिखे। समाचार-दर्पण एवं बंग दूत जैसे प्रगतिशील समाचार पत्रों ने भी इस अभियान का समर्थन किया।

भारत और ब्रिटेन में सती प्रथा पर रोक लगाने की इस मुहिम के बावजूद भी इंग्लैंड की सरकार इसमें हस्तक्षेप के पक्ष में नहीं थी। उन्होंने स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए बैंटिक को निर्णय लेने के लिए अधिकृत किया। बैंटिक ने सती से संबंधित तथ्यों को एकत्रित कर उनका अध्ययन किया साथ ही धार्मिक ग्रंथों, हिंदू कानूनों के अंतर्गत स्त्री के अधिकारों का पूरा अध्ययन किया। उसने न्यायाधिशों, पुलिस अधिकारियों तथा सैनिक अधिकारियों से भी चर्चा की तथा इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि इस प्रथा पर रोक लगाने से विद्रोह की कोई संभावना नहीं है। दिसंबर 1829 ई. में नियम 17 द्वारा विधवाओं को जलाना अवैध घोषित कर दिया गया। इसको प्रेरणा देने वाले लोग भी हत्या के दोषी पाए जाएंगे, प्रारंभ में यह कानून केवल बंगाल प्रेसिडेंसी में लागू हुआ परंतु 1830 ई. में इसे बंबई एवं मद्रास प्रेसिडेंसी में भी लागू कर दिया गया। जैसा कि रूढ़िवादी लोग पहले से यह आशंका जता रहे थे कि इसपर रोक से अव्यवस्था एवं विद्रोह फैल जाएगा, गलत निकला। कुछ रूढ़िवादियों ने इस कानून के विरुद्ध लंदन में प्रिवी काउंसिल में अपील भी की परंतु दूसरी तरफ भारतीय उदारवादियों का समूह राजा राम मोहन राय एवं देवेन्द्र नाथ टैगोर के नेतृत्व में इस कानून के समर्थन में खड़े रहे। उन्होंने बैंटिक तथा ब्रिटिश सम्राट को पत्र लिखकर आभार प्रगट किया। बूलजले हेग ने लिखा है कि 'यह कंपनी सरकार द्वारा भारत की सामाजिक तथा धार्मिक प्रथाओं में हस्तक्षेप करने का अत्यंत साहसिक कदम था.'

भारतीय समाज में अनेक जगहों पर देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए नर बलि दिए जाने की प्रथा का कुछ विशेष वर्ग में प्रचलन था. इसी प्रकार राजपूत राज्यों में सम्मान की रक्षा के लिए लड़कियों को जन्म लेते ही मार दिया जाता था. बैटिक ने इस बाल हत्या एवं नर बली की अमानवीय प्रथा को गैर कानूनी घोषित कर समाप्त करने का प्रयास किया.

भारत में ठगी प्रथा के आतंक से व्यापार एवं यात्रा सुरक्षित नहीं था. ठग डाकूओं एवं हत्यारों का ऐसा समूह था, जो धोखा देकर व्यक्तियों को लूट लेते थे और हत्या कर देते थे. ठगों के लिए 'फांसीगर' शब्दों का प्रयोग किया गया है क्योंकि वो रूमाल के फंदे से शिकार का गला घोटकर हत्या कर धन-संपदा लूट लेते थे. ये अवध से लेकर हैदराबाद, राजपूताना तथा बुंदेलखंड में सक्रिय थे. मुगल साम्राज्य के पतन के बाद भारत में शक्तिशालि केंद्रीय प्राशासनिक व्यवस्था तथा पुलिस व्यवस्था लगभग समाप्त हो गई थी. छोटी-छोटी रियासतें इन समस्याओं से लड़ने में अक्षम सिद्ध हो रहे थे. जबकि ठग लोग समूहों में संगठित हो रहे थे तथा इनकी संख्या बढ़ती जा रही थी. इसमें हिंदू और मुसलमान दोनों धर्मों के लोग शामिल थे. परंतु वास्तव में ये लोग काली या दुर्गा के उपासक थे और प्रायः व्यक्ति का शिकार सिर काटकर देवी को बली के रूप में चढ़ाते थे. ठगों का दल पूर्ण रूपेण संगठित था, कुछ लोग यात्रियों के मुखबिरी या भेदिये का काम करते, कुछ गला घोटने में निपुण होते तथा कुछ कन्न खोदकर मृतक को तुरंत ठिकाने लगे देते ताकि कोई साक्ष्य न रहे. ठगों का अनुशासन काफी कठोर था. इसलिए इनके असफल होने की संभावना नहीं के बराबर थी.

सती के प्रश्न पर समाज में मतभेद भी थे, परंतु ठगी के प्रश्न पर जनता कंपनी सरकार के साथ खड़ी थी. विलियम बैटिक ने कर्नल विलियम स्लीमैन को एक विशाल सेना देकर योजनाबद्ध ढंग से ठगों को समाप्त करने का दायित्व सौंपा. स्थानीय रियासतों को भी इस अभियान में शामिल किया गया. उसने 1500 ठगों को पकड़ा, जिन्हें आजीवन कारावास या मृत्युदंड दिया गया. कुछ को आजीवन निर्वासित कर दिया गया. सतत प्रयासों के उपरांत 1837 ई. के पश्चात संगठित रूप में ठगों का अंत कर दिया गया और इस प्रकार जनता ने इस आतंक से राहत की सांस ली.

3.6 भारतीय रियासतों के प्रति नीति

विलियम बैटिक ने भारतीय रियासतों के संबंध में हस्तक्षेप न करने की नीति अपनाई. 1829 ई. में हैदराबाद के निजाम सिकंदर शाह की मृत्यु के बाद नाजिरुद्दौला निजाम बना. उसने कुछ ब्रिटिश अधिकारियों को राज्य से हटाने की प्रार्थना की. बैटिक ने उसकी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली. जयपुर में रानी तथा उसके प्रेमी को फांसी दे दी गई थी, इससे उपजे विवाद के कारण ब्रिटिश रेजिडेंट पर आक्रमण किया गया. ऐसी परिस्थिति के बाद भी बैटिक ने अहस्तक्षेप की नीति अपनाई. इसी प्रकार भोपाल में सिकंदर बेगम ने शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली. स्थिति अत्यंत उलझी हुई थी फिर भी बैटिक तटस्थ रहा. उसने जोधपुर, बूंदी और कोटा में भी तटस्थता की नीति का ही पालन किया. यद्यपि वहां हस्तक्षेप करने के पर्याप्त कारण मौजूद थे.

बैटिक ने मैसूर, कुर्ग तथा कछाड़ की रियासतों को तटस्थता की नीति के विपरीत जाकर कंपनी शासन में मिला लिया क्योंकि इन राज्यों में भारी अव्यवस्था थी. मैसूर में राजा के कुशासन से प्रजा तंग थी. अतः प्रजा के हित में बैटिक ने शासन व्यवस्था अपने हाथ में ले ली. कुर्ग का शासक पागल हो गया था उसने राजपरिवार के प्रत्येक पुरुष सदस्य को मार डाला तथा प्रजा पर भी अत्याचार करता था. बार-बार चेतावनी के बाद भी जब राजा ने स्वयं में सुधार नहीं किया तो बैटिक ने उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी. बैटिक ने महाराजा रणजीत सिंह से 1831 ई. में इस उद्देश्य से मित्रता स्थापित की ताकि रूस के आक्रमण के समय एक-दूसरे को सहयोग दिया जा सके. बैटिक का रणजीत सिंह से मिलना एक ऐतिहासिक घटना थी. इस प्रकार बैटिक ने अपने शासनकाल में कंपनी के उपनिवेशों में स्थिति को मजबूत बनाया और भारतीय शासकों के साथ शांतिपूर्ण संबंध बनाए.

3.7 समाचार पत्रों के प्रति नीति

समाचार पत्रों के प्रति भी बैटिक ने उदारता की नीति अपनाई. वह इस बात में विश्वास करता था कि समाचार पत्र असंतोष से रक्षा का अभिद्वार हैं. उसे पूर्व विश्वास था कि कर्मचारियों या लोगों की भावनाएं सार्वजनिक रूप से व्यक्त करने से वास्तविक तथ्य सामने आएंगे और राज्य विद्रोह जैसी स्थिति से बच सकता है परंतु सैनिक भत्ता बंद करने के पश्चात उसने इसकी आलोचना पर रोक लगा दी. भारतीय एवं यूरोपिय पत्रकारों ने पूर्ण स्वतंत्रता की मांग की तो उसने इस विषय में कानून बनाने का आश्वासन दिया. जिससे निष्पक्ष पत्रकारों को संरक्षण मिल सके. बैटिक को मार्च 1835 ई. में स्वास्थ्य कारणों से त्यागपत्र देना पड़ा और समाचार पत्रों से समाप्त करने का श्रेय उसके उत्तराधिकारी चार्ल्स मेटकाफ को प्राप्त हुआ.

3.8 सारांश

बैटिक का सात वर्षों का शासनकाल भारत में सुधारों का युग था. बैटिक ने युद्धों को तिलांजलि देकर सुधारों के द्वारा जिस तरह से कंपनी की स्थिति को सुदृढ़ किया. वह सराहनीय है. बैटिक संभवतः भारत का एकमात्र गवर्नर जनरल था, जिसने यह स्वीकार किया कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव शक्ति पर नहीं वरन जनसमर्थन और जनसहभागिता पर होनी चाहिए. इसने जनकल्याण को भारत में कंपनी का प्रमुख कार्य माना. उसने भारत में जो सुधार किए, उससे रूढ़ीवादी परंपराओं पर एक कठोर प्रहार हुआ. उसने आर्थिक मितव्ययता एवं पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार के द्वारा एक नए अध्याय की शुरुआत की. पी ई राबर्ट्स ने लिखा है किनिःसंदेह वह प्रथम गवर्नर जनरल था, जो प्रत्यक्ष रूप से इस सिद्धांत का अनुसरण करता था कि प्रजा की हित उसका मुख्य ही नहीं, संभवतः अंग्रेजों का भारत में प्रथम कर्तव्य है. आर सी दत्त ने उसके कार्यों को संक्षेप में इस प्रकार वर्णित किया है. 'विलियम बैटिक के सात वर्षों का शासन शांति, अल्प व्यय तथा सुधार का युग था. उसने ईस्ट इंडिया कंपनी के उपनिवेशों में शांति स्थापित की तथा भारतीय शासकों के साथ शांतिपूर्वक रहा. उसने सार्वजनिक ऋण को घटा दिया, वार्षिक व्यय को कम कर दिया तथा कंपनी को लाभ की स्थिति में पहुंचा दिया.' मैकाले ने तो उसकी अद्वितीय प्रशंसा की है. प्राशासनिक एवं सामाजिक सुधारों के कारण बैटिक का नाम भारतीय इतिहास में दिर्घकाल तक याद किया जाएगा.

स्वमूल्यांकित प्रश्न

1. ब्रिटिश भारत का प्रथम गवर्नर जनरल था.
2. 1829 ई. में सती प्रथा को नियम.....के तहत अवैध घोषित किया गया.
3. भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रवर्तक.....को माना जाता है.
4. भारत में पाश्चात्य शिक्षा.....के काल में प्रारंभ हुई.
5. ठगी प्रथा का अंत करने का दायित्व बैटिक ने.....को सौंपा.
6. भारतीय उदारवादी नेता.....जिन्होंने बैटिक के सुधारों का समर्थन किया.
7. विलियम बैटिक को 1803 ई. में का गवर्नर बनाया गया.

3.9 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1. लार्ड विलियम बैटिक
2. 17
3. लार्ड मैकाले
4. विलियम बैटिक
5. कर्नल विलियम स्लीमैन
6. राजा राम मोहन राय

7. मद्रास

3.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

J. Rosehli: Lord William Bentick

Sekhar Bandyopadhyay: From Plassey to Partition

P.E. Roberts: History of British India

वी. एल. ग्रोवर: आधुनिक भारत का इतिहास

एल.पी. शर्मा: आधुनिक भारत

3.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. विलियम बेंटिक के आर्थिक, प्रशासकीय और न्यायिक सुधारों का वर्णन कीजिये.
2. 'विलियम बेंटिक एक उदार गवर्नर जनरल था' इस कथन के आधार पर बेंटिक के शैक्षिक एवं सामाजिक सुधारों का वर्णन कीजिये.
3. विलियम बेंटिक के सुधारों का मूल्यांकन कीजिये.

रणजीत सिंह : जीवन एवं उपलब्धियाँ

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 रणजीत सिंह के जन्म से पूर्व पंजाब की राजनैतिक स्थिति
- 1.4 मिस्ल की व्यवस्था
- 1.5 रणजीत सिंह तथा उनके शासन के आरंभिक वर्ष
 - 1.5.1 रणजीत सिंह तथा क्षेत्रीय विस्तार
 - 1.5.2 रणजीत सिंह तथा अंग्रेजी हुकूमत
 - 1.5.3 रणजीत सिंह तथा उनका प्रशासन
- 1.6 सारांश
- 1.7 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 1.8 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

रणजीत सिंह भारतीय इतिहास का वो व्यक्तित्व है जिसको पढ़े बगैर 19वीं सदी के पूर्वार्ध के उत्तर भारतीय इतिहास को नहीं समझा जा सकता है। इस इकाई में हम रणजीत सिंह से पूर्व पंजाब क्षेत्र की जो राजनैतिक स्थिति थी उसका अध्ययन करेंगे। हम यह भी देखने की कोशिश करेंगे कि रणजीत सिंह से पूर्व, स्थानीय स्तर पर पंजाब की राजनीति की क्या स्थिति थी, और किस प्रकार उस क्षेत्र में मौजूद सभी कबीले अपनी शक्ति तथा प्रभुत्व को एक दूसरे पर थोपने की कोशिश कर रहे थे तथा कैसे सुकरचकिया कबिले ने बाकि राजनैतिक शक्तियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। इसमें हम उस क्षेत्र की राजनैतिक गतिविधियों को भी समझने की कोशिश करेंगे जिसने रणजीत सिंह को इतने बड़े राज्य का महाराजा बना दिया। रणजीत सिंह तथा उनके राज्य के क्षेत्रीय विस्तार का आलोचनात्मक परीक्षण किया जाएगा तथा उनके राजनैतिक अभियान तथा विस्तारवादी नीति का भी अध्ययन किया जाएगा। रणजीत सिंह की अंग्रेजी हुकूमत से मित्रता के तमाम पहलुओं का आलोचनात्मक अध्ययन करने का इस इकाई में प्रयास किया गया है। अंत में उनकी मृत्यु के बाद इस क्षेत्र की राजनैतिक उथल-पुथल तथा इसका फायदा उठाकर अंग्रेजों ने किस प्रकार पंजाब पर अपनी हुकूमत स्थापित कर ली इसका भी अध्ययन किया गया है।

1.2 उद्देश्य

यहाँ रणजीत सिंह पर अध्ययन करने का हमारा उद्देश्य उनके जीवन के ऐसे ऐतिहासिक तथ्यों को उजागर करना है जो जन-मानस की बहस का हिस्सा नहीं बन पाए हैं। इस अध्ययन में हम रणजीत सिंह के व्यक्तित्व का आलोचनात्मक परीक्षण करने का प्रयास करेंगे ताकि जिससे पता चल सके कि उनके व्यक्तित्व में ऐसी कौन सी बात थी कि आज भी वह पूरे भारत वर्ष में इतने लोकप्रिय हैं। रणजीत सिंह के राजनैतिक विस्तार के तमाम पहलुओं को उजागर करना हमारा उद्देश्य है। इस तरह का अध्ययन न केवल रणजीत सिंह के राजनैतिक गतिविधियों पर प्रकाश डालेगा बल्कि उनके द्वारा शासित जनता का अपने शासक को लेकर क्या विचार है इस पहलु को भी उजागर करेगा। हमारा उद्देश्य न केवल उस क्षेत्र की

राजनैतिक गतिविधियों को समझना है जिसने रणजीत सिंह को महाराजा के रूप में शक्ति प्रदान की, बल्कि उस तथ्य पर भी प्रकाश डालना है कि किस प्रकार उन्होंने अपने क्षेत्र को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रकोप से बचा कर रखा।

1.3 रणजीत सिंह के जन्म से पूर्व पंजाब की राजनैतिक स्थिति

नादिर शाह का 1739 में दिल्ली पर हमला पहले से ही खासकर औरंगजेब की मृत्यु के बाद, अपने पतन की ओर बढ़ रहे मुगल साम्राज्य के लिए एक बड़ा झटका था, परन्तु यह घटना सबके लिए अशुभ नहीं थी। इस स्थिति का फायदा उठाकर कई राज्य अपनी शक्ति को संगठित करने में लग गए तथा मुगल साम्राज्य से अपनी राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए उन्होंने आक्रमक रुख अपनाया। दिल्ली पर अहमद शाह अब्दाली के आक्रमण ने पंजाब में सिख शक्ति को संगठित होने का एक अवसर प्रदान कर दिया। सिख सरदारों की शक्ति का केंद्र अमृतसर था, जहाँ से ये अन्य क्षेत्रों में अपनी शक्ति का विस्तार करने लगे। लाहौर के गवर्नर मीर मुनू को सिख शक्ति के उदय के दूरगामी प्रभाव का अंदाजा था। इसलिए गवर्नर ने सिख सरदारों की शक्तियों को शुरू में ही कुचलना बेहतर समझा। मीर मुनू से बचने के लिए सिख सरदार तथा आन्दोलनकारी गाँवों में शरण लेने लगे। मीर मुनू ने विद्रोही सेना पर आक्रमण कर उन्हें तितर-बितर कर दिया तथा उनके किले पर भी कब्जा कर लिया। अमृतसर तथा उनके आस-पास के क्षेत्रों में कानून-व्यवस्था को बहाल करने के लिए कई उपाय किए गये। अपनी बहादुरी के बावजूद मीर-मुनू दिल्ली के षड़यन्त्र का शिकार हो गया। इस षड़यन्त्र के रचयिताओं में बजीर सफदर जंग भी था।

मुलतान के शासन की जिम्मेदारी मीन मुनू से लेकर शाहनवाज को सौंप दी जाती है। कौनरा मूल जिसे मीर मुनू ने अपना दीवान नियुक्त किया था, को शाहनवाज के खिलाफ खड़ा कर दिया। शाहनवाज तथा कौनरा मूल के बीच युद्ध होता है जिसमें शाहनवाज मारा जाता है। मीर मुनू तथा कौनरा मूल, अहमद शाह अब्दाली के दूसरे आक्रमण के कारण, इस विजय का जश्न बहुत अधिक दिनों तक नहीं मना पाए। अप्रैल 1752 में हुए इस युद्ध में कौनरा मूल की मृत्यु हो जाती है। मीर मुनू भी अब्दाली सेना के सामने बहुत अधिक दिनों तक नहीं टिक पाये और अंततः अब्दाली के सम्मुख समर्पण करने पर मजबूर हुए। भारी-भरकम रकम युद्ध हर्जाने के रूप में लेकर अब्दाली वापस लौट गया। लौटने से पहले उसने मीर मुनू को लाहौर तथा मुलतान दोनों का वाइसराय नियुक्त कर दिया था।

इसी बीच अब्दाली के निर्देश से उसकी सेना की एक टुकड़ी अब्दुल्ला खान के नेतृत्व में कश्मीर की तरफ बढ़ी और जल्द ही उसे आसानी से जीत लिया। मीर मुनू की आकस्मिक मृत्यु के बाद उसकी पत्नी ने लाहौर तथा मुलतान के शासन की बागडोर संभाली। इस राजनैतिक उथल-पुथल ने सिक्ख सरदारों को संगठित होने का अवसर प्रदान किया।

1755 ई. में अब्दाली ने एक बार फिर भारत की ओर कूच किया, तथा उसकी सेना पंजाब के रास्ते दिल्ली तक पहुंची, यद्यपि उसने दिल्ली को जीत कर वापस मुगल शासक के हवाले कर दिया और वापस चला गया परन्तु दो महत्वपूर्ण सूबों पंजाब तथा सरहिंद को अपने नियंत्रण में ले लिया। इन दोनों सूबों के प्रशासन का दायित्व अपने पुत्र तैमूर के हाथों में दिया। स्थानीय अधिकारियों की शक्ति को कम करने के लिए तैमूर ने अदिना बेग जिसके नियंत्रण में समूचा जालंधर दोआब का क्षेत्र था को लाहौर तलब किया। भयभीत अदिना बेग ने सिख सरदारों तथा मराठों की सहायता लेना उचित समझा और उनकी मदद लेकर हमला कर दिया, इस अचानक हमले ने तैमूर को पीछे हटने के लिए मजबूर कर दिया। अब मराठा सेना जो अपनी शक्ति की पराकाष्ठा में थी, ने भी लाहौर पर कब्जा जमा लिया।

मराठों की बढ़ती शक्ति ने विभिन्न रियासतों के शासकों को भयभीत कर दिया था। शायद यही कारण था कि अहमद शाह अब्दाली ने मराठों को सबक सिखाने के लिए हिन्दुस्तान की तरफ कूच किया, उसकी

मदद के लिए अवध तथा रूहेलखण्ड के शासक पहले से ही तैयार थे। इन्होंने अब्दाली की प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से सहायता की। अपने अहंकार के कारण शायद मराठों का कोई मित्र नहीं था। 1761 में पानीपत का जो युद्ध हुआ उसमें मराठा सेना बुरी तरह पराजित हुई। दिल्ली में कुछ दिन रुकने के बाद अब्दाली काबुल लौट गया। अब उसने लाहौर और सरहिंद को स्थायी तौर पर अपने पास रखने का निर्णय लिया। इस प्रक्रिया को पूरा करने के लिए ख्वाजा उबैद खान को लाहौर तथा जैन खान को सरहिंद का गवर्नर नियुक्त किया।

इस समय की राजनीति की एक खास बात थी, सिख सरदारों का अपने आपको संघ जिसे मिस्ल कहते हैं में संगठित करना। मिस्ल की राजनीति ने सिख शक्ति को बहुत हद तक संगठित किया जिसका सीधा असर उस समय के पंजाब की राजनीति पर दिखता है। संभवतः यही कारण था कि एक सफल विजेता होने के बावजूद भी अब्दाली पंजाब में अपनी राजनीति की स्थायित्व देने में असफल रहा, उसे लगातार सिखों के हमले का सामना करना पड़ा। सिख मिस्लों की आक्रामक राजनीति के कारण पंजाब में अब्दाली की शक्ति तितर-बितर हो गयी। यहां पर एक बात ध्यान देने योग्य है कि सिख मिस्ल या सिख सरदार अब्दाली सेना से अपने संघर्ष के दौरान पूरी राजनैतिक सूझ-बूझ का इस्तेमाल करते थे। वे विशाल अफगान सेना से सीधे संघर्ष से बचते थे, जैसे ही अफगान सेना पंजाब के क्षेत्रों जैसे लाहौर, सरहिंद आदि को जीतकर अपनी सरकार स्थापित कर वापस लौटती थी, सिख सरदार उन राजनैतिक केन्द्रों पर आक्रमण कर उन पर कब्जा कर लेते थे

1.4 मिस्ल की व्यवस्था

पंजाब में सिख राजनीति के लिए 1763 का युद्ध बहुत महत्वपूर्ण था। दिसम्बर 1763 में सरहिंद की जंग सिख राजनीति के लिए निर्णायक साबित हुई। इस युद्ध में सरहिंद का गवर्नर जैन खान मारा गया तथा अफगान सेना को पराजय का सामना करना पड़ा। अब सरहिंद से जुमना तक सिख सेना का कब्जा हो गया। इस जीत के बाद सिख सरदार अमृतसर में जमा हुए और उन्होंने देग, तेग और फतेह नामक सिक्के जारी किये, अनेक सरदारों ने अपनी सुरक्षा बढ़ाने के लिए किलों का निर्माण कराना भी प्रारंभ कर दिया।

यहां हम देखते हैं कि धर्म ने सिखों को राजनैतिक रूप से संगठित होने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, बावजूद इस तथ्य के कि उनके अन्दर सामाजिक तथा आर्थिक गैर-बराबरी बहुत ही स्पष्ट रूप से विद्यमान थी। कनिंघम कहते हैं कि मिस्ल की व्यवस्था अंततः 'धार्मिक संघ सामंतवाद' का रूप ले लेती है। अगर संख्या की बात करें तो उस समय पंजाब की राजनीति में लगभग 12 मिस्ल मौजूद थे। प्रत्येक मिस्ल के सदस्य को अपने सरदार अर्थात् मिस्ल के मुखिया का निर्देश मानना होता था। यहां पर मिस्लों तथा उसके मुखिया के नामों का उल्लेख करना महत्वपूर्ण होगा। अहलुवालिया मिस्ल के मुखिया सरदार जस्सा सिंह थे, जो अहलु गांव के निवासी थे। भंगी मिस्ल एक अन्य शक्तिशाली मिस्ल थी जिसके संस्थापक सरदार धज्जा सिंह थे। डी मिस्ल ने अफगान सेना को पराजित कर 1764 में लाहौर पर कब्जा किया था। इसके अलावा कन्हैया मिस्ल, नकाई मिस्ल, रामगढ़िया मिस्ल, फूलकियन मिस्ल, निहंग मिस्ल, फ़ैजलपुरिया मिस्ल तथा सुकेरचकिया मिस्ल थे। सुकेरचकिया मिस्ल जिससे रणजीत सिंह संबंध रखते थे उनके नेतृत्व में धीरे-धीरे सबसे शक्तिशाली मिस्ल के रूप में उभरी।

यद्यपि धार्मिक पहचान ने विभिन्न मिस्लों को संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई परन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकाला जाना चाहिए कि मिस्लों तथा इनके सरदारों के बीच कोई मतभेद या संघर्ष नहीं था। वे अक्सर एक दूसरे पर अपनी शक्ति स्थापित करने के लिए संघर्ष का पथ चुनते थे, इतना ही नहीं उत्तराधिकार के प्रश्न पर भी एक मिस्ल के अन्दर मतभेद तथा संघर्ष कोई असाधारण घटना नहीं थी। इसी संघर्ष का शिकार रणजीत सिंह के दादा चुरुत सिंह को होना पड़ा था। उत्तराधिकार के सवाल पर अपने

पिता के विरुद्ध संघर्ष में बृज राज ने चुरुत सिंह से सहायता मांगी और इसके बदले चुरुत सिंह को सालाना नजराना देने का भी वचन दिया। चुरुत सिंह इसी अवसर की तलाश में था, क्योंकि बृजराज के पिता रंजीत देव से उसकी पुरानी दुश्मनी थी। इसी बीच रंजीत देव ने भंगी मिस्ल की सहायता से अपनी स्थिति मजबूत कर ली। इस संघर्ष में चुरुत सिंह मारा गया, पिता की मृत्यु के बाद महासिंह जिसकी आयु केवल दस वर्ष थी को सुकरचकिया मिस्ल का सरदार घोषित किया गया। महासिंह की माता अथवा चुरुत सिंह की विधवा ने चुरुत सिंह के मित्र जय सिंह की मदद से भंगी मिस्ल के सरदार झुण्डा सिंह की हत्या की योजना बनाई। यहीं से भंगी मिस्ल और सुकरचकिया मिस्ल की दुश्मनी की शुरुआत भी होती है।

यद्यपि सुकरचकिया मिस्ल ने झुण्डा सिंह की हत्या कर चुरुत सिंह की मृत्यु का बदला ले लिया था परन्तु अब इस मिस्ल के भीतर भी नेतृत्व को लेकर सवाल खड़े होने लगे थे। कई सरदार जो चुरुत सिंह के अधीन काम कर चुके थे, अल्प आयु के महासिंह पर अधिक भरोसा नहीं करते थे, परन्तु जल्द ही इस प्रकार के विरोध को दबा दिया जाता था। 1776 में महासिंह की राजनैतिक स्थिति को मजबूत करने के लिए उनका विवाह जीन्द के गुजपूत सिंह की पुत्री से कर दिया गया। अपनी आन्तरिक स्थिति को मजबूत करने के बाद महासिंह ने सुकरचकिया मिस्ल की राजनैतिक सीमा के विस्तार का निर्णय लिया। उसकी विस्तारवादी नीति का पहला शिकार बना पीर मोहम्मद जो रसूलनगर का जमींदार था। इस सफलता ने महासिंह को एक कुशल यादवा के रूप में स्थापित कर दिया, इस सफलता का असर उस क्षेत्र की राजनीति पर बहुत साफ दिखाई देने लगा। कुछ सरदार जो भंगी मिस्ल को अपनी सेना प्रदान करते थे, उन्होंने अपनी वफादारी बदल दी तथा संरक्षण प्राप्त करने के लिए महासिंह से जाकर मिलने लगे। अब सैनिक दृष्टि से कमजोर भंगी मिस्ल को अफगान सेना का सामना भी करना पड़ा, इस बदली हुई परिस्थिति ने भंगी मिस्ल की शक्ति को लगभग समाप्त कर दिया।

जब माहा सिंह पंजाब के मैदानी भाग में अपनी शक्ति के विस्तार में लगे हुए थे उसी समय जम्मू की राजनीतिक उथल पुथल ने उनकी विस्तार वादी नीति को एक और अवसर प्रदान किया। बृजराज ने अपने पिता तथा जम्मू के राजा राजा रंजीत देव को रास्ते से हटाकर सत्ता पर तो अपना अधिकार कर लिया था पर जल्द ही वह एक अकुशल शासक साबित हुआ। उसके विरुद्ध विरोध बढ़ रहा था। इस राजनैतिक उथल पुथल ने माहा सिंह को हस्तक्षेप का अवसर प्रदान किया। माहा सिंह ने जम्मू पर चढ़ाई कर दी। माहा सिंह ने अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हुए जम्मूशहर, जो कभी व्यापारियों तथा समृद्ध एवं धनी लोगों की शरणस्थली थी, को तबाह कर दिया। माहा सिंह की विस्तारवादी नीति ने उसके कई दुश्मन पैदा कर दिए। यहाँ तक कि एक समय में उसके संरक्षक की भूमिका निभाने वाले जय सिंह को भी उससे समस्या होने लगी। जम्मू अभियान के बाद माहा सिंह जब जय सिंह से मिलने अमृतसर पहुँचता है तो वहाँ उसे अपमानित किया जाता है। अपने अपमान का बदला लेने के लिए उसने रामगढ़िया मिस्ल के निष्कासित सरदार जुसा सिंह का समर्थन प्राप्त किया। माहा सिंह तथा जुसा सिंह की सामुहिक सेना ने जय सिंह के क्षेत्र पर आक्रमण किया। इस युद्ध में जय सिंह का बेटा गुरबक्श सिंह मारा जाता है। बाद के घटनाक्रम में इसी गुरबक्श सिंह की बेटी का विवाह माहा सिंह के बेटे रंजीत सिंह के साथ 1785 में होता है। अतः माहा सिंह के नेतृत्व में सुकरचकिया मिस्ल पंजाब की राजनीति में सबसे शक्तिशाली मिस्ल के रूप में सामने आती है। 1792 में केवल 29 वर्ष की आयु में माहा सिंह की मृत्यु हो जाती है।

1.5 रणजीत सिंह तथा उनके शासन के आरंभिक वर्ष

रणजीत सिंह का जन्म 1780 में हुआ था। बचपन में चेचक की वजह से उनकी एक आँख खराब हो जाती है। पिता माहा सिंह रणजीत सिंह को भी अपनी तरह एक योद्धा बनाना चाहते थे, शायद इसलिए रणजीत सिंह ने कलम तथा खिलौने की जगह बचपन में ही तलवार थाम ली। उन्होंने कभी भी औपचारिक

रूप से शिक्षा ग्रहण नहीं की परन्तु कहा जाता है कि वह दिमाग से इतना तेज थे कि इन्हें सभी गॉव के नाम संबंधित क्षेत्र के अनुसार याद थे। राजनैतिक समीकरण को मजबूत करने के लिए यह माना जाता है कि उनके पिता ने रणजीत सिंह का विवाह केवल 6 वर्ष की आयु में कर दिया था। उस समय उनकी पत्नी की उम्र शायद 5 वर्ष थी। कन्हैया मिस्ल में रणजीत सिंह की शादी करने में, सैनिक राजनैतिक तथा सामरिक दृष्टि से माहा सिंह और भी अधिक शक्तिशाली हो गये। उनके विवाह के बारे में कहा जाता है कि जब रणजीत सिंह बहुत बिमार थे, उस समय उनकी माता राजकौर उनकी दीर्घ आयु की दुआ मॉगने ज्वाला मुखी मंदिर जाती है। सादा जो गुरबक्श सिंह की विधवा तथा रामगढ़िया मिस्ल के जय सिंह की बहु थी, ने राजकौर को इस बात के लिए समझाने की कोशिश की जब रणजीत सिंह स्वस्थ हो जाए तब उनकी पुत्री महताब से रणजीत सिंह का विवाह कर दिया जाए। अंततः जय सिंह ने अपनी पोती के विवाह का प्रस्ताव जब माहा सिंह के सामने रखा तो वो भी इससे सहमत हो गए। इस प्रकार रणजीत सिंह तथा महताब का विवाह बड़े धूम धाम से किया जाता है।

अपने शासन के आरंभिक दिनों में ही रणजीत सिंह ने यह सिद्ध कर दिया था कि पंजाब का राज्य क्षेत्र विभिन्न परस्पर विरोधी शक्तियों के बीच नहीं बंटा रह सकता। समय की यह मॉग है कि इसका एकीकरण हो और वो भी रणजीत सिंह के अधीन। अपने शासन के शुरुआती दिनों में रणजीत सिंह को न केवल बाहरी शक्तियों से लोहा लेना पडा बल्कि आंतरिक प्रतिरोधों का भी सामना करना पडा। अल्प आयु के बावजूद उन्होंने बड़ी बहादुरी से आन्तरिक तथा बाहरी खतरे का दमन किया। उनकी कूटनीतिक चालों ने उन्हें एक सफल तथा कुशल प्रशासक के रूप में स्थापित कर दिया। पिता माहा सिंह ने बहादुरी के साथ सुकरचकिया मिक्ल के शासन क्षेत्र को अफगान आक्रमण से सुरक्षित रखा। परन्तु उनके मृत्यु के कुछ वर्ष बाद ही अफगान आक्रमण का एक नया दौर शुरु होता है।

रणजीत सिंह ने अफगान आक्रमण को अपनी महत्तवाकांक्षा की पूर्ति के लिए एक अवसर के रूप में इस्तेमाल किया। अफगान सेना की शक्ति का अन्दाजा लगाते हुए रणजीत सिंह ने यह तय किया कि वह काबुल के शासक शाह जमान को अपना सहयोग देकर पंजाब की आन्तरिक राजनीति पर अपनी पकड़ मजबूत करेगा। कूटनीतिक चाल चलते हुए रणजीत सिंह ने शाह जमान से मित्रता स्थापित कर ली। जमान की सेना ने 1798 में लाहौर पर अपना कब्जा कर लिया परन्तु बहुत जल्द ही स्थिति को भांपते हुए उसने लाहौर छोड़ने का निर्णय लिया क्योंकि अधिक दिनों तक वहाँ टिके रहना न तो आर्थिक हित में था और न ही राजनैतिक। जैसे ही जमान की सेना लाहौर से हटती है, साहेब सिंह, चैत सिंह तथा मुहर सिंह ने लाहौर को अपने नियंत्रण में ले लिया। रणजीत सिंह की नजर भी लाहौर पर थी। पहले तो उसने शाह जमान का विश्वास जीतने के लिए बारिश में फंसी अफगान सेना को सहायता प्रदान की तथा उनके तोपों को सुरक्षित जमान को सौंप दिया। अब रणजीत सिंह ने अपनी सास सदा कौर की मदद से लाहौर पर चढ़ाई करने का निर्णय लिया। लाहौर को जीतने में रणजीत सिंह को अधिक कठिनाइयों का सामना नहीं करना पडा और शीघ्र ही उसके विरोधियों ने रणजीत सिंह के सामने आत्य समर्पण कर उसकी अधिकता स्वीकार कर ली। इस राजनैतिक सफलता ने रणजीत सिंह की प्रतिष्ठा को आसमान तक पहुँचा दिया। इसके बाद कई जागीरदार तथा सरदार रणजीत सिंह की अधीनता को स्वीकार करने के लिए बाध्य हुए। अपने शासन के आरंभिक दस वर्ष में पंजाब की राजनीति में मौजूद विभिन्न मिस्लों की शक्ति को लगभग समाप्त कर दिया। अपनी शक्ति को संगठित करने के लिए उसने बल तथा मित्रता दोनों का इस्तेमाल किया। फतेह सिंह अहलूवालिया तथा अपनी सास सदा कौर के साथ मिलकर उसने जो तिकड़ी बनाई उसने पंजाब की राजनीति को एक नयी दिशा दी।

1.5.1 रणजीत सिंह तथा क्षेत्रीय विस्तार

लाहौर की जीत ने रणजीत सिंह को राजा रणजीत सिंह बना दिया था। लाहौर सदियों से सत्ता का केन्द्र रहा था और उस पर अधिकार निःसन्देह रणजीत सिंह के लिए गर्व की बात थी। 1810 तक रणजीत सिंह ने अधिकतर मिस्लों को अपने अधीन कर लिया। अब उसने अपनी राजनैतिक सीमा में विस्तार को एक सुनियोजित रूप प्रदान करने की कोशिश की। सन 1806 में रणजीत सिंह प्रशिक्षित सेना की एक मजबूत टुकड़ी लेकर मुलतान पहुंचता है, जहाँ के शासक मुजफ्फर खान ने धन का लालच देकर उसे लौटने के लिए मना लिया परन्तु अगले साल ही रणजीत सिंह फिर से मुलतान में प्रकट होता है। यद्यपि उसकी सेना ने मुलतान के अधिकतर क्षेत्रों को तबाह कर दिया परन्तु वह इसे पूर्ण विजय में नहीं बदल पाई। अंततः एक बार फिर रणजीत सिंह तथा मुजफ्फर खान के बीच समझौता होता है जिसके अनुसार रणजीत सिंह की सेना ने मुलतान पर से अपने कब्जे को समाप्त कर दिया। रणजीत सिंह का मुलतान के विरुद्ध तीसरा अभियान काबुल की राजनीति का परिणाम था। निर्वाचित जीवन व्यतीत कर रहा शाह शुजा यह चाहता था कि रणजीत सिंह मुलतान को जीतकर उसके हवाले कर दे। निःसंदेह मुलतान पर अधिकार शाह शुजा की राजनैतिक स्थिति को मजबूत कर सकता था। 1810 में रणजीत सिंह एक मजबूत सेना के साथ मुलतान पहुँचता है और जल्द ही पूरा शहर उसके कदमों में पड़ा था। इस विजय के बाद यह उम्मीद थी कि रणजीत मुलतान शाह के हवाले कर देगा परन्तु ऐसा हुआ नहीं। मुलतान की राजनैतिक स्थिति को लेकर रणजीत सिंह ने अपना इरादा बदल दिया तथा शहर को अपने नियंत्रण में ही रखना उचित समझा। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि सामरिक रूप से महत्वपूर्ण मुलतान को रणजीत सिंह शुजा के हवाले नहीं करना चाहता था। मुलतान पर उसकी पहले से ही नजर थी जिसका प्रमाण उसके पूर्व के अभियान है जब 1806 तथा 1807 में रणजीत सिंह ने मुलतान पर अपना अधिकार करने की कोशिश की थी। परन्तु कुछ विद्वान रणजीत सिंह के इस कदम को सुनियोजित साजिश के रूप में नहीं देखते। उनका कहना है कि शाह शुजा ने मुलतान के बदले रणजीत सिंह को जो रकम अदा करने की बात कही थी, वह उससे मुकर गया था। कारण चाहे जो भी हो इसमें कोई संदेह नहीं कि मुलतान रणजीत सिंह के क्षेत्रीय विस्तार का एक महत्वपूर्ण निशाना था जिसको प्राप्त करने के लिए उसने पूर्व में भी कोशिशें की थीं।

दुर्भाग्य से रणजीत का मुलतान पर तीसरा हमला पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाया। किले की घेराबन्दी में कई अधिकारी मारे गए। इसमें कोई शक नहीं कि रणजीत सिंह एक महान रणनीतिकार थे, स्थिति को सही रूप से भांपते हुए उन्होंने तय किया कि कुछ इस तरह का समझौता किया जाए जिससे उनकी प्रतिष्ठा को कोई हानि न पहुँचे। मुलतान के शासक मुजफ्फर खान से 30000 लेकर उन्होंने मुलतान छोड़ने का निर्णय लिया। मुलतान पर उनके द्वारा बार बार किए जा रहे हमले ने मुजफ्फर खान की राजनैतिक स्थिति को अस्थिर कर दिया था। भय के कारण उसका मनोबल गिरने लगा था। इस भय का मनोवैज्ञानिक महत्व था। बल्कि सरदार तथा शासक भी रणजीत सिंह की सेना से अपने आप को सुरक्षित महसूस नहीं करते थे। अतः मुलतान पर पूर्ण स्वतंत्रता न मिलने के बावजूद भी उनके सैनिक अभियान ने उनके राजनैतिक कद को बहुत ऊँचा कर दिया था। लगातार हमले तथा सतत प्रयास के कारण एक लम्बे समय के बाद अंततः रणजीत सिंह की सेना का मुलतान पर कब्जा हो जाता है। उसमें कोई शक नहीं कि अफगान शासक मुजफ्फर बहादुरी से लड़ा परन्तु उसकी मृत्यु ने अंततः मुलतान को रणजीत की झोली में डाल दिया।

रणजीत सिंह के विजय अभियान का अगला पड़ाव काश्मीर था। जम्मू पर सुकरचकिया मिस्ल का हमला कोई नई बात नहीं थी। उसके पिता माहा सिंह भी कई बार उस क्षेत्र पर आक्रमण कर चुके थे। रणजीत सिंह की सेना के लिए भी वह क्षेत्र अनजाना नहीं था परन्तु काश्मीर अभी तक अपने आप को रणजीत सिंह के प्रभुत्व के बाहर रखने में सफल रहा था। राजनैतिक विस्तार की महत्वाकांक्षा के साथ 1814

में पहली बार रणजीत सिंह की सेना ने अपना कदम काश्मीर की पहाड़ियों पर रखा। इस अभियान में उन्हें प्रत्यक्ष रूप से राजौरी तथा अप्रत्यक्ष रूप से पुंछ का समर्थन मिला। काश्मीर की महत्ता को देखते हुए रणजीत सिंह ने यह निर्णय लिया कि सेना का नेतृत्व वे स्वयं करेंगे। भौगोलिक अवरोधों के कारण सिख सेना के लिए यह अभियान आसान नहीं था। विपरीत परिस्थितियों का सामना कर रही रणजीत सिंह की सेना का काश्मीर के मौसम ने भी साथ नहीं दिया। लगातार बारिश तथा ठंड ने सेना की मुश्किलें और भी बढ़ा दीं। कई कठिनाइयों का सामना करते हुए रामदयाल के नेतृत्व में रणजीत सिंह की सेना ने हीरापुर में अपना कदम रख दिया। उन्हें कुछ सफलता भी मिली। काश्मीर वादी में यह उनकी पहली कामयाबी थी परन्तु राम दयाल इस विजय को स्थायी बनाने में असफल रहे तथा काश्मीर के सेना ने उन्हें फिर से पीर पाजाल की पहाड़ियों की ओर ढकेल दिया। विपरीत परिस्थितियों में फंसी रणजीत सिंह की सेना पर अब पुंछ की ओर से भी आक्रमण होने लगा। इस अभियान ने रणजीत सिंह की सैन्य प्रबंधन की कार्यकुशलता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया। उस क्षेत्र की बगैर किसी स्पष्ट जानकारी के तथा पहाड़ी क्षेत्रों के अनुकूल किसी सैन्य प्रशिक्षण के बिना अपनी सेना को उतारना उसकी विस्तारवादी महत्वाकांक्षा का केवल एक परिणाम मात्र था।

इसने रणजीत सिंह के मनोबल को कम नहीं किया बल्कि अब वह एक नए ढंग से अपनी सेना को तैयार करने में लग गये। 1819 में काश्मीर पर हमला पूर्ण रूप से सुनियोजित था इस बार काश्मीर अभिमान के लिए उसने अपनी सेना को मुख्य रूप से तीन टुकड़ियों में विभाजित कर दिया। पहली टुकड़ी दिवाकर चन्द के अधीन थी जिसे सीधे आक्रमण का निर्देश मिला हुआ था। दूसरी टुकड़ी जिसका नेतृत्व युवराज खडक सिंह कर रहे थे, उसका मुख्य कार्य पहली टुकड़ी को सहायता पहुँचाना था। तीसरी टुकड़ी का नेतृत्व स्वयं रणजीत सिंह कर रहे थे। इस टुकड़ी का मुख्य कार्य सेना को रसद पहुँचाना तथा आवश्यकता पडने पर पहली टुकड़ी को सहायता पहुँचाना था। इस सुनियोजित आक्रमण ने काश्मीर पर रणजीत सिंह की विजय को सुनिश्चित कर दिया और शीघ्र ही पुंछ तथा राजौरी को जीत लिया गया। इस प्रकार समस्त काश्मीर अब रणजीत सिंह की तलवार के अधीन आ चुका था। काश्मीर के प्रशासन की बागडोर संभालने के लिए रणजीत सिंह ने मोती राम, जो कि पूर्व दिवान के सुपुत्र थे, को वहाँ का गवर्नर नियुक्त किया। इस विजय से न केवल रणजीत सिंह की क्षेत्रीय सीमा का विस्तार हुआ बल्कि इसने रणजीत सिंह की प्रतिष्ठा और बढ़ा दी। इस विजय से कुछ पहले ही सिख सेना अटक तथा पेशावर को अपने नियंत्रण पर कर चुकी थी। अटक और पेशावर के बाद काश्मीर की विजय ने सिख सेना के मनोबल को अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। अब पंजाब के महाराजा रणजीत सिंह के अधीन काश्मीर, मुल्तान तथा पेशावर यह सभी क्षेत्र आ चुके थे।

अफगान सेना और महाराज के बीच पेशावर पर अधिकार की लड़ाई बहुत महत्वपूर्ण थी। यह युद्ध इस बात को तय करने वाला था कि उत्तर पश्चिम सीमावर्ती क्षेत्रों तथा खैबर के क्षेत्र पर किसका अधिकार रहेगा, अफगान का या फिर सिखों का। राजनीतिक क्षेत्रीय विस्तार की लड़ाई ने बहुत जल्द ही धार्मिक रूप ले लिया। दोनों तरफ की सेनाओं को धर्म के आधार पर लामबंद किया गया जिसमें धार्मिक प्रतीकों को युद्ध नीति के रूप में इस्तेमाल किया गया। शुरुआती असफलताओं ने रणजीत सिंह को चौकन्ना कर दिया और जल्द ही उन्होंने अपने रणकौशल के बल पर युद्ध के परिणाम को अपनी ओर झुका लिया। रणजीत सिंह की बिजयी सेना पेशावर शहर में प्रवेश करती है। स्थिति की गंभीरता को देखते हुए महाराजा स्वयं कुछ दिनों के लिए वहाँ रुकते हैं। शहर पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने के बाद यार मोहम्मद खान को पेशावर का गवर्नर नियुक्त किया जाता है। यार मोहम्मद खान के इस वचन के साथ की वह महाराजा को वार्षिक नजराना पेश करेगा, रणजीत सिंह अपनी सेना के साथ पेशावर छोड़ देते हैं।

काश्मीर से तुलना करें तो पेशावर की अभिमान तुलनात्मक रूप से सरल साबित हुई। परन्तु इसमें कोई शक नहीं की इस विजय के बावजूद भी वहाँ की राजनीति को स्थायित्व प्रदान करना रणजीत सिंह के लिए आसान नहीं था जिसका मुख्य कारण खैबर तथा उत्तर पश्चिमी सिमांत क्षेत्रों में होने वाले विद्रोह थे। लगातार होने वाले विद्रोहों ने रणजीत सिंह की मुश्किलें बढ़ा दी थी। अपनी कुशल युद्धनीति तथा स्वयं एक अच्छे कूटनीतिज्ञ होने के बावजूद रणजीत सिंह अपने शासनकाल में कभी भी इन विद्रोहों को पूरी तरह से कुचल नहीं पाये। यह कहना गलत नहीं होगा की उत्तर पश्चिमी सीमांत के इलाकों में एक स्थिर प्रशासन स्थापित करने में तथा राजनैतिक स्थिरता प्रदान करने में महाराजा पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाए। संगठित रूप में रणजीत सिंह को सबसे बड़ी चुनौती सय्यद अहमद बरेलवी ने दी।

सय्यद अहमद बरेलवी जो वहाबी विचारधारा के प्रचारक थे मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में सिख प्रभुत्व को सहन नहीं कर पा रहे थे, ने धर्म के नाम पर उत्तर पश्चिम सीमांत क्षेत्र में मुसलमानों को एकजुट करना शुरू कर दिया। अहमद बरेलवी 1826 में पेशावर पहुँचते हैं। उन्होंने वहाँ के मुस्लिम पख्तून कबाइलियों को सिख शासन के खिलाफ लामबंद करना शुरू कर दिया तथा उन्हें रणजीत सिंह के विरुद्ध जेहाद के लिए उकसाया। बहुत तेजी से उनकी राजनैतिक शक्ति का विस्तार होने लगा तथा 1830 में उन्होंने पेशावर को जीत लिया। अहमद बरेलवी की इस विजय ने रणजीत सिंह को न केवल अचंभित किया बल्कि आने वाले बड़े खतरे को लेकर सचेत भी कर दिया। रणजीत सिंह ने यह निर्णय लिया कि अहमद बरेलवी की शक्ति को पूरी तरह से कुचलने से ही उनके राजनैतिक भविष्य को सुरक्षित रखा जा सकता है। अंतः 1831 में बालाकोट के युद्ध में सिख सेना ने अहमद बरेलवी को परास्त कर उनकी हत्या कर दी। यद्यपि इस विजय ने रणजीत सिंह को थोड़ी राहत पहुँचाई परन्तु अपने पूरे शासनकाल में उन्हें इस क्षेत्र के विद्रोहों का सामना करना पड़ा।

रणजीत सिंह के शासन की शायद सबसे बड़ी उपलब्धि उनके अधीन सिख साम्राज्य का क्षेत्रीय विस्तार था। एक ऐसे समय में जब एक तरफ अफगान पंजाब को अपने साम्राज्य का हिस्सा समझते थे, जिसका सबूत था अफगानी सेना का पंजाब की राजनीति में बार बार हस्तक्षेप वही दूसरी तरफ मराठा शक्ति जिसकी नजर भी पंजाब पर थी। इन दोनों शक्तियों से पंजाब को न केवल बचाना बल्कि अपने साम्राज्य का लगातार विस्तार करना रणजीत सिंह की एक बड़ी उपलब्धि थी। इस संघर्ष में केवल मराठा या अफगान ही नहीं थे बल्कि एक और महत्वपूर्ण शक्ति थी जिसकी विस्तारवादी नीति से पंजाब को सुरक्षित रखकर रणजीत सिंह ने अपनी महान कूटनीति का सबूत दिया और वो शक्ति थी ब्रिटिश हुकूमत।

1.5.2 रणजीत सिंह तथा अंग्रेजी हुकूमत

एक ऐसे समय में जब देशी रियासतें तथा स्थानीय शासक वर्ग अंग्रेजी हुकूमत से लोहा ले रहे थे, रणजीत सिंह का अंग्रेजों के साथ राजनैतिक संबंध विद्वानों के लिए चर्चा का विषय है। कुछ विद्वानों का मानना है कि कम्पनी तथा रणजीत सिंह के बीच हुए राजनैतिक समझौते का मुख्य फायदा ईस्ट इण्डिया कम्पनी को ही मिला क्योंकि ब्रिटिश भारत की सुरक्षा की दृष्टि से पंजाब का एक बफर स्टेट के रूप में महत्व बढ़ जाता है और अगर यह बफर स्टेट कम्पनी राज का सहयोगी हो तो ऐसी स्थिति में ब्रिटिश सरकार को अपनी उत्तरी सीमा की सुरक्षा की चिंता से मुक्ति मिल जाती है।

परन्तु अधिकतर विद्वान रणजीत सिंह तथा कम्पनी सरकार के बीच के संबंध को रणजीत सिंह की राजनैतिक चाल तथा कूटनीति का परिणाम मानते हैं। इनका मानना है कि इस राजनैतिक संधि ने रणजीत सिंह को एक महान राजनेता के रूप में स्थापित कर दिया क्योंकि संधि के शर्तें महाराजा की राजनैतिक महत्वाकांक्षा तथा विस्तारवादी नीति के अनुकूल थी। अतः विद्वानों का यह वर्ग मानता है कि दोनों शक्तियों के बीच के समझौते से मुख्यतः रणजीत सिंह ही लाभान्वित हुए। विषय का आलोचनात्मक अध्ययन करने पर

यह तय कर पाना कि किसको अधिक लाभ हुआ और किसको कम परन्तु इस बात में कोई शक नहीं कि कम्पनी सरकार तथा रणजीत सिंह के बीच की संधि अवसरवादी राजनीति का परिणाम थी। हम कह सकते हैं कि यह संधि एक अवसरवादी संधि थी जिसमें दोनों पक्षों को अपने हितों की सुरक्षा के लिए एक दूसरे की आवश्यकता थी।

18 वीं शताब्दी के अंत तक जहाँ एक ओर कम्पनी सरकार ने प्रत्यक्ष (सेना के बल पर कई राज्यों को जीत लिया) तथा अप्रत्यक्ष रूप से (सहायक संधि के द्वारा) लगभग समस्त भारत पर पंजाब को छोड़कर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित कर ली थी वहीं दूसरी ओर रणजीत सिंह ने भी तब तक पंजाब के सबसे मजबूत शासक के रूप में स्वयं को स्थापित कर लिया था। जब वेलेजली भारत आया उसने अपनी विस्तारवादी नीति बहुत स्पष्ट कर दी थी। यही स्थिति पंजाब में रणजीत सिंह की थी। अतः दोनों शक्तियों के बीच संघर्ष अवश्यभावी था परन्तु इससे पहले की ये परस्पर विरोधी हित संघर्ष में बदल जाए वेलेजली को इंग्लैण्ड वापस बुला लिया गया। वेलेजली के इंग्लैण्ड जाने से पहले 1803 में रणजीत सिंह तथा अंग्रेजी हुकूमत के बीच जंग की संभावना तेज होने लगी थी। रणजीत सिंह द्वारा सतलज नदी के दक्षिण की ओर विस्तार ने स्थानीय सिख सरदारों को भयभीत कर दिया था। ये सरदार अंग्रेजों की शरण में पहुँच जाते हैं। लेकिन, जो एंग्लो मराठा युद्ध का नायक था, ने स्थिति का पूरा लाभ उठाने की कोशिश की परिणामस्वरूप स्थानीय सरदारों की मदद के लिए ब्रिटिश सेना व्यास नदी पार कर जाती है। रणजीत सिंह ने खतरे को भांपते हुए स्थिति को संभालने की कोशिश की। चाहे वह ब्रिटिश सत्ता हो या रणजीत सिंह दोनों अपने राज्यों की स्पष्ट सीमा चाहते थे। इस समय रणजीत सिंह ने सतलज नदी को अपने साम्राज्य की सीमा बनाना उचित समझा जिससे उत्तर की ओर आसानी से अपने क्षेत्र का विस्तार कर सके। यद्यपि वह सतलज नदी को सीमा बनाना चाहते थे लेकिन साथ ही इस नदी के दक्षिण में मौजूद क्षेत्रों जैसे फरीदकोट, कपूरथला, जींद, लुधियाना तथा पटियाला आदि को भी अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर नहीं रखना चाहते थे। इससे पहले की सीमा रेखा पर कोई स्पष्ट निर्णय लिया जाता, वेलेजली को वापस इंग्लैण्ड बुला लिया जाता है।

1807 में लार्ड मिन्टो गवर्नर जनरल का कार्यभार संभालने भारत पहुँचता है। भारत पहुँचते ही उनकी सबसे बड़ी चिंता ब्रिटिश भारत की सुरक्षा थी। ब्रिटिश सरकार को यह ज्ञात हो चुका था कि फ्रांस का शासक नेपोलियन रूस तथा ईरान से संधि कर ब्रिटिश भारत पर आक्रमण करने वाला है। इस आक्रमण का मार्ग निश्चित रूप से पंजाब होकर ही गुजरेगा। अतः शक्तिशाली पंजाब, नेपोलियन की सेना तथा ब्रिटिश भारत के बीच एक बफर स्टेट की तरह काम कर सकता था। अब मिन्टो ने रणजीत सिंह को इस बात के लिए मनाने की कोशिश की कि वह दक्षिण में सतलज को ही अपनी सीमा रेखा माने तथा यमुना तक अपने राज्य का विस्तार न करें। रणजीत सिंह यूरोप में चल रही राजनैतिक गतिविधियों से पूरी तरह अवगत था। उसे इस बात का आभास था कि ब्रिटिश सरकार नेपोलियन के आक्रमण के भय के कारण उसकी शर्तों को मान लेगी। अतः यूरोप में नेपोलियन के उभार ने अप्रत्यक्ष रूप से रणजीत सिंह की स्थिति को और मजबूत कर दिया। स्थिति का फायदा उठाते हुए रणजीत सिंह ने सतलज नदी के दक्षिण में अपने आक्रमण को तेज कर दिया। मिन्टो ने पंजाब की समस्या को सुलझाने की जिम्मेदारी चार्ल्स मेटाकाफ पर छोड़ दी। सितम्बर 1808 में मेटाकाफ रणजीत सिंह से मिलकर उन्हें नेपोलियन के आक्रमण के खतरे से अवगत कराता है तथा इस बात पर जोर डालता है कि इस संकट की स्थिति से निपटने के लिए ब्रिटिश हुकूमत तथा रणजीत सिंह की दोस्ती कितनी महत्वपूर्ण है। रणजीत सिंह इस बात पर तो सहमत हो गए कि नेपोलियन के आक्रमण की स्थिति में वह ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी का साथ देंगे परन्तु इस बात को उन्होंने पूरी तरह से खारिज कर दिया कि सतलज का दक्षिणी भी अंग्रेजी प्रभुसत्ता के अन्दर होगा। इस वार्ता के दौरान ही उन्होंने शाहाबाद, फरीदकोट तथा अम्बाला को जीतकर यह बता दिया कि पंजाब पर अपने अधिकार को

लेकर वह किसी प्रकार के समझौते के विचार में नहीं है। रणजीत सिंह के इस सैन्य अभियान ने दोनों पक्ष के बीच युद्ध की स्थिति उत्पन्न कर दी। जब दोनों ओर से सैनिक तैयारियां अपने चरम पर थी तभी खुफिया विभाग ने नेपालियन के आक्रमण के भय से दोनों पक्षों को अवगत कराया। अतः महाराजा तथा कम्पनी दोनों ही पक्ष समझौते के लिए तैयार हो गए और इस प्रकार 25 अप्रैल 1809 को सतलज की संधि पर हस्ताक्षर होता है। इस संधि ने सतलज नदी के उत्तर में रणजीत सिंह के सैन्य अभियान के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया। अतः महाराजा तथा अंग्रेजों के बीच दोस्ती का यह संबंध जो नेपालियन के भय के साथ शुरू हुआ, इस संकट के समाप्ति के बाद भी कायम रहा।

1.5.3 रणजीत सिंह तथा उनका प्रशासन

अपनी तीव्र बुद्धि तथा रणकौशल के दम पर रणजीत सिंह ने पंजाब में एक शक्तिशाली राज की स्थापना की। इतने विशाल क्षेत्र को नियंत्रण में रखने के लिए एक प्रशासन तंत्र की आवश्यकता थी। अपने राज्य को एक अच्छा शासन प्रदान करने के लिए महाराजा ने इसे आठ सूबों में बाँट दिया। पहला लाहौर जो कि राजधानी थी, इसके अलावा अन्य सूबे, पेशावर, काश्मीर तथा मुल्तान आदि थे। रणजीत सिंह सरकार के मुखिया थे, इस कारण तमाम विभाग चाहे वह न्यायिक हो या सैनिक उनके अन्तर्गत ही आते थे। राज्य का कार्यकाल कई विभागों द्वारा संचालित लिया जाता था। जैसे दफतर ए मोर, दफतर ए अबबाब उल माल, दफतर ए दशोगा, दफतर ए तोशाखाना, दफतर ए रोजनामचा आदि। किसी भी दस्तावेज की कानूनी वैधता के लिए रणजीत सिंह की मुहर जरूरी थी। अपने शासन को मजबूती प्रदान करने के लिए महाराजा ने धर्मनिपेक्षता को राज की नीति के रूप में अपनाया। शासन के महत्वपूर्ण कार्य भार या पदोन्नती अधिकारी के क्षमता के आधार पर मिलती थी न कि धर्म के। इसी प्रकार सेना के गठन के समय भी धर्मनिपेक्षता को पूरी जगह दी गई। रणजीत सिंह ने सूबों के प्रशासन पर मुख्य रूप से ध्यान दिया। प्रत्येक सूबे को एक गवर्नर अथवा निजाम के अंतर्गत रखा। यह निजाम सीधे रणजीत सिंह को रिपोर्ट करते थे। प्रत्येक सूबे को जिले में विभाजित किया गया। जिले के मुख्य अधिकारी को करदार कहते थे। यह करदार मुगल फौजदार की तरह होते थे परन्तु इनकी शक्ति तथा अधिकार क्षेत्र फौजदारों से ज्यादा होता था। सूबे की सबसे छोटी इकाई मोना होती थी।

सरकार की आय का मुख्य स्रोत भू राजस्व ही था। भू राजस्व का निर्धारण अलग अलग क्षेत्रों में अलग अलग ढंग से होता था। प्राकृतिक आपदा के समय सरकार पीड़ित क्षेत्रों को सहायता भी प्रदान करती थी। गाँव के स्तर पर विवादों का निपटारा पंचायत द्वारा किया जाता था परन्तु अगर कोई व्यक्ति निचली अदालतों के फैसले से खुश नहीं है तो वह सीधे महाराज को अपील कर सकता था। अनपढ़ होने के बावजूद जिस प्रकार वे प्रशासन की देख रेख करते थे। यह निश्चित रूप में प्रशंसा के योग्य है।

1.6 सारांश

रणजीत सिंह जिन्हें नेपालियन की संज्ञा दी गई है ने अपने बचपन में ही बहुत स्पष्ट कर दिया था कि वह केवल एक मिस्ल के सरदार के रूप में संतुष्ट नहीं रहेंगे। अपने पहले सैन्य अभियान से ही उन्होंने राजनीतिक विस्तार की अपनी महत्वाकांक्षा को बिल्कुल साफ कर दिया था। कुछ लोग उन्हें एक चालाक तथा क्रूर राजनेता के तरह भी देखते हैं जिस पर अपनी माँ की हत्या का आरोप है। स्त्रियों के साथ उनके संबंध भी उनके व्यक्तित्व पर कई प्रकार के प्रश्न चिन्ह लगाते हैं परन्तु अगर हम एक शासक के रूप में उन्हें देखें तो हम पाएंगे कि उन्होंने अपनी तमाम जिम्मेदारियों को बहुत निष्ठा से पूरा किया। एक ऐसे समय में जब पंजाब अफगान शासकों के प्रभाव में था तथा शेष भारत अंग्रेजी हुकूमत के, रणजीत सिंह ने पंजाब की राजनीति को एक नई दिशा देते हुए पंजाब को एक स्वतंत्र राज्य का अस्तित्व प्रदान किया। उन्होंने अपनी शक्ति को संगठित करने के लिए धर्म का इस्तोमाल तो जरूर किया परन्तु प्रशासनिक कार्यों में

धार्मिक भेदभाव को कोई स्थान नहीं दिया। अंत में हम कह सकते हैं कि रणजीत सिंह पंजाब के राजनैतिक इतिहास के सबसे महत्वपूर्ण काल का नेतृत्व कर रहे थे या यूँ कहें कि उन्होंने पंजाब की राजनीति को सबसे महत्वपूर्ण काल प्रदान किया।

1.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. हेनरी टी० प्रिन्सेप, द ओरिजिन ऑफ द सिख पावर इन पंजाब एण्ड पॉलिटिकल लाइफ ऑफ रणजीत सिंह, मिलीट्री ऑफन प्रेस, कलकत्ता , 1834
2. जेसेफ, डी० कनिंघम, 'ए हिस्ट्री ऑफ द सिख फ़ॉस द ओरिजिन ऑफ द नेशज़न टू द बैटल्स ऑफ द सतलज, जै० मुर्रे, लन्दन 1849।
3. पटपन्त सिंह एण्ड ज्योती रे, 'एम्पायर ऑफ द सिख, द लाइफ एण्ड द टाइम्स ऑफ महाराजा रणजीत सिंह, पीटर ओवन पतलीशज़र, लन्दन, 2008
4. सर लेपेल ग्रीफ़ील 'रूलर्स ऑफ इण्डिया : रणजीत सिंह, क्लेरेन्डन प्रेस, ऑक्फोर्ड 1892।
5. जेम्स प्रिन्सेप, टिस्ट्री ऑफ द पंजाब एण्ड द राइज, प्रोगरेस एन्ड प्रेजेन्ट कन्डीशज़न ऑफ द सेक्ट एण्ड नेशन ऑफ द सिख, Vol-1 एच० एलेन एण्ड कम्पनी, लन्दन, 1846।
6. खुशवंत सिंह, रणजीत सिंह महाराजा ऑफ द पंजाब, पेन्जवीन 2004।
7. खुशवंत सिंह, ' 6 फॉल ऑफ द किंगडम ऑफ पंजाब' पेन्वीन ।
8. जीअन लॉफन्ट ' महाराजा रणजीत सिंह : लॉड ऑफ द फाइव रिवर्स' , ऑक्फोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 2002।
9. करतार सिंह दुग्गल, महाराजा रणजीत सिंह द लास्ट टू लेय आर्म्स , अभनव पब्लिकेशन, 2001।

1.8 निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 :- पंजाब में मिस्लों की राजनीति पर प्रकाश डालिये।

प्रश्न 2 :- सुकरचकिता मिस्ल के विकास पर एक संक्षिप्त नोट लिखे।

प्रश्न 3 :- रणजीत सिंह के पहले काश्मीर अभियान की विफलता के कारणों की चर्चा करें।

प्रश्न 4 :- अफगान शासकों तथा रणजीत सिंह के बीच संबंध पर एक निबंध लिखे।

प्रश्न 5 :- 1809 की सतलज संधि के पूर्व की राजनैतिक गतिविधियों का वर्णन करें जिन्होंने इस संधि को आवश्यक बना दिया।

प्रश्न 6 :- रंजीत सिंह के व्यक्तित्व पर एक आलोचनात्मक निबंध लिखें।

लार्ड डलहौजी

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 भारत का गवर्नर-जनरल बनने से पूर्व डलहौजी का जीवन

2.4 डलहौजी तथा वर्मा की समस्या

2.5 डाक्ट्रीन ऑफ लैप्स तथा देशी राज्यों का विलय

2.6 अवध का अधिग्रहण

2.7 डलहौजी द्वारा किए गए सुधार

2.8 निष्कर्ष

2.9 प्रश्न

2.10 डलहौजी तथा पंजाब का विलय

2.1 प्रस्तावना

17 वीं शताब्दी में शुरू होने वाले वाणिज्यिक पूंजी के दौर अथवा युग ने साम्राज्यवादी विस्तार की धारणा को मजबूती प्रदान की। इसने यूरोप के विभिन्न राष्ट्रों मुख्यतः पुर्तगाली व्यापारिक कम्पनी, डच, फ्रांस तथा ब्रिटिश इस्ट इण्डिया के बीच प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा दिया जिसका मुख्य उद्देश्य लैटिन अमेरिका, अफ्रिका तथा एशियाई देशों पर एकाधिकार स्थापित कर अधिक से अधिक मुनाफा कमाना था। हम कह सकते हैं कि व्यापारिक हित अपने आपको साम्राज्य के रूप में परिवर्तितकर चुका था। इस प्रतिद्वन्द्विता ने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया था कि बगैर राजनैतिक प्रभाव तथा नियन्त्रण के आर्थिक हितों की पूर्ति संभव नहीं है। इस प्रकार व्यापारिक हित तथा विस्तारवादी नीति एक दूसरों के पूरक बन गए। यहाँ पर इस बात पर बल देना आवश्यक है कि राजनीतिक नियन्त्रण केवल अन्य यूरोपिय शक्तियों के प्रतिद्वन्द्विता से मुक्ति प्रदान नहीं करता बल्कि स्थानीय व्यापारियों को भी इस दौड़ से बाहर कर देता। अतः एकाधिकार ही 17वीं तथा 18वीं शताब्दी के व्यापारिक गतिविधि का मूल मंत्र था।

अगर हम भारत में यूरोपिय शक्तियों के आगमन की बात करें तो इसमें सबसे पहला स्थान पुर्तगाली व्यापारियों का है। 1498 में वास्को-डिगामा की भारत यूँ कहें कि कारिकल यात्रा ने भारत तथा यूरोपीय शक्तियों के बीच एक नए व्यापारिक सह-राजनैतिक रिश्तों के अध्याय की

शुरूआत कर दी। अपने आरंभिक दौर में पूर्तगाली व्यापारी अन्य यूरोपिय व्यापारिक कम्पनियों की प्रतिद्वंद्विता से मुक्त थे, परन्तु यह विशेषाधिकार बहुत अधिक दिनों तक नहीं रह पाया तथा एशिया में डच व्यापारियों के प्रवेश ने व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता के युग की शुरुआत कर दी। पर जल्द ही ब्रिटिश इस्ट इण्डिया कम्पनी तथा कुछ ही समय बाद फ्रेंच इस्ट इण्डिया कम्पनी भी एकाधिकार स्थापित करने की इस दौड़ में शामिल हो गई। एकाधिकार स्थापित करने की मंशा इन यूरोपिय कम्पनियों के बीच लड़ाई का मूल कारण बनी। परन्तु अंत में वांडीवाश तथा कर्नाटक मुख्य रूप से तीसरे कर्नाटक युद्ध की विजय ने ब्रिटिश इस्ट—

इण्डिया कम्पनी को अन्य यूरोपिय कम्पनियों प्रतिद्वंद्विता से मुक्त कर दिया।

भारत के संदर्भ में ब्रिटिश कम्पनी की मंशा को लेकर विद्वानों के बीच मतभेद हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि कम्पनी आरम्भ से ही साम्राज्य स्थापित करने के उद्देश्य से भारत आयी थी। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि शुरुआत में कम्पनी का मुख्य ध्यान उसके व्यापारिक हितों पर था परन्तु एकाधिकार स्थापित करने की मंशा तथा भारत की आन्तरिक राजनीति द्वारा प्रदान किए गए अवसर ने उसे भारत का शासक बना दिया। परन्तु व्यापारिक पूंजी के दौर को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यापारिक हित तथा राजनैतिक नियंत्रण अलग-अलग नहीं रह सकते बल्कि यह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं तथा एक दूसरे के पूरक के रूप में कार्य करते हैं। भारत में उपनिवेशक विकास की प्रक्रिया इस तथ्य की पुष्टि भी करती है।

प्लासी के युद्ध से पहले की राजनैतिक तथा आर्थिक स्थिति का अध्ययन किया जाए विशेष रूप से अगर हम ब्रिटेन तथा भारत की तुलना करें तो निःसन्देह आर्थिक तथा राजनैतिक वातावरण भारत के पक्ष में था। ब्रिटेन को भारतीय वस्तुओं के आयात के बदले बुलियन अर्थात् सोना एवं चांदी का निर्यात करना पड़ता था, क्योंकि भारतीय बाजारों में ब्रिटिश वस्तुओं की मांग लगभग न के बराबर थी। प्लासी के युद्ध ने इस स्थिति को नाटकीय ढंग से बदल दिया। अब कम्पनी भारतीय उत्पादों में बंगाल से ही प्राप्त राजस्व से खरीदकर यूरोपिय बाजार में बेचने लगी। अतः इस युद्ध ने न केवल भारत को कम्पनी से प्राप्त होने वाले बुलियन पर रोक लगा दी बल्कि इसने भारतीय धन की निकासी का मार्ग प्रशस्त कर दिया। अगर हम इस संदर्भ में प्लासी के युद्ध के कारणों की जांच करें तो पाएंगे कि इसका मुख्य कारण बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला द्वारा कम्पनी के अधिकारियों के द्वारा किए जाने वाले मुक्त व्यापार को बढ़ावा देने के लिए भारतीय व्यापारियों को भी कर-मुक्त व्यापार का अधिकार प्रदान किया तो कम्पनी ने उसे नवाब के पद से हटा कर उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। अतः प्लासी के युद्ध के बाद व्यापार के एकाधिकार का अर्थ केवल यूरोपिय कम्पनियों के विरुद्ध एकाधिकार नहीं था बल्कि विशेषाधिकार के बल पर भारतीय व्यापारियों को भी इस व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता से बाहर रखना था ताकि भारत से तथा भारत में किए जाने वाले व्यापार का लाभ केवल कम्पनी तथा उसके अधिकारियों को ही प्राप्त हो सके। कम्पनी का यह उद्देश्य बगैर राजनैतिक सत्ता हासिल किए प्राप्त नहीं हो सकता था। अतः यह कहना कि कम्पनी द्वारा भारत पर अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करना था, स्वयं शासक बन जाना कोई सुनियोजित घटना का परिणाम नहीं था, बल्कि कम्पनी केवल उन अवसरों का लाभ उठा रही थी जो भारत की आन्तरिक राजनीति ने उसे प्रदान किया, पूर्ण रूप से सही प्रतीत नहीं होता है। सच तो यह है कि कम्पनी ने भारत की आन्तरिक राजनीति में हस्तक्षेप कर अपने पक्ष में वातावरण तैयार किया और परिणाम हमें प्लासी के युद्ध के बाद कम्पनी द्वारा खुले रूप से अपनाई गई उसकी साम्राज्यिक विस्तार की नीति में दिखता है। 1748 में लार्ड डलहौजी के भारत का वायसराय बनने से पूर्व कम्पनी ने भारत के अधिकांश क्षेत्रों को था तो सीधे नियंत्रण में ला दिया था या फिर उस पर अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। जहां

एक ओर अपनी विस्तारवादी नीति के कारण कम्पनी सरकार ने स्थानीय शासकों तथा जमींदारों को अपना विरोधी बना दिया था वहीं दूसरी ओर इसकी सैनिक, प्रशासनिक, धार्मिक तथा राजस्व नीति ने न केवल सैनिक तथा किसानों बल्कि आम भारतीय जनमानस के दिल में कम्पनी शासन के विरुद्ध नफरत पैदा कर दी थी। इसी नफरत के परिणाम के रूप में 1857 का विद्रोह सामने आता है। इस विद्रोह ने ब्रिटिश संसद तथा महारानी को भारत के संदर्भ में अपनी नीति बदलने पर मजबूर कर दिया और अंततः कम्पनी शासन समाप्त कर महारानी ने भारत के प्रशासन को सीधे ब्रिटिश संसद के अन्दर ला दिया।

1857 के विद्रोह तथा कम्पनी राज की समाप्ति के संदर्भ में डलहौजी की भूमिका का आलोचनात्मक परिक्षण जरूरी है। यह माना जाता है कि डलहौजी की अक्रामक विस्तारवादी नीति ने कम्पनी शासन के विरुद्ध लगभग सदी से पनप रहे गुस्से में आग में घी डालने का काम किया तथा उसकी अधिग्रहण की नीति ने स्थानीय शासकों को कम्पनी के विरुद्ध संगठित होने का अवसर प्रदान कर दिया। 1857 के विद्रोह में यही अपदस्त शासक तथा जमींदार थे जिन्होंने भारतीय विद्रोही सिपाहियों को नेतृत्व प्रदान किया। अतः इस इकाई में हम मुख्य रूप से डलहौजी की अधिग्रहण की नीति की चर्चा करेंगे। साथ ही साथ शिक्षा, रेलवे तथा अन्य क्षेत्रों में डलहौजी द्वारा किए गए सुधार भी हमारी चर्चा का विषय होंगे। अंत में हम लार्ड डलहौजी के अंतिम दिनों की गतिविधियों पर प्रकाश डालने की कोशिश करेंगे।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य एक ऐसे व्यक्ति की राजनैतिक गतिविधियों को समझना है जिसके शासन की संपूर्ण नीति साम्राज्यवादी विचारधारा से ग्रसित थी। इस इकाई में हमारा उद्देश्य डलहौजी के जीवन से जुड़े विभिन्न पहलुओं का आलोचनात्मक परिक्षण करना होगा तथा हम यह भी समझने की कोशिश करेंगे की उनकी नीतियों ने भारत के सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन को किस प्रकार प्रभावित किया। यहाँ हमारा उद्देश्य देसी रियायतों की स्थानीय राजनीति को समझना है तथा उन परिस्थितियों का भी विश्लेषण करना है, जिसने इन राज्यों को डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति का शिकार बना दिया। हमारा उद्देश्य इस तथ्य का भी बारीकी से अध्ययन करना है कि स्थानीय राजनीति ने डलहौजी की विस्तारवादी नीति के संदर्भ में स्थानीय राजनीति की क्या प्रतिक्रिया थी। हमारा उद्देश्य इस समय के बदलते सामाजिक तथा राजनैतिक वातावरण का भी विश्लेषण करना है जो कम्पनी शासन के अन्त का कारण बना। अन्त में इस इकाई का उद्देश्य डलहौजी द्वारा किए गए उन सुधारों पर भी ध्यान देना है जिसने उन्हें एक महान प्रशासक के रूप में स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

2.3 भारत का गवर्नर—जनरल बनने से पूर्व डलहौजी का जीवन

डलहौजी का जन्म 1812 ई0 में इडनवर्ग के पास स्थित उनके पुस्तैनी कैसल में होता है। उनके पिता जॉर्ज डलहौजी स्वयं एक वरिष्ठ अधिकारी थे। जॉर्ज डलहौजी ने वाटरलू के युद्ध में अच्छी ख्याती अर्जित की थी। लार्ड डलहौजी के जन्म के कुछ वर्ष बाद उनके पिता कनाडा चले गये। अतः बचपन के कुछ अनमोल पल लार्ड डलहौजी ने कनाडा में ही बिताया। शायद यही कारण था कि कनाडा हमेशा उन्हें अपनी ओर आकर्षित करता रहा। डलहौजी ने सबसे अधिक किसी देश की यात्रा की तो वह कनाडा था। कुलीन परिवार की छवी उनके जीवन पर हमेशा बनी रही और अगर उनके मित्रों द्वारा दिए गए वक्तव्यों पर भरोसा किया जाए तो हम कह सकते हैं कि जॉर्ज डलहौजी को अपने वंश पर स्वयं द्वारा अर्जित की गई व्यक्तिगत ख्याती से कहीं अधिक गर्व था। कुलीन परिवार में जन्म लेने

के कारण उन्हें अच्छी शिक्षा का अवसर प्राप्त हुआ परन्तु यह बात अलग है कि उन्होंने स्वयं को हमेशा एक अच्छा स्टूडेंट सिद्ध किया। स्कूल के बाद विश्वविद्यालय में भी उन्होंने अपनी दक्षता सिद्ध की। उनके मित्र डॉ० लिडल का कहना था, “डलहौजी अपना कार्य पूरी ईमानदारी तथा धैर्य के साथ करते थे।” 1832 में अपने भाई लार्ड रामसेय के बिमार होने के बाद उन्होंने कुछ समय के लिए ऑक्सफोर्ड छोड़ दिया तथा घर आकर उन मुश्किल दिनों में अपने परिवार का साथ दिया।

1832 के आम चुनाव से लार्ड डलहौजी के राजनैतिक जीवन की शुरुआत होती है। इडनवर्ग शहर से उन्होंने चुनाव लड़ने का निर्णय लिया जो कि एक जोखिम भरा निर्णय था क्योंकि वहाँ डलहौजी दो प्रसिद्ध नेताओं सर जॉन कैम्बल तथा जेम्स एबरक्रोमी के विरुद्ध चुनाव में खड़े थे। यद्यपि, जिसकी पहले से ही आशंका थी, वह चुनाव में पराजित हुए परन्तु उनके भाषणों ने न केवल उनके समर्थकों बल्कि राजनैतिक विरोधियों को भी आश्चर्यचकित कर दिया। इस प्रकार अपने राजनैतिक जीवन के पहले अवसर में ही डलहौजी ने अपने लिए एक अलग स्थान बना लिया था। अपने पहले ही चुनाव में जिस राजनैतिक परिपक्वता की छाप उन्होंने छोड़ी उसका फल उन्हें बहुत जल्द ही मिलने वाला था। 1837 में हुए आम चुनाव में वह हेडिन्गटन से विजयी घोषित हुए। अपनी राजनैतिक समझदारी तथा किए गए कार्यों के बल पर उन्होंने जल्द ही हाउस ऑफ कॉमन्स में भी प्रवेश कर लिया। दुर्भाग्यवश उनका हाउस ऑफ कॉमन्स का कार्यकाल लम्बा नहीं रहा तथा 1838 में अपने पिता की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी के तौर पर डलहौजी ने हाउस ऑफ लार्ड्स की सदस्यता ग्रहण कर ली। कुछ ही समय बाद 1839 में उनकी माता का भी देहान्त हो गया।

1843 में डलहौजी बोर्ड ऑफ ट्रेड के उपाध्यक्ष का पद ग्रहण करते हैं। 1845 में ग्लैंडस्टोन द्वारा अध्यक्ष पद से त्याग पत्र देने के बाद डलहौजी ने उनकी जगह ले ली और इस प्रकार कैबिनेट में उनका प्रवेश होता है। बोर्ड ऑफ ट्रेड के अध्यक्ष होने की वजह से सरकार द्वारा नियुक्त रेलवे कमीशन की भी अध्यक्षता उन्हें ग्रहण करनी पड़ी। उस समय ब्रिटेन में रेल सेवा की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। यातायात के साधनों विशेष तौर पर रेलवे की स्थिति की जाँच के लिए लार्ड डलहौजी ने एक विभाग का भी गठन किया। कठिन परिश्रम के बाद तैयार की गई रेलवे सुधार से संबन्धित उनकी योजना का कोई भविष्य नहीं था क्योंकि उन योजनाओं को अमली जामा पहनाकर उसे लागू करने की हिम्मत शायद पील सरकार में नहीं थी। डलहौजी चाहते थे कि ब्रिटिश रेलवे सिधे सरकार के नियन्त्रण में हो तथा इसके प्रबन्धन की जिम्मेदारी भी सरकार की ही हो। अर्थात् डलहौजी रेलवे के नीजिकरण के विरोधी थे तथा व्यक्तिगत एवं निजी कम्पनियों के हितों के विरुद्ध वह सरकारी तंत्र को मजबूती प्रदान करना चाहते थे। परन्तु ऐसे समय में जब इंग्लैण्ड में निजी संपत्ति की धारणा अपने चरम पर थी, सरकार डलहौजी के सुझाओं को स्वीकार करने का जोखिम नहीं उठा सकती थी। तमाम बाधाओं के बावजूद डलहौजी ने रेलवे की संरचना में महत्वपूर्ण सुधार किए। डलहौजी के कार्यों ईमानदारी तथा निष्ठा से प्रभावित होकर पील ने उन्हें स्कॉटलैण्ड की जिम्मेदारी सौंप दी। इसी बिच जॉन रसल ब्रिटेन के प्रधानमंत्री बनते हैं। डलहौजी की प्रतिभा ने नए प्रधानमंत्री को बहुत अधिक प्रभावित किया और शायद यही कारण था कि रसल चाहते थे कि लार्ड हाडिंग के बाद लार्ड डलहौजी उनके स्थान पर भारत के गवर्नर जनरल का पद ग्रहण करें। प्रधानमंत्री द्वारा दिए गए प्रस्ताव को लेकर डलहौजी बहुत दुविधा में थे और इसका मुख्य कारण ब्रिटेन की राजनीति को लेकर उनकी राजनैतिक महत्वकांक्षा थी। उन्हें इस बात की संभावना दिख रही थी कि अगर वह ब्रिटेन की राजनीति में ही अपना भविष्य तलाशें तो शायद वो दिन दूर नहीं जब वह इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री के पद तक पहुँच सकते हैं। उन्हें इस बात का भय था कि घरेलू राजनीति से अलग होकर यदि वह भारत के गवर्नर जनरल का पद स्वीकार कर लेते हैं तो उनके राजनैतिक भविष्य में एक ठहराव आ जाएगा।

उन्हें राजनैतिक वास्तविकता की एक अच्छी समझ थी और यह अंदेशा था कि अगर भारत के गवर्नर जनरल के पद से जब सेवा-निवृत्त होकर जब वह ब्रिटेन पहुँचेंगे तो उनकी राजनैतिक हैसियत वैसी नहीं होगी जैसी कि आज है और उनका ब्रिटेन के प्रधानमंत्री बनने का सपना एक कल्पना मात्र बनकर रह जाएगा। यद्यपि अपने राजनैतिक भविष्य को लेकर वह चिंतित जरूर थे परन्तु साथ ही साथ अपने आर्थिक स्थिति की वास्तविकता से भी वह पूरी तरह परिचित थे। माँ की ओर से प्राप्त जागीर गिरवी थी तथा पिता की ओर से प्राप्त संपत्ति की कुल वार्षिक आय 1,500 से अधिक नहीं थी, जबकि दूसरी ओर अगर वह भारत के गवर्नर जनरल का पद स्वीकार कर लेते हैं तो उन्हें वेतन के रूप में 2,500 पाउंड प्रति वर्ष मिलेगा। अंततः डलहौजी ने प्रधानमंत्री का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और वह भारत के गवर्नर जनरल का पद ग्रहण करने के लिए तैयार हो गए। डलहौजी के रिश्तेदार उनके इस निर्णय से अधिक प्रसन्न नहीं थे यहाँ तक कि उनकी आन्टी ने उन्हें पत्र लिखकर कहा, “ यद्यपि तुम्हारे इस निर्णय से मैं प्रसन्न नहीं हूँ फिर भी इस अवसर पर तुम्हें बधाई देती हूँ।” और इस प्रकार नवम्बर 1847 में वह भारत के लिए रवाना हो गए।

2.4 डलहौजी तथा पंजाब का विलय

12 जनवरी 1848 ई० में डलहौजी कलकत्ता पहुँचते हैं जहाँ उनका भव्य स्वागत होता है। रंजीत सिंह की मृत्यु के बाद पंजाब की राजनीतिक अराजकता की चरम सीमा छुने लगी। इस राजनैतिक उथल-पुथल ने रंजीत सिंह के उत्तराधिकारी कुरुक सिंह तथा उनके पुत्र नव निहाल सिंह की बली ले ली। सिख तथा डोगरा के बीच सत्ता का संघर्ष जिसे रंजीत सिंह नियंत्रित करने में सफल रहे एक बार फिर राजनैतिक पटल पर साफ दिखाई देने लगा था। पंजाब, जिसे ब्रिटिश रूस की विस्तारवादी नीति से ब्रिटिश भारत को सुरक्षित रखने के लिए ‘बफर स्टेट’ की तरह स्तेमाल करते थे, की ऐसी राजनैतिक अराजकता निःसन्देह ब्रिटिश सरकार के लिए चिंता का विषय था। इसमें कोई शक नहीं कि ब्रिटिश सरकार पंजाब से सम्बन्धित अपनी नीति में परिवर्तन चाहती थी, तथा पंजाब पर अपने नियन्त्रण को और अधिक मजबूती प्रदान करना चाहती थी। इस बदलते राजनैतिक वातावरण ने प्रथम आंग्ल-सिख युद्ध ने पंजाब की राजनैतिक तथा सैनिक शक्ति को बहुत अधिक कमजोर कर दिया। अब इसकी स्वतंत्र राजनैतिक हैसियत ब्रिटिश सरकार के रहमों-करम की मोहताज हो गई। यद्यपि कहने के लिए पंजाब अभी भी एक स्वतंत्र राज्य था परन्तु वास्तविकता यह थी कि इसकी नीति ब्रिटिश हुकूमत द्वारा ही निर्देशित की जाती थी। यद्यपि हार्डिंग ने प्रथम आंग्ल-सिख युद्ध के बाद सिख राज्य की सैनिक शक्ति को नियंत्रित कर दिया था परन्तु उनके संगठित होने का डर बना हुआ था। डलहौजी इस भय को पूरी तरह से समाप्त करना चाहता था। डलहौजी की राजनैतिक महत्वाकांक्षा को सिख सरदारों के विद्रोहों ने अवसर प्रदान किया।

दिसम्बर 1847 में जब हेनरी लॉरेन्स ने जब पंजाब-बड़ोदा, पंजाब की राजनैतिक स्थिति पूरी तरह से अंग्रेजों के नियन्त्रण में थी तथा पूरे क्षेत्र में राजनैतिक स्थिरता तथा शान्ति बनी हुई थी। परन्तु शान्ति के यह बादल पंजाब की राजनीति में बहुत अधिक दिनों तक नहीं टिकने वाले थे और हिंसा की पहली खबर अप्रैल 1848 में मूलतान से आती है। जब एण्डरसन समेत दो अन्य ब्रिटिश अधिकारियों को मूलतान के गवर्नर मूलराज के सैनिकों ने मार डाला। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि इस र राजनैतिक हिंसा में मूलराज की भी सहमति थी। मूलराज ने शिघ्र ही सत्ता के इस संघर्ष को धार्मिक रूप प्रदान करते हैं। अंग्रेजों के विरुद्ध धर्म-युद्ध का एलान कर दिया। इस प्रकार मूलतान

से अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह की शुरुआत हो जाती है। सैनिक समाधान को अंतिम विकल्प मानते हुए नए गवर्नर जनरल ने स्थानीय सैनिक अधिकारियों को तुरन्त कारवाई करने का आदेश दिया।

चार माह के भीतर ही पूरी सैनिक तैयारी के साथ मूलतान की घेराबंदी शुरू हो गई, परन्तु मौजूदा स्थिति ने यह साफ कर दिया कि आने वाला समय अंग्रेजों के लिए बहुत आसान नहीं होने वाला था। जिस प्रकार इस विद्रोह को धार्मिक रूप प्रदान किया गया बहुत सारे सरदार जो अंग्रेजों के मित्र थे ने विद्रोही सेना को अपना समर्थन देना शुरू कर दिया। विद्रोह जिसकी शुरुआत मूलतान से हुई जल्द ही इसने सारे पंजाब को अपने चंगुल में ले लिया। ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीति तथा शोषण ने किसानों को विद्रोही सेना का हमर्दद बना दिया। धार्मिक नारों के साथ किसान भी अब ब्रिटिश सेना के साथ खड़े हो गए। यद्यपि स्थिति की गंभीरता को समझते हुए डलहौजी ने कूटनीति मार्ग अपनाने की कोशिश की, और इस तथ्य पर बल देने की कोशिश की, कि मूलराज मुख्य रूप से लाहौर की सिख सेना का विद्रोही है न कि ब्रिटिश हुकूमत का। डलहौजी की इस चाल से धार्मिक सहानुभूति जो विद्रोही सेना को प्राप्त हो रही थी, उसे रोका जा सकता था, परन्तु यह विद्रोह जिस तीव्रता के साथ ग्रामीण क्षेत्रों में फैलने लगा डलहौजी की कूटनीतिक पहल लगभग विफल हो गई। इस विद्रोह की व्यापकता ने यह साफ कर दिया कि दूसरे आंग्ल विष्व युद्ध की संभावना को और लम्बे समय तक टाला नहीं जा सकता और समय आ गया है जब पंजाब की संप्रभुता को समाप्त कर इसे पूर्ण रूप से ब्रिटिश सरकार का हिस्सा बना दिया जाय। डलहौजी पंजाब की समस्या पर अपना पक्ष स्पष्ट करते हुए कहते हैं “मूलराज के विद्रोह से उनका कोई संबंध नहीं होना चाहिए था क्योंकि यह विद्रोह मुख्य रूप से लाहौर को सिख सरकार के विरुद्ध माना जा सकता था। उनकी कोई मंशा नहीं थी कि वह विदेश राज्य के राजनीतिक संकट को दूर करने के लिए स्वयं हथियार उठाए। परन्तु जिस प्रकार इस विद्रोह ने सिख आबादी को मुख्य रूप से ब्रिटि हुकूमत के विरुद्ध खड़ा कर दिया तथा सिख सरदार जिनसे हमारी संधि थी वो भी इस विद्रोह को धार्मिक रूप देकर हमारे विरुद्ध खड़े हो गए। यहां तक कि लाहौर की सरकार ने भी जिस प्रकार राजनैतिक लाभ उठाने के लिए इस अराजकता को हवा दी, हमारे पास सैनिक कारवाई के अलावा और कोई दूसरा विकल्प नहीं बचा था। डलहौजी स्वयं पंजाब पहुँचाता है। सैनिक अभियान की कमान गफ के हाथ में रहती है। 1849 के पहले माह में ही अंग्रेजी सेना मूलतान पर कब्जा कर लेती है। डलहौजी ने यह घोषणा की कि सिख तथा अफगानी सेना की शक्ति को पूरी तरह कुचलने के बाद ही इस युद्ध का अन्त होगा। मार्च के अंत तक लगभग 20,000 सिख सैनिकों ने आत्म-समर्पण कर दिया। 29 मार्च 1849 के दिन यह निर्णय लिया गया कि दलीप सिंह के द्वारा शासित क्षेत्रों का भारत के ब्रिटिश साम्राज्य के साथ विलय कर दिया जाएगा और इस प्रकार रंजीत सिंह द्वारा स्थापित साम्राज्य का अंत हो जाता है और पांच नदियों वाला यह प्रदेश ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा बन जाता है।

2.5 डलहौजी तथा बर्मा की समस्या

पंजाब का विलय डलहौजी के शासनकाल के दौरान विभिन्न राज्यों तथा देशी रियासतों का ब्रिटिश भारत में विलय की जो शुरुआत हुई, इस श्रृंखला को पहली कड़ी मात्र थी। इस श्रृंखला में अगला नम्बर बर्मा का आने वाला था। पूर्व के क्षेत्र में शुरू किए गए सैनिक अभियान का मुख्य उद्देश्य सिक्किम के राजा को सबक सिखाना था। 1849 में सिक्किम की यात्रा के दौरान दो ब्रिटिश अधिकारी तथा एक वैज्ञानिक का अपहरण कर लिया गया था। बावजूद इस तथ्य के कि कैम्बल तथा हूकरं दोनों ने ही सिक्किम की अपनी यात्रा के लिए वहाँ के राजा से अनुमति ले ली थी। इस प्रकार का राजनैतिक अपहरण ब्रिटिश सत्ता को चुनौती देने जैसा था। डलहौजी ने पूरी शक्ति के साथ इसका

उत्तर देने का निर्णय लिया जिसके परिणामस्वरूप सिक्किम के कुछ पहाड़ी क्षेत्रों को सैनिक शक्ति के बल पर ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया।

द्वितीय आंग्ल-वर्मा युद्ध के बीज पहले आंग्ल-वर्मा युद्ध के बाद संपन्न ही मानवदान की संधि में छुपी हुई थी। इस संधि के बाद न केवल ब्रिटिश व्यापारियों को रंगून में स्थापित किया गया बल्कि अधिक अपमानजनक रूप से एक ब्रिटिश रेसिडेन्ट को वर्मा के राजा की इच्छा के विरुद्ध वर्मा की राजधानी अवा में नियुक्त किया गया। रेसिडेन्ट द्वारा विभिन्न नीतियों में किए जाने वाले हस्तक्षेप को वहां का राजा अपने लिए अपमान की बात समझता था। इस प्रकार की नियुक्ति उसकी संप्रभुता पर निश्चित तौर पर प्रश्न चिन्ह लगाती थी। कंपनी सरकार चाहती थी कि इरावदी डेल्टा जिस पर रंगून स्थित था, पर अपना प्रभाव बनाए रखे। 1837 में वर्मा में राजनैतिक हिंसा का दौर शुरू होता है। खूनी संघर्ष के बाद 1857 में सत्ता प्राप्त करने वाले नए शासक ने 1826 में हुई मानदाबू संधि की अवहेलना करनी शुरू कर दी। ब्रिटिश रेसिडेन्ट को राजधानी अवा से निकाल दिया गया जिसे रंगून में जाकर शरण लेनी पड़ी। 1840 में औपचारिक तौर पर रेसिडेन्ट की नियुक्ति को अवैध घोषित कर दिया गया। इतना ही नहीं रंगून स्थित कंपनी के व्यापारियों को भी वर्मा की सरकार के नकारात्मक व्यवहार को झेलना पड़ रहा था। भारत की कंपनी सरकार तथा वर्मा की सरकार के बीच कूटनीतिक संबंध लगभग समाप्त हो गया था। कंपनी सरकार के साथ की गई संधि की पूर्ण अवहेलना डलहौजी के लिए न केवल राजनैतिक बल्कि व्यक्तिगत अपमान का विषय बन चुकी थी। अब उसने पूरी शक्ति के साथ एक नौसैनिक अधिकारी को रंगून भेजा जहाँ उसका मुख्य कार्य ब्रिटिश व्यापारियों की समस्या की जांच करना तथा व्यापारियों के आर्थिक नुकसान को भरने के लिए वर्मा की सरकार से रु०-9,000 का जुर्माना वसूल करना था। ब्रिटिश अधिकारी के कई प्रयासों के बावजूद जब रंगून का गवर्नर उससे नहीं मिला तब डलहौजी ने सैनिक कारवाई को अंतिम विकल्प के तौर पर इस्तेमाल किया। डलहौजी, जो वर्मा के एक बड़े क्षेत्र को अपने कब्जे में करना चाहता था, ने वर्मा सरकार के सामने अपनी शर्तों को भी बदल दिया। अब उसने न केवल रंगून के गवर्नर को हटाने की बात की बल्कि हर्जाने की रकम रु० 9,000 से बढ़ाकर 1 मिलियन कर दिया। उसने यह भी शर्त रखी कि ब्रिटिश रेसिडेन्ट के विरुद्ध किए जाने वाले अपमानजनक व्यवहार के लिए वर्मा का राजा स्वयं माफी माँगे। गवर्नर के हटाए जाने की मांग तो वर्मा की सरकार ने मान ली लेकिन 10 लाख रु० का जुर्माना तथा राजा द्वारा स्वयं माफी मांगने वाली शर्त किसी भी संप्रभु शासक को मंजूर नहीं हो सकती थी। इतना ही नहीं डलहौजी ने जुर्माने की शर्त में 15 लाख रु० और जोड़ दिए। 1852 में सैनिक अभियान की शुरुआत होती है। डलहौजी ने वर्मा की समस्या को कंपनी के बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स के सामने इस प्रकार प्रस्तुत किया कि यह राष्ट्रीय अपमान का प्रश्न बन गया। जल्द ही रंगून समेत इरावदी डेल्टा ब्रिटिश सैनिकों के कब्जे में आ गया। रंगून में स्थित पगौड़ा में मौजूद सोने से बनी बुद्धा की मूर्तियों को ब्रिटिश सैनिकों ने अपने कब्जे में कर लिया। 1852 के अंत में पेंगू पर भी ब्रिटिश सैनिकों का कब्जा हो गया। पेंगू पर नियन्त्रण स्थापित करने के बाद डलहौजी ने लोअर वर्मा का ब्रिटिश साम्राज्य में विलय की समाप्ति की भी घोषणा हो गई। इस प्रकार लोअर वर्मा अब ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा बन जाता है।

2.6 डॉक्ट्रीन ऑफ लैप्स तथा देवी राज्यों का विलय

पंजाब तथा वर्मा पर की गई सैनिक कारवाई के साथ ही डलहौजी ने अपनी मंशा स्पष्ट कर दी थी। भले ही डलहौजी किसी विस्तारवाद नीति की मंशा के साथ भारत नहीं आए हों परन्तु घरेलु राजनीति ने प्रशासक जरूर बना दिया। यह भी कहना पूरी तरह से सही नहीं होगा कि डलहौजी केवल

आन्तरिक राजनीति द्वारा प्रदान किए गए अवसरों का केवल सीमावर्ती क्षेत्रों में साम्राज्य के विस्तार से संतुष्ट नहीं थे और इस क्रम में सतारा, झांसी, नागपुर, तथा कई अन्य देसी रियासतों का ब्रिटिश साम्राज्य में विलय कर लिया गया। अपने मंसूबों को अमली जामा पहनाने के लिए डलहौजी ने डॉक्ट्रीन ऑफ-लैप्स को अपना हथियार बनाया। इस नए सिद्धान्त के अनुसार अगर किसी देसी रियासत का शासक बगैर किसी जायज उत्तराधिकारी अर्थात् अपने वंश के किसी पुरुष वंशज को जन्म दिए बगैर मर जाता है तो कानूनी तौर पर उसकी रियासत पर ब्रिटिश सरकार का कब्जा हो जाएगा, अर्थात् उस राज्य को औपचारिक तौर पर ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा बना लिया जाएगा। इस सिद्धान्त के अनुसार गोद लिया हुआ पुत्र जायज उत्तराधिकारी नहीं हो सकता है। डॉक्ट्रीन ऑफ लैप्स ने भारत की राजनीति में एक हलचल सी मचा दी। इसने राज्यों के अस्तित्व और नाम भर की संप्रभुता को भी पूरी तरह से समाप्त कर दिया। डॉक्ट्रीन ऑफ लैप्स के अनुसार डलहौजी ने सबसे पहले सतारा को अपने साम्राज्य में मिला लिया। यह कहा जा सकता है कि सतारा के विलय की साजिश 1839 से ही शुरू हो गई थी जब वहाँ के राजा पर अंग्रेजी हुकूमत के विरुद्ध षड्यन्त्र का आरोप लगाया। राजा के विरुद्ध कानूनी कारवाई शुरू की गई जिसमें उसे दोषी माना गया। राजा ने बार-बार अनुरोध किया कि उसे निष्पक्ष सुनवाई का अवसर प्रदान किया जाए, परन्तु ब्रिटिश सरकार ने इसे ठुकरा दिया। अंततः राजा को उसके राज्य से निकाल दिया गया और उसके स्थान पर उसके भाई अप्पा साहेब को राजा घोषित कर दिया। 1848 में राजा की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार की समस्या उत्पन्न हो गई। अप्पा साहेब ने अपनी मृत्यु से पहले अपने दत्तक पुत्र को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया, परन्तु ब्रिटिश सरकार ने दावे को पूरी तरह से नकार दिया। इस प्रकार डलहौजी ने डॉक्ट्रीन ऑफ लैप्स का इस्तेमाल कर सतारा राज्य का ब्रिटिश साम्राज्य में विलय कर लिया।

डॉक्ट्रीन ऑफ लैप्स के अन्तर्गत डलहौजी द्वारा सबसे बड़े क्षेत्र का विलय नागपुर के रूप में होता है। यद्यपि तृतीय आंग्ल-मराठा युद्ध ने मराठा शक्ति को पूरी तरह से समाप्त कर दिया था परन्तु कम्पनी सरकार ने अभी भी इसका पूर्ण रूप से ब्रिटिश साम्राज्य में विलय नहीं किया था। 1853 में नागपुर के शासक की मृत्यु के बाद वहाँ भी वैद्य उत्तराधिकार की समस्या उत्पन्न होती है। यद्यपि नागपुर स्थित ब्रिटिश रेसिडेन्ट राजा की विधवा की अनुमति के साथ गोद लिए गए पुत्र को उत्तराधिकारी घोषित कर इस अधिकार की समस्या को समाप्त करना चाहता था परन्तु लार्ड डलहौजी इस बात पर सहमत नहीं हुआ। गवर्नर-जनरल ने राजा की निजी सम्पत्ति (जागीर तथा आभूषण) उनके परिवार के हवाले कर डॉक्ट्रीन ऑफ लैप्स के नियम के तहत नागपुर राज्य का ब्रिटिश साम्राज्य में विलय कर लिया। कुछ ब्रिटिश अधिकारियों जिसमें केथ भी शामिल है का मानना था कि पेशवा बाजीराव के दत्तक पुत्र नाना साहिब के साथ जो अनुचित व्यवहार किया और पेंशन आदि मामलों में जिस कठोरता से काम लिया यह शायद 1857 के विद्रोह का मुख्य कारण बना। अगर डलहौजी संयम से काम लेते तो नागपुर जैसे विषाल एवं सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्र में शायद कम्पनी की सरकार को विद्रोह का सामना नहीं करना पड़ता। डलहौजी की गलत नीति के कारण विद्रोही नाना साहिब के झण्डे के नीचे तमाम मराठा विद्रोही संगठित हुए।

अगर डलहौजी राजनीतिक समझ का इस्तेमाल करते तो शायद 1857 के विद्रोह को कम से कम नागपुर जैसे सामरिक रूप से महत्वपूर्ण क्षेत्र में टाला जा सकता था।

झांसी की स्थिति भी अन्य देवी रियासतों से बहुत अलग नहीं थी। यद्यपि झांसी औपचारिक रूप से ब्रिटिश सरकार अथवा साम्राज्य का हिस्सा नहीं था परन्तु हैद्राबाद तथा नागपुर जैसे आंशिक रूप से स्वतन्त्र राज्यों की तरह ही यह राज्य भी अंग्रेजी हुकूमत के प्रभाव में था। यहां उत्तराधिकार की

समस्या 1853 में शुरू हुई जब महाराजा गंगाधर राव ने बिमारी के कारण बिस्तर पकड़ लिया। उनका कोई पुत्र नहीं था। उन्होंने ब्रिटिश रेसिडेन्ट को एक पत्र लिखकर हालात से अवगत कराया। पत्र में वह बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि “मैं बहुत बيمार हूँ। झाँसी तथा अंग्रेजी सरकार के बीच हुई संधि के अनुच्छेद-2 के अनुसार मैं एक पाँच वर्ष के लड़के दामोदर गंगाधर राव को गोद ले रहा हूँ। मेरी मृत्यु के बाद रानी के संरक्षण में इसे मेरा उत्तराधिकारी घोषित कर दिया जाए। मैं आशा रखता हूँ कि मेरे दत्तक पुत्र तथा मेरी रानी को किसी प्रकार की परेषानी का सामना नहीं करना पड़ेगा।”

अतः गंगाधर राव ने अपनी मृत्यु से पहले ही उत्तराधिकार की समस्या को सुलझाने की कोषिष की। डलहौजी, जिसने देसी रियासतों के विलय से सम्बन्धित बहुत स्पष्ट नीति पहले से ही बना रखी थी, ने महाराजा गंगाधर राव के अनुरोध को ठुकरा दिया तथा उनकी मृत्यु के बाद झाँसी के पूर्ण विलय की घोषणा कर दी। महारानी ने ब्रिटिश अधिकारियों से कई बार इस संबन्ध में अनुरोध किया, परन्तु उन्हें विफलता ही हाथ लगी और इस प्रकार झाँसी का भी विलय ब्रिटिश साम्राज्य में हो गया। डलहौजी ने डॉक्ट्रीन ऑफ लैप्स का इस्तेमाल कर कई छोटे-बड़े राज्यों को बहुत ही अनैतिक ढंग से ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा बना लिया। परन्तु कम्पनी सरकार के आकलन के विपरित डलहौजी की नीतियों, विशेषकर उसकी विलय की नीति की कीमत कम्पनी सरकार को अपने शासन के अंत से चुकानी पड़ी। यही अपदस्त शासक थे जिन्होंने 1857 के विद्रोह को नेतृत्व प्रदान किया।

2.7 अवध का अधिग्रहण

डलहौजी ने पंजाब के साथ राज्यों के विलय की जिस नीति की शुरुआत की उसका अंतिम पड़ाव संकेतिक रूप से महत्वपूर्ण राज्य अवध था। अवध के विलय को लेकर जिस राजनैतिक अनैतिकता की सीमा को लार्ड डलहौजी ने लांगा, कम्पनी सरकार के विरुद्ध लगभग तमाम हिन्दी प्रदेशों में लोगों का आक्रोश और अधिक बढ़ गया। अवध की सरकार पर कम्पनी ने कुशासन का आरोप लगाया। कुशासन के बहाने की शुरुआत लार्ड डलहौजी के गवर्नर जनरल बनने से काफी पहले हो चुकी थी विलय की पहली चेतावनी अवध के शासक को 1831 में लार्ड बेन्टिक की तरफ से मिली। कुशासन के नाम पर अवध के विलय की दूसरी धमकी 1837 में गवर्नर जनरल ऑक्लैण्ड की तरफ से मिली। इस बार धमकी को कानूनी रूप प्रदान किया गया। इस बार ऑक्लैण्ड ने अवध के राजा के साथ एक नई संधि की। संधि मकें मौजूद अनुच्छेद 7 के अनुसार यदि अवध का शासक अपने द्वारा शासित जनता को एक अच्छा शासन प्रदान नहीं करता है तथा जनता उसके शासन से प्रसन्न नहीं है तो कम्पनी सरकार को यह अधिकार होगा कि वह अवध का पूर्ण रूप से ब्रिटिश साम्राज्य में विलय कर ले। 1847 में तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिंग ने कुछ ही समय पहले सिंहासन पर बैठने वाले अवध के नए शासक वाजीद अली शाह को स्पष्ट रूप से चेतावनी देते हुए कहा कि अगर दो वर्ष के भीतर उन्होंने अपने शासन के सुधार नहीं किया तो अवध का शासन कम्पनी अपने हाथ में ले लेगी। हार्डिंग अपनी चेतावनी को वास्तविक रूप दे पाते उनकी जगह नए गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने ले ली। अपने शासनकाल में डलहौजी को लगातार तथाकथित राजनैतिक अव्यवस्था तथा अराजक व्यवस्था की रिपोर्ट मिल रही थी जिसे उसने लार्ड डाइरेक्टर्स को सौंप दी। सर विलियमस हन्टर का मानना है कि डलहौजी व्यक्तिगत रूप से अवध का विलय नहीं चाहता था और वह वहाँ के शासक वाजिद अली शाह को कुछ और समय देना चाहता था परन्तु ग्रह सरकार ने डलहौजी की इच्छा के विरुद्ध अवध राज्य का भारत के साम्राज्य में विलय का आदेश दिया जिसे मानने के लिए डलहौजी बाध्य था। इस प्रकार 1856 में अवध के विलय की औपचारिकता पूरी हो जाती है।

2.8 डलहौजी द्वारा किए गए सुधार

यद्यपि लार्ड डलहौजी का कार्यकाल मुख्य रूप से उनकी साम्राज्यवादी नीति के लिए ही प्रसिद्ध रहा है परन्तु स्वयं को एक अच्छा प्रशासक सिद्ध करते हैं। उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में जो सुधार किए उसे भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। रेलवे, टेलीग्राफ, शिक्षा आदि क्षेत्र में उनके द्वारा किए गए सुधार को व्यापक सफलता मिली।

डलहौजी भारतीय रेलवे के जनक के रूप में जाने जाते हैं। अप्रैल 1853 में पहली बार थाने और बोरी बन्दर के बीच पैसेन्जर रेल चलाई गई। अगले वर्ष कलकत्ता तथा मद्रास में भी पैसेन्जर रेल शुरू की गई। रेलवे को संस्थागत रूप प्रदान करने के लिए डलहौजी ने इसे तीन जोन्स दक्षिण, पश्चिम, तथा मध्य रेलवे में बाँट दिया। वह अच्छी तरह से जानते थे कि कम्पनी सरकार इसके खर्च का जिम्मा उठाने के लिए तैयार नहीं होगी इसलिए उन्होंने रेलवे में प्राइवेट निवेश को बढ़ावा दिया तथा इंग्लैण्ड स्थित उद्योगपतियों तथा व्यापारियों को भारतीय रेलवे में निवेश करने के लिए प्रोत्साहित किया। इस प्रकार भारतीय रेलवे निवेश का एक नया सेक्टर बनकर उभरता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि डलहौजी द्वारा रेलवे लाईन बिछाने के पीछे उनका मुख्य उद्देश्य कम्पनी सरकार की आर्थिक तथा सुरक्षा संबन्धित स्थिति को मजबूत करना था परन्तु प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से इसने भारतीय अर्थव्यवस्था को बल प्रदान करने तथा राष्ट्रवाद के विकास में जो योगदान दिया उसे भी नकारा नहीं जा सकता। आने वाले समय में रेलवे लाइन्स ने भारत के भीतरी भाग को बन्दरगाहों के साथ जोड़कर न केवल व्यापार की संभावनाओं को बढ़ाया, बल्कि भारत को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। आन्तरिक सुधार के क्षेत्र में डलहौजी की दूसरी महत्वकांक्षी योजना टेलीग्राफ व्यवस्था का गठन था।

टेलीग्राफ व्यवस्था में भी रेलवे की तरह ही भारत के विभिन्न क्षेत्रों को संगठित करने तथा देश के एक कोने को दूसरे कोने से जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। टेलीग्राफ व्यवस्था को मजबूती प्रदान करने के लिए डलहौजी ने 'डिपार्टमेन्ट ऑफ पब्लिक वर्क' का गठन किया। प्रयोग के तौर पर पहली टेलीग्राफ लाईन की शुरुआत 1850 में कलकत्ता तथा डायमण्ड हरबर के बीच हुई। शिघ्र ही इसका तेजी से विस्तार होता है तथा 1854 तक विद्युत टेलीग्राफ लाइन्स से देश के विभिन्न षहरों को आपस में जोड़ दिया। कुछ ही समय में इसका विस्तार दक्षिण में मद्रास से लेकर उत्तर में आगरा तथा पेशावर एवं पूर्व में कलकत्ता से लेकर पश्चिम में बम्बई तक हो जाता है। इस प्रकार डलहौजी ने टेलीग्राफ के माध्यम से देश के विभिन्न भागों को आपस में जोड़ दिया।

डाक व्यवस्था के आधुनिकीकरण का भी श्रेय डलहौजी को जाता है। डलहौजी से पूर्व डाक व्यवस्था न केवल जर्जर अवस्था में थी बल्कि इतनी मंहगी थी कि आम नागरिकों द्वारा इसका प्रयोग बहुत मुश्किल था। डाक व्यवस्था में सुधार के लिए डलहौजी ने एक आयोग का गठन किया। आयोग की रिपोर्ट स्वभाविक रूप से नकारात्मक थी। डलहौजी ने 1854 में भारतीय डाक व्यवस्था के आधुनिकीकरण का कार्य शुरू किया। सर्वप्रथम उसने आधा तोला से कम वजन वाले चिट्ठियों पर पूरे भारत में एक समान दर अर्थात् आधा आना प्रति चिन्ह लागू किया। डाक व्यवस्था को सस्ता करने से आम लोग इसका लाभ उठाने लगे तथा समान दर की व्यवस्था लागू करने से डाक व्यवस्था में जो भ्रष्टाचार था उसमें बहुत हद तक अंकुश लगाया जा सका। डाक व्यवस्था को सुधारने में उन्होंने जो योगदान दिया इस आधार पर हम कह सकते हैं कि डलहौजी आधुनिक डाक व्यवस्था के जनक थे।

डलहौजी के कार्यकाल का एक महत्वपूर्ण योगदान भारतीय शिक्षा व्यवस्था को एक संरचना प्रदान करना था। इस संदर्भ में चार्ल्स-वुड डिस्पैच महत्वपूर्ण हैं। चार्ल्स-वुड डिस्पैच ने भारतीय शिक्षा से संबन्धित प्राच्यवादी देसी शिक्षा बनाम पाश्चात्यवादी अंग्रेजी शिक्षा के विवाद को हमेशा के लिए समाप्त कर दिया। यह तय किया गया कि प्राथमिक शिक्षा वर्नाकुलर भाषा में दी जाएगी तथा कॉलेज स्तर पर

शिक्षा का माध्यम मुख्य रूप से अंग्रेजी होगा। इस प्रकार प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक की शिक्षा को एक सु-व्यवस्थित ढांचा प्रदान किया गया। शिक्षा में डलहौजी के योगदान का नतीजा उनके कार्यकाल की समाप्ति के एक वर्ष बाद ही दिखता है जब कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई विष्वविद्यालय की स्थापना हुई।

2.9 निष्कर्ष

अंत में हम यह कह सकते हैं कि डलहौजी राजनैतिक रूप से एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति थे। उनकी यही महत्वाकांक्षा थी जो उन्हें भारत का गवर्नर-जनरल बनने से रोक रही थी क्योंकि डलहौजी ब्रिटेन का प्रधानमंत्री बनना चाहते थे और वह भारत आकर अपने राजनैतिक भविष्य पर विराम नहीं लगाना चाहते थे। भारत में उनके द्वारा लिए गए फैसलों को हम इसी संदर्भ में देख सकते हैं। भारत में विस्तारवादी नीति को अपनाकर स्वयं को एक मजबूत प्रशासक के रूप में स्थापित करना चाहते थे जिससे इंग्लैण्ड में उनकी लोकप्रियता बनी रहे। भारत में एक विषाल ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित कर लार्ड डलहौजी इंग्लैण्ड की सत्ता के गलियारों में अपनी पकड़ मजबूत बनाए रखना चाहते थे। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार से न केवल उन्हें राष्ट्रहित के नाम पर ब्रिटेन की आम जनता का समर्थन प्राप्त होता बल्कि भारत में निवेश के अवसरों को बढ़ाकर वह व्यापारियों तथा उद्योगपतियों के षक्तिशाली समूह का समर्थन भी प्राप्त करना चाहते थे। उनकी इसी राजनैतिक महत्वाकांक्षा ने उन्हें भारतीय राष्ट्रवादी इतिहासकारों की नजर में सबसे कुख्यात गवर्नर-जनरल के रूप में स्थापित कर दिया। अधिकतर भारतीय इतिहासकारों का मानना है कि यद्यपि 1857 का महान विद्रोह गवर्नर-जनरल लार्ड कैनिंग के कार्यकाल में हुआ परन्तु विद्रोह का मुख्य कारण डलहौजी द्वारा अपनाई गई विलय की नीति थी। डलहौजी ने अपनी जिस राजनैतिक महत्वाकांक्षा द्वारा निर्देशित विस्तारवादी नीति को अपनाया उसका मूल्य कम्पनी को अपने शासन की समाप्ति के रूप में चुकाना पड़ा। डलहौजी के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाए जाने के बावजूद उसके द्वारा किए गए सुधार के कार्यों को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। विशेष रूप से रेलवे तथा टेलीग्राफ व्यवस्था की शुरुआत तथा डाक व्यवस्था के आधुनिकीकरण में उनका योगदान सराहनीय है। इसमें कोई शक नहीं कि एक मजबूत प्रशासक के तमाम गुण उनके अन्दर मौजूद थे परन्तु दुर्भाग्यवश उनका मुख्य बल एक मजबूत प्रशासक के नकारात्मक पक्ष पर अधिक था। 1856 में उनकी भारत से विदाई होती है और केवल 48 वर्ष की आयु उनका देहान्त हो जाता है।

2.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. डलहौजी की राजनैतिक महत्वाकांक्षा पर एक निबन्ध लिखें।
2. लार्ड डलहौजी द्वारा पंजाब के विलय से सम्बन्धित कारणों की चर्चा करें।
3. डाक्ट्रीन ऑफ लैप्स के राजनैतिक पक्ष की चर्चा करें।
4. गवर्नर-जनरल के रूप में डलहौजी द्वारा किए गए सुधारों पर एक निबन्ध लिखें।
5. लार्ड डलहौजी की विस्तारवादी नीति का आलोचनात्मक परिक्षण करें।

लोकप्रिय जनजातीय तथा असैनिक विद्रोह

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 जनजातीय विद्रोह
 - 3.3.1 संथाल हूल
 - 3.3.2 मुण्डा उल्गुलन
 - 3.3.4 ताना भगत आन्दोलन
 - 3.3.5 भील आन्दोलन
- 3.4 असैनिक विद्रोह
 - 3.4.1 भोपला विद्रोह
 - 3.4.2 फैराजी आन्दोलन
 - 3.4.3 सन्यासी तथा फकीर आन्दोलन
 - 3.4.4 तीतू मीर का विद्रोह
- 3.5 निष्कर्ष
- 3.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 3.7 निबंधात्मक प्रश्न

3.2 प्रस्तावना

1857 के विद्रोह को भारत में ब्रिटिश शासन की नींव या बुनियाद हिलाने के संदर्भ में एक युगान्तकारी घटना की तरह देखा जा सकता है। इस विद्रोह ने अंततः भारत में ब्रिटिश इस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन हमेशा के लिए समाप्त कर दिया। इस विद्रोह के बाद एक बड़ा राजनीतिक परिवर्तन हुआ और भारत का शासन इस्ट इण्डिया कम्पनी से छीन कर अब महारानी अथवा ब्रिटिश ताज को सौंप दिया गया। उपनिवेशवाद विरोधी इस विद्रोह की महत्ता को कम करने के लिए आरम्भ में इसे केवल एक सैनिक विद्रोह की संज्ञा दी गई। सैनिक विद्रोह की धारणा के प्रणेता मुख्य रूप से कम्पनी के अधिकारी ही थे। इस महान उपनिवेशवाद विरोधी विद्रोह को केवल सैनिक विद्रोह के रूप में देखने का मुख्य उद्देश्य यह था कि कम्पनी इस तथ्य को सामने नहीं लाने देना चाहती थी कि भारत का जनमानस कम्पनी के शासन से त्रस्त है, और अगर इसे सैनिक विद्रोह के बाहर देखा जाता तो इसे कम्पनी के शासन को औचित्य समाप्त हो जाता। इस प्रकार सैनिक तथा असैनिक विद्रोहों के बीच के राजनैतिक अन्तर को समझते हुए इस उपनिवेशवादी शासन के दौरान, चाहे वह कम्पनी का शासन हो या ब्रिटिश क्राउन का, विभिन्न लोकप्रिय जनजातीय तथा असैनिक विद्रोह की प्रकृति को समझने की कोशिश करेंगे। इस इकाई में हम यह भी जानने की कोशिश करेंगे कि भारत की सामाजिक राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था में शायद सबसे उपेक्षित समाज, अर्थात् आदिवासी समाज, विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में शासक वर्ग के विरुद्ध विद्रोह करने में क्यों मजबूर हुआ। इस इकाई में हम केवल जनजातीय विद्रोह की ही नहीं बल्कि विभिन्न असैनिक विद्रोह की भी चर्चा करेंगे। जनजातीय तथा असैनिक विद्रोह की प्रकृति को समझने के लिए न केवल शासन व्यवस्था को समझना पड़ेगा बल्कि शोषण व्यवस्था को भी उतनी ही गहराई से समझने की आवश्यकता है। हम इस बात को भी समझने की कोशिश करेंगे कि जनजातीय तथा असैनिक विद्रोह में शामिल जनता क्या केवल उपनिवेशिक शासन या उपनिवेशिक शोषण विरोधी भी था। उनका विरोध

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में मौजूद उस शोषक वर्ग से भी था जो शोषित जनता से (आदिवासी तथा गैर-आदिवासी) से उनके जीवन जीने का अधिकार भी छीन रहे थे।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई को लिखने का मुख्य उद्देश्य जनजातीय तथा असैनिक विद्रोह की प्रकृति को समझना है। इस बात पर भी प्रकाश डालना है कि यह आन्दोलन अथवा विद्रोह मुख्य रूप से राष्ट्रवादी थे या केवल उपनिवेशवाद-विरोधी। इस इकाई में हम इस बात को भी समझने कि कोशिश करेंगे कि यह कितना उचित होगा कि हम उपनिवेशिक भारत में चल रहे विभिन्न जनजातीय तथा असैनिक विद्रोहों को राष्ट्रवादी चेतना की चादर पहना दे, अर्थात् उपनिवेशिक भारत में चल रहे विभिन्न आन्दोलनों को हम राष्ट्रवादी आन्दोलन कहने लगे। इसके साथ इस इकाई में हम एक और महत्वपूर्ण प्रश्न को समझने की कोशिश करेंगे और वह यह कि क्या अपने सही रूप में इस तरह के आन्दोलनों अथवा विद्रोहों की प्रकृति उपनिवेशवाद-विरोधी थी या फिर मात्र जमीनदारी शोषण या साहूकारों की लालच भरी प्रकृति ने इन्हें विद्रोह करने पर मजबूर किया। अतः इस इकाई में हमारा मुख्य उद्देश्य विभिन्न प्रकार के विद्रोहों की प्रकृति को समझना है।

3.6 जनजातीय विद्रोह

भारतीय उपमहाद्वीप में ऐतिहासिक काल से ही आदिवासी लोगों के लिए राजनैतिक रूप से प्रेरित विभिन्न प्रकार के नामों का प्रयोग किया जाता रहा है। इन नामों अथवा शब्दों का प्रयोग गैर-आदिवासी समाज द्वारा आदिवासियों की राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्ता को कम करने के लिए अक्सर होता रहा है। जहाँ एक ओर वैदिक साहित्यों में उनका वर्णन असुर के रूप में हुआ, वहीं ब्राह्मणवादी स्त्रोत उन्हें राक्षस के रूप में दर्शाते हैं। आज भी उनके लिए जंगली शब्द का प्रयोग किया जाता है जोकि 'असभ्य' का एक पर्यायवाची शब्द बनकर रह गया है। सदियों से यह माना जाता रहा है कि आदिवासी संस्कृति में नैतिकता या आचार-विचार से संबन्धित किसी भी धारणा के लिए कोई स्थान नहीं है। यह समाज 'असभ्य' लोगों का एक समूह है जिन्हें समाज की मुख्य धारा से अलग रखना चाहिए।

आदिवासियों के 'असभ्य' रूप में वर्णन को कानूनी तौर पर या औपचारिक रूप से उपनिवेशिक कानून ने मान्यता प्रदान की। 1857XXXVII एक्ट के प्रस्तावना में संथालों का वर्णन 'असभ्य' नस्ल के लोगों के रूप में किया गया है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि इस प्रकार का भेद-भाव स्वतंत्र भारत के संविधान निर्माण की प्रक्रिया के समय भी किया गया। भारतीय संविधान के पिता तथा शोषित वर्ग के मसिहा, अम्बेडकर का मानना था कि जाति पर आधारित ब्राह्मणवादी हिन्दू समाज भारत की आदिवासी जनता को 'सभ्य' बनाने में असफल रहा इसलिए आदिवासी आज भी बर्बर एवं आंतकित हैं और अकसर अपराधिक गतिविधियों में लिप्त रहते हैं। इसलिए यह उचित होगा कि उन्हें प्रतिनिधित्व के अधिकार से बाहर या वंचित रखा जाए।

यह अचम्भित करने वाली बात है कि एक ऐसा व्यक्ति जो स्वयं शोषित समाज से आता है अपनी ही तरह दूसरे शोषित समाज के बारे में ऐसी धारणा रखता है।

शोषक वर्ग ने हमेशा से अपने आर्थिक शोषण को मान्यता प्रदान करने के लिए सभ्यता को एक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया। इस वर्ग द्वारा हमेशा यह दिखाने की कोशिश की गई कि वह आदिवासी समाज के आर्थिक तथा सामाजिक विकास के लिए उन्हें 'सभ्य' बनाने की कोशिश कर रहे हैं। प्राचीन काल से वर्तमान समय तक आदिवासियों का शोषण जारी रहा बस फर्क सिर्फ इतना है कि शोषण वर्ग ने अपने शोषण को औचित्य प्रदान करने के लिए अलग-अलग कालों में अलग-अलग शब्दों का प्रयोग किया। जहाँ एक ओर वैदिक काल में आदिवासियों को असुर तथा असभ्य बताकर उनकी जमीन जंगल तथा आर्थिक संसाधनों पर कब्जे को जायज ठहराया जाता था तो वहीं दूसरी ओर उपनिवेशिक शासनकाल में तथा आधुनिक पूँजीवादी समाज में आदिवासियों को मुख्य-धारा में लाने तथा उन्हें विकसित करने के नाम पर उनके प्राकृतिक संसाधनों का दोहन किया जाता रहा है।

भारत के अन्य क्षेत्रों की तरह आदिवासी भू-भाग में भी औपनिवेशिक शोषण के विरुद्ध विद्रोह हुआ, लेकिन आदिवासी क्षेत्रों में होने वाले विद्रोहों की प्रकृति शेष भारत में होने वाले विद्रोह से भिन्न है। यहाँ पर विद्रोह केवल औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध नहीं था गैर- आदिवासी अर्थात् 'दिकुओं' के भी विरुद्ध था। बाहरी शोषण के विरुद्ध आदिवासियों को एकजुट करने में उनकी पहचान की चेतना ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जनजातीय विद्रोह के संदर्भ में यहाँ हम मुख्य रूप से कुछ बड़े आदिवासी विद्रोह जैसे, संधाल विद्रोह, मुण्डा विद्रोह, ताना भगत आन्दोलन तथा भील समाज के आन्दोलन की चर्चा करेंगे। कुछ अन्य छोटे परन्तु राजनैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण आदिवासी विद्रोह की चर्चा की आवश्यकता भी जरूरी हो जाती है। जैसे- रानी शैडलियों का आन्दोलन।

1845 में छोटा नागपुर में इसाई मिशनरियों के आने से पूर्व इस क्षेत्र में आदिवासियों का शोषण अपने चरम पर था। 1793 में जमींदारी व्यवस्था लागू करने के कारण इस क्षेत्र में जंगल एवं जमीन पर जमींदारों जो कि बाहर से आए थे का कब्जा लगातार बढ़ रहा था। जमींदारों के अलावा ठेकेदारों तथा महाजनों ने भी कानूनी तथा गैर-कानूनी ढंग से आदिवासी समाज के शोषण में कोई कसर नहीं छोड़ रखी थी।

जब तक आदिवासी जुल्म सहते रहे, उपनिवेशिक सत्ता ने भी शोषक वर्ग को अपना संरक्षण देते रहे। जिस प्रकार सत्ता ने बाहरी लोगों को कानूनी ढाल प्रदान कर रखा था। इस परिस्थिति ने संघर्ष को अवश्यंभावी बना दिया। लेकिन जिन-जिन इलाकों में आदिवासियों ने हिंसक विद्रोह किया, कानून व्यवस्था को बनाए रखने के लिए अंग्रेजी प्रशासन ने उन क्षेत्रों को अलग प्रशासनिक व्यवस्था के अन्दर ला दिया। इस हिंसक विद्रोह की कड़ी में हम संधाल विद्रोह की चर्चा कर सकते हैं।

3.3.1 संधाल हूल

संधाल हूल अर्थात् संधाल विद्रोह की शुरुआत मौजूदा झारखण्ड राज्य के संधाल परगना क्षेत्र में हुई। विद्रोह का आरम्भ 1855 में हुआ जिसका नेतृत्व दो युवा संधाली नेताओं ने, जो अपने आपको परलौकिक शक्ति अथवा दैवीय ताकत से लैस मानते थे, ने किया। इस विद्रोह का मुख्य कारण जमींदारों तथा महाजनों का शोषण तथा अंग्रेजी प्रशासन द्वारा उनको प्रदान किया गया संरक्षण था।

इस विद्रोह का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण, आदिवासी क्षेत्रों के प्राकृतिक संसाधनों का दोहन था जिसके लिए आधुनिक रेल पटरियां बिछाई जा रही थी। रेल पटरियों के लिए न केवल जंगलों की कटाई शुरू हुई बल्कि गरीब संधाल आदिवासियों को जबरन मजदूरी कराई जा रही थी। तो जहां एक ओर दामिन ए-कोट क्षेत्र में उन पर लगातार राजस्व का भार बढ़ रहा था वहीं दूसरी तरफ जंगलों की कटाई ने उनके आर्थिक स्रोत को और भी संकिर्ण कर दिया। इतना ही नहीं बल्कि रेल नेटवर्क की पूरी प्रक्रिया ने बंधुआ मजदूर बनाने पर मजबूर कर दिया और आदिवासियों से अब बेगार कराया जाने लगा।

संधाल आदिवासियों की इस दयनीय आर्थिक स्थिति का फायदा महाजनों तथा साहूकारों ने लेना शुरू कर दिया। साहूकार संधाल किसानों को मुट्ठी भर अनाज देकर उनकी जमीन पर फसल समेत कब्जा कर लेते थे। हिन्दू व्यापारी जो बंगाल-बिहार के गैर-आदिवासी क्षेत्रों से आते थे लेन-देन के तमाम अवसरों पर मासूम संधाल आदिवासियों को ठगने का कोई मौका नहीं छोड़ते थे। संधाल जब अपने व्यापार की वस्तुओं जैसे- शहद, घी, मक्खन, तथा चावल को जब बेचने हिन्दू व्यापारियों के पास जाते थे तो ये व्यापारी न केवल उन वस्तुओं को सस्ते दामों में खरीदते थे बल्कि माप-तौल में भी घपला करते थे। महाजन, व्यापारी तथा जमींदार संधाल आदिवासियों की जमीन पर कब्जा करने के लिए न्यायिक व्यवस्था का भी पूरा इस्तेमाल करते थे। न्यायालय कानूनी दस्तावेजों के आधार पर फैसला सुनाता था जोकि गलत ढंग से तैयार किये जाते थे। शोषण वर्ग अर्थात् जमींदार, महाजन, साहूकार तथा व्यापारी बहुत चालाकी से संधाल किसानों की जमीन अपने नाम लिखवा लेते थे और न्यायालय का सहारा लेकर उन्हें उनकी ही जमीन से बेदखल कर देते थे। जब संधालों के पास कुछ नहीं बचा अर्थात् उधार के बदले महाजनों के पास गिरवी रखने के लिए जब संधालों के

पास जमीन रही न अनाज तो गरीब संथाल अपने आपको अर्थात् अपने श्रम को महाजनों के पास गिरवी रखने लगे। सूद-ब्याज के इस चक्र में उधार लेने वाले संथाल का पूरा परिवार पुत्र, पुत्री, पत्नी सभी महाजन तथा साहूकारों के पास अनंत काल तक बंधुआ मजदूर बन कर रह जाते थे।

1954-55 में अच्छी फसल होने के बावजूद जब गरीब संथाल किसानों को उनके फसल का उचित दाम नहीं मिला तो उन्होंने तय कर लिया कि अपना हक अब छीन कर लेंगे। अब जरूरत थी बस नेतृत्व की जिसे सिद्ध तथा उसके भाई कान्हू ने पूरा किया। इस प्रकार 1855 के संथाल हूल से पहले ही जमीनी तौर पर विद्रोह की मनोवैज्ञानिक परिस्थिति तैयार थी।

स्टीफन फक्स का मानना है कि तमाम शोषणों के बावजूद संथाल आदिवासियों ने हथियारबंद विद्रोह से पूर्व यह कोशिश की कि इन समस्याओं का हल शांतिपूर्ण ढंग से निकल जाए। जब स्थानीय प्रशासन ने उनके शांतिपूर्ण मांगों को अस्वीकार कर दिया तब संथाल आदिवासियों ने एक और पहल की। संथाल नेतृत्व ने तय किया कि वह शांतिपूर्ण ढंग से अपनी मांगों को लेकर कलकत्ता तक कूच करेंगे। सिद्ध और कान्हू के नेतृत्व में लगभग तीस हजार संथाल आदिवासियों ने यह निर्णय लिया कि वह स्वयं जाकर अपनी शिकायतों के बारे में गवर्नर जनरल से बात करेंगे। जब प्रशासन ने यात्रा के बीच सिद्ध और कान्हू को गिरफ्तार करने की कोशिश की तब आदिवासियों का यह जनसैलाब हिंसक हो गया और इस प्रकार शांतिपूर्ण आन्दोलन को प्रशासन ने अपनी गलती के कारण हिंसक बना दिया। इस हिंसक झड़प में लगभग आठ पुलिसवाले मारे गए। पुलिस-प्रशासन की एक गलती ने शांतिपूर्ण आन्दोलनकारियों को विद्रोही बना दिया और यहीं से संथाल हूल की शुरुआत होती है।

अतीस दासगुप्ता ने अपने लेख 'सम एस्पेक्ट्स ऑफ द संथाल रेबेलियन ऑफ 1855-56' में कान्हू संथाल के बयान का एक हिस्सा प्रस्तुत किया है, जिसमें कान्हू कहते हैं "जब दारोगा ने मेरे भाई सिद्ध को गिरफ्तार करने की कोशिश की तब मैंने अपनी तलवार निकाली और म्यूनिक् मड़ीज का सिर धड़ से अलग कर दिया जबकि दारोगा सिद्ध मारा गया। हमारी सेना ने पाँच और लोगों को मारा जिनका नाम मुझे नहीं पता और फिर हम भगौड़ी की तरफ वापस चले गए।"

विपिन चन्द्र कहते हैं कि जल्द ही लगभग साठ हजार संथाल आदिवासियों की सेना, जिसमें पुरुष और स्त्री दोनों शामिल थे, तैयार हो गई। उनका हमला शोषण के उन सभी प्रतीकों पर था जिसके माध्यम से गरीब संथाल आदिवासियों का शोषण हो रहा था। उनके हमले का केंद्र मुख्य रूप से पुलिस चौकी, जमींदार तथा महाजन का घर, रेलवे निर्माण स्थल, तथा डाकघर थे। यह सही है कि इस विद्रोह का नेतृत्व संथाल नेताओं के पास था तथा बहुसंख्यक विद्रोही संथाल समुदाय से ही थे परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि यह आन्दोलन विशुद्ध रूप से संथाल समुदाय का ही आन्दोलन था। इस विद्रोह में भाग लेने वालों में एक बड़ी संख्या गैर-संथालियों की भी थी। गैर-संथाली समाज के लोग जैसे ग्वाला, लोहार आदि प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों ही रूप में इस विद्रोह का हिस्सा बने और पूरी शक्ति के साथ इस शोषणकारी तथा दमनकारी व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेंकने की कोशिश की।

शुरुआती दौर के सभी आदिवासी विद्रोह की तरह इस विद्रोह के नेतृत्व को भी दैवीय शक्ति के साथ जोड़ा गया। सिद्ध तथा कान्हू दोनों ने अपने पास दैवीय शक्ति होने का दावा किया और कहा कि भगवान ने उनकी रक्षा करने का वचन दिया है। अतः धर्म ने लोगों को एकजुट करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी तथा शोम्पित आदिवासियों को शोषण के विरुद्ध लड़ने के लिए शक्ति प्रदान की।

जैसे ही इस विद्रोह की खबर विभिन्न संथाल बहुल क्षेत्रों में पहुँची, स्थानीय संथाल नेताओं तथा जनता ने अपना समर्थन देना शुरू कर दिया। शिघ्र ही इस आग की चपेट में पूरा संथाल परगना आ गया। जमींदार, महाजन तथा ब्रिटिश बागान मालिक इस हमले का केंद्र थे। इस विद्रोह की प्रबलता का आंकलन करते हुए अंग्रेजी हूकुमत ने यह तय किया कि अगर उन्हें इस क्षेत्र में लम्बे समय तक शासन करना है तो इस

आन्दोलन को पूरी तरह से कुचलना होगा। अब प्रशासन ने इस विद्रोह को कुचलने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी। अंग्रेजी हुकूमत की क्रूरता का वर्णन करते हुए हन्टर कहते हैं “इस जंग में ऐसा कोई भी ब्रिटिश सिपाही नहीं था जो अपने आप पर शर्मिंदा नहीं था। जो कैदी लोग थे वे ज्यादातर घायल लोग थे।”

लेकिन सत्ता के दमन का जवाब संथालों ने पूरी बहादुरी से दिया। इस बहादुरी की उन्हें वही किमत चुकानी पड़ी तथा बड़ी संख्या में संथाल मारे गए। विपरीत परिस्थितियों के बावजूद आधुनिक हथियारों से लैस ब्रिटिश सेना का संथालों ने बड़ी बहादुरी से सामना किया। उनकी बहादुरी का जिक्र करते हुए ओ मेलेय ने एक घटना का उदाहरण दिया जिसका वर्णन विपिन चन्द्र ने अपनी किताब ‘इण्डियाज स्ट्रगल फॉर इण्डिपेन्डेन्स’ में किया है। मेलेय कहते हैं, “ब्रिटिश सिपाहियों के विरुद्ध लड़ाई के दौरान लगभग 45 संथालों ने एक मिट्टी की बनी झोपड़ी में शरण ली। सिपाही उन पर गोली चलाते रहे और उसका उत्तर उन्होंने अपने तीर से दिया। जब संथाल लड़ाकों की तरफ से जवाबी कार्रवाई बन्द हुई तब ब्रिटिश सिपाही झोपड़ी के अन्दर दाखिल हुए और उन्होंने देखा कि केवल एक ही बूढ़ा संथाल जीवित है। जब एक सिपाही ने उसे आत्मसमर्पण के लिए कहा तब उस बूढ़े संथाल ने अपनी कुल्हाड़ी से उस सिपाही पर हमला किया और उसकी हत्या कर दी।” अंततः आधुनिक हथियारों से लैस ब्रिटिश सिपाहियों की जीत हुई और इस विद्रोह को पूरी तरह से कुचल दिया गया, लेकिन उस बूढ़े संथाल की बहादुरी ने दिखा दिया कि यह समुदाय अपने अधिकारों की लड़ाई के लिए अपने प्राणों की आहुति देने के लिए तैयार है।

3.3.2 मुण्डा उल्लुलन

विद्वानों के अनुसार छोटा नागपुर क्षेत्र में उपनिवेशवाद-विरोधी भावना का शुरुआत 1793 से होती है। जब स्थायी बन्दोबस्त को इस क्षेत्र में जबरन थोपा गया। अरविन्द पिन्टो कहते हैं कि विनिमय के माध्यम के रूप में पैसे के इस्तेमाल तथा बाजार प्रणाली के विस्तार के कारण आदिवासियों को अपनी जमीन से हॉथ धोना पड़ा। राजस्व वसूली की प्रक्रिया के दौरान जमींदारों के जुल्म ने स्थिति को और भी भयावह बना दिया। कृषिगत संरचना के टूटने के कारण आदिवासी संस्कृति का विघटन होने लगता है, जिसने अंततः छोटा नागपुर क्षेत्र के आदिवासी आन्दोलन को जन्म दिया जिसमें प्रमुख सरदारी लड़ाई तथा बिरसा विद्रोह हैं।

बिरसा आन्दोलन को हम पुनरुत्थानवादी आन्दोलन के रूप में भी देख सकते हैं जहाँ मुण्डा के स्वर्ण युग की याद को मस्तिष्क में ताजा करने के लिए अतीत का महिमामंडन किया गया। नई राजस्व व्यवस्था को उस क्षेत्र में थोपने के कारण आदिवासी समाज का विघटन बहुत तेजी से होने लगता है। भूमि संसाधनों पर सामुदायिक अधिकारों को जमीन के व्यक्तिगत स्वामित्व द्वारा एक वस्तु बनकर रह जाती है। उस सामाजिक आर्थिक संकट को दूर करने के लिए बिरसा ने अपने अनुयायियों को जमींदारों से जमीन छीनने के लिए उत्तेजित करना शुरू कर दिया। इस पृष्ठभूमि में आदिवासियों का यह धार्मिक कर्त्तव्य बन जाता है कि वह दिक्कुओं के इस दमनकारी व्यवस्था के विरुद्ध जंग छेड़ दें।

बिरसा आन्दोलन जिसकी शुरुआत एक धार्मिक सुधार आन्दोलन के रूप में हुई जल्द ही यह कृषिगत तथा राजनैतिक आन्दोलन का रूप ले लेता है। बिरसा ने आदिवासी जनमानस से खासकर मुण्डा समुदाय के लोगों से आह्वान किया कि वे तमाम बाहरी लोगों, जिसमें जमींदार, महाजन तथा बनिया शामिल हैं, को मुण्डा राज स्थापित करने का वचन दिया। इस खतरे को भौंपते हुए उपनिवेशिक सरकार ने बिरसा मुण्डा को गिरफ्तार कर लिया। नवम्बर 1895 में ढाई वर्ष क कड़ी सजा सुनाई गयी।

1897 में जब यह कारावास से बाहर आये तब ऐसा लगा कि वह अपनी लड़ाई को लेकर और भी ज्यादा प्रतिबद्ध हैं तथा वह अपनी लड़ाई और भी अधिक जुझारू ढंग से लड़ने के लिए तैयार हैं। आदिवासी समाज पर जो बाहरी दमनकारी व्यवस्था थोपी गई थी, उसके विरुद्ध वह विद्रोह की तैयारी में लग गए। उन्होंने न केवल उपनिवेशिक न्यायिक व्यवस्था की वैधता पर सवाल उठाया बल्कि अपने अनुयायियों को यह आदेश दिया कि वे उन सभी बाहरी लोगों पर हमला कर उनकी हत्या कर दें जो आदिवासी समाज मुख्य रूप

से मुण्डा आदिवासियों की इस दयनीय हालत के लिए जिम्मेदार है। स्वर्ण युग को स्थापित करने की जरूरत को वह बार-बार अपने अनुयायियों को याद दिलाते थे। आदिवासी आबादी मुख्य रूप से मुण्डा आदिवासी समुदाय के लोग जो 1899 की आकाल से पीड़ित थे, बिरसा का साथ देने के लिए तैयार हो गए।

20वीं सदी के शुरू होते ही अर्थात् जनवरी, 1900 में मुण्डा विद्रोह की शुरुआत हो जाती है। लगभग 300 मुण्डा तीर कमान से लैस खुंटी पुलिस स्टेशन पर हमला कर देते हैं जिसमें कई सिपाही मारे जाते हैं। उसके बाद प्रशासनिक अधिकारियों के घरों को भी आग के हवाले कर दिया जाता है। स्थिति की गंभीरता को देखते हुए सेना की मदद ली जाती है तथा बड़ी संख्या में बिरसा के अनुयायियों को गिरफ्तार कर लिया जाता है। बिरसा की जेल में ही मृत्यु हो जाती है। लगभग 87 लोगों पर आरोप सिद्ध होता है जिसमें दो को फांसी तथा अन्य को कारावास की सजा सुनाई गई।

एल0पी0 माथुर का मानना है कि बिरसा के इस आन्दोलन में सहजवाद तथा पुनरुत्थानवाद की भावना को आसानी से देखा जा सकता है। लेकिन इस महान विद्रोह के नता पर हिन्दू तथा इसाई धर्म के प्रभाव को भी नकारा नहीं जा सकता है। बिरसा के उपनिवेशवाद विरोधी दृष्टिकोण के कारण कुछ इतिहासकारों ने उन्हें आरंभिक स्वतंत्रता सेनानी तथा एक जुझारू भारतीय देश-भक्त के रूप में देखा जा सकता है। इस विश्लेषण पर अपनी असहमती दर्ज करते हुए स्टीफन फच कहते हैं कि बिरसा केवल उपनिवेशिक शासन को ही आदिवासी समाज का शोषक समझते थे बल्कि उनकी नजर में बनिया, महाजन तथा जमींदार भी उतने ही दमनकारी थे। फच आगे कहते हैं कि यह विद्रोह मुख्य रूप से मुण्डा समुदाय तक ही सीमित था। अन्य आदिवासी समुदाय के लोगों की उसमें अपने लिए कोई जगह नहीं दिख रही थी।

स्टीफन फॅच की धारणा से अपनी सहमति व्यक्त करते हुए कुमार सुरेश सिंह कहते हैं कि बिरसा विद्रोह अनिवार्य रूप से ब्रिटिश-विरोधी नहीं था। इस आन्दोलन के पीछे मुख्य विचारधारा उस दमनकारी व्यवस्था के विरुद्ध लड़ना था जो आदिवासी समाज के सामाजिक-आर्थिक ताना-बाना को तोड़ रहे थे। अतः यह मुख्य रूप से आत्मरक्षा की लड़ाई थी। बिरसा ने 'स्वर्ण युग' की बात कही जब मुण्डा लोग अपनी जमीन के मालिक थे। उसे समय आदिवासी समाज न केवल ब्रिटिश भारतीय अभिजात्य वर्ग के शोषण से भी मुक्त था।

हांलाकि इस आन्दोलन को पूरी शक्ति के साथ दबा दिया गया लेकिन इसने उपनिवेशिक साम्राज्य को अपनी आर्थिक नीति के बारे में समीक्षा करने पर मजबूर कर दिया। अब प्रशासन को पूरी आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था में सुधार की जरूरत का एहसास हो चुका था। छोटा नागपुर टेनेन्सी एक्ट को हम इस नई सोच के परिणाम के रूप में देख सकते हैं। ए0सी0 मित्तल इस आन्दोलन का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि इस आन्दोलन का बुनियादी कारण कृषिगत, इस्तेमाल किया गया तरीका हिंसात्मक तथा अन्त राजनीतिक रूप में होता है। बिरसा ने कृषिगत समस्याओं पर बल दिया तथा इसे हल करने के लिए राजनैतिक तरीका अपनाने की बात की। राजनैतिक हल के विचार से तात्पर्य मुण्डा साम्राज्य स्थापित करना तथा स्वयं उस साम्राज्य का राजा बनना था। अतः हम कह सकते हैं कि आन्दोलन जिसकी शुरुआत पुनरुत्थानवादी तथा धार्मिक आन्दोलन के रूप में हुई कुछ ही समय में राजनैतिक आन्दोलन का रूप ले लेता है।

इस आन्दोलन के प्रभाव को छोटा नागपुर के आदिवासियों के बीच बढ़ रही राजनैतिक चेतना के रूप में भी देखा जा सकता है। दबे-कुचले आदिवासी समाज के लोग बिरसा को अपनी प्रेरणा के स्रोत के रूप में देखने लगे। छोटानागपुर क्षेत्र में शुरू होने वाले ताना भगत आन्दोलन पर हम बहुत स्पष्ट ढंग से बिरसा आन्दोलन का प्रभाव देख सकते हैं। ताना भगत आन्दोलन के गीत में बिरसा की विरासत का जिक्र है। जिस प्रकार बिरसा ने मुण्डा राज स्थापित करने की बात कही ठीक उसी प्रकार ताना भगत आन्दोलन में भी उरांव राज स्थापित करने की कम्पना दिखती है।

3.3.4 ताना भगत आन्दोलन

ताना भगत आन्दोलन जिसकी शुरुआत 1914 में हुई, आदिवासी राजनीति को इसने एक नया स्वरूप प्रदान किया। इसकी प्रकृति को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं। विद्वानों का एक हिस्सा इसे ६ का हिस्सा बना। इसी विचार से सहमत होकर अधिकतर विद्वान एवं इतिहासकार ताना भगत धार्मिक आन्दोलन के रूप में देखता है तो वही कुछ विद्वान इसके राजनीतिक पहलु पर बल देते हैं। आन्दोलन के राजनैतिक स्वरूप को लेकर एक जो बड़ी बहस है वह यह है कि विद्वानों का एक बड़ा हिस्सा इस तथ्य से सहमति रखता है कि ताना भगत शायद पहला ऐसा आदिवासी आन्दोलन है जो राष्ट्रीय आन्दोलन की राजनीति के राष्ट्रीय स्वरूप पर बल देते हुए इसे राष्ट्रीय आन्दोलन का हिस्से के रूप में देखते हैं, परन्तु जब हम इस आन्दोलन से संबंधित स्रोतों पर नजर डालें तब इस तरह के इतिहास लेखन पर निःसंदेह प्रश्न चिन्ह लग जाता है।

सबसे पहली बात की ताना-भगत आन्दोलन का स्वरूप धार्मिक नहीं शुद्ध रूप में राजनीति था और यह बात उनके मंत्र तथा कविताओं से पता चलती है। धर्म का इस्तेमाल केवल आदिवासी समाज के उरॉव समुदाय को एकजुट करने के लिए था। इस आन्दोलन की शुरुआत जातरा उरॉव ने 1914 में की थी कुछ नेताओं के साथ मिलकर राष्ट्रीय आन्दोलन का हिस्सा बन जाते हैं। ताना भगत आन्दोलन का 'राष्ट्रीयकरण' बहुत महत्वपूर्ण है, बावजूद इस तथ्य के कि उरॉव समाज का एक छोटा हिस्सा ही इससे जुड़ता है। यह ध्यान देने वाली बात है कि इस क्षेत्र में गॉंधी की यात्रा से पूर्व ही ताना भगत अंग्रेजी कार्यकर्ताओं के साथ मिलकर काम कर रहे थे। अतः हम कह सकते हैं कि गॉंधी ने उन्हें आकर्षित नहीं किया बल्कि लम्बे समय से वे जो उपनिवेशवादी शोषण का सामना कर रहे थे उसके विरोध में वह भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का हिस्सा बने। उन्हें मुख्य रूप से क्षेत्रीय अथवा स्थानीय कांग्रेसी नेताओं के वादे ने आकर्षित किया जिसमें कहा गया था कि अगर ब्रिटिश शासन का अन्त हो जाएगा तो आदिवासी समाज के लोग जमींदारी शोषण से मुक्त हो जाएंगे, क्योंकि ब्रिटिश शोषण के संरक्षण के कारण जमींदार इतने शक्तिशाली बन गए हैं। अर्थात् जमींदारों की शक्ति का मुख्य स्रोत ब्रिटिश राज ही है। कांग्रेसी कार्यकर्ता आदिवासियों को मुख्य रूप से ताना भगत आन्दोलन से जुड़े आदिवासियों को यह समझाने में सफल हुए कि ब्रिटिश शासन के पतन का अर्थ जमींदारी शोषण का अन्त है।

3.3.5 भील आन्दोलन

भील जनजाति के लोग मुण्डा, संथाल तथा उरॉव से अलग एक बड़े भू-भाग में बिखरे हुए थे। भील मुख्यतः चार प्रदेशों (छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा गुजरात) के अलग-अलग हिस्सों में रहते हैं, शायद यही कारण है कि उनका आन्दोलन मुण्डा, उरॉव या संथाल जैसे आदिवासी आन्दोलनों की तरह विद्रोह में नहीं बदल पाया। भील समाज के आदिवासियों पर हिन्दू धर्म का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। 19वीं सदी के अंतिम दशक में लसोदिया ने भील जनजाति के बीच सुधार आन्दोलन की शुरुआत की। उसका दावा था कि वह दैवीय शक्तियों से लैस हैं और समाज को शैतानी ताकतों से मुक्त कर देगा। उसके प्रभाव में भील जनजाति की एक बड़ी आबादी ने मदिरा-मांस को त्याग दिया। भील जनजाति के बीच एक आन्दोलन की शुरुआत गोविंदगीरी ने की। इसे हम नाथपंथी आन्दोलन के रूप में भी जानते हैं। भील समाज में अपनी बढ़ती लोकप्रियता को देखकर उन्होंने स्वयं को राजस्थान के डुन्गरपुर जिले का राजा घोषित कर दिया और भील जनजाति के लोगों द्वारा गठित एक सेना तैयार कर ली। उनकी इस राजनैतिक महत्वकांक्षा से भयभीत होकर सुन्त-रामपुर के राजा ने अंग्रेजों के साथ मिलकर नाथपंथी सेना पर आक्रमण कर दिया। 1912 में हुए इस युद्ध में भील सेना बुरी तरह पराजित हुई तथा गोविंदगीरी को उनके अनुयायियों के साथ गिरफ्तार कर लिया जाता है। यद्यपि इस युद्ध ने नाथपंथी आन्दोलन की राजनैतिक महत्वकांक्षा पर विराम लगा दिया लेकिन सामाजिक-धार्मिक पहचान के रूप में यह संप्रदाय डुन्गरपुर क्षेत्र में मौजूद है।

3.7 असैनिक विद्रोह

जनजातीय विद्रोह की ही तरह असैनिक विद्रोह का भी मुख्य कारण उपनिवेशिक आर्थिक-शोषण व्यवस्था को माना जा सकता है। कुछ विद्रोह जैसे पागलपंथी, भोपला, फैराजी आदि का उदाहरण लेते हुए समझने की कोशिश करेंगे कि किस प्रकार धर्म ने गरिब किसानों को शोषक वर्ग के विरुद्ध संगठित तथा एकत्रित करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

उपनिवेशक राजस्व व्यवस्था का किसी वर्ग पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा तो वह था कृषक वर्ग। नई राजस्व व्यवस्था की हालत को और भी अधिक दयनीय बना दिया। अपने आप को शोषण के इस कुचक्र से बाहर निकालने के लिए किसान कभी अपदस्त राजाओं के तो कभी जमींदारों के अधिन विद्रोह करते थे। कई इलाकों में तो धार्मिक नेताओं ने भी इनका नेतृत्व किया। 1757 से 1857 के बीच कई असैनिक विद्रोह हुए जिसे कैथलीन गफ "रेस्टोरेटीव रेबेलियन" कहते हैं। इस तरह के विद्रोह में पूर्व जमींदार तथा अपदस्त शासक किसानों के आर्थिक शिकायतों को राजनैतिक रूप प्रदान कर अपनी खोई हुई सत्ता को दुबारा वापस लेने की कोशिश करते हैं। चैत सिंह का 1778 का विद्रोह, बजीर अली का 1799 का तथा बुंदेला राजपूतों का 1842 का विद्रोह इसी श्रृंखला में आएगा। आगे हम कुछ खास विद्रोह के उदाहरणों के साथ ब्रिटिश राज की दमनकारी नीतियों के विरुद्ध किसानों तथा कमजोर वर्ग के लोगों के गुस्से को समझने की कोशिश करेंगे। इस संदर्भ में हम सबसे पहले भोपला विद्रोह का अध्ययन करेंगे।

3.4.1 भोपला विद्रोह

भोपला विद्रोह की प्रकृति को लेकर विद्वानों के बीच एक बड़ी बहस है। कुछ इतिहासकार इस विद्रोह की मिट्टी के सांप्रदायिकता के बीज ढूंढने की कोशिश करते हैं तो कुछ का मानना है कि यह वर्ग संघर्ष था न कि साम्प्रदायिक विद्रोह। इस विद्रोह को सांप्रदायिकता के चश्मे से देखने का मुख्य कारण यह है कि इसमें भाग लेने वाली ज्यादातर जनता मुसलमान थी, नेतृत्व कुछ उलेमाओं के हाथ में था, मस्जिद लामबंदी के केंद्र के रूप में उभरे तथा हमले का शिकार मुख्य रूप से हिन्दू जमींदार थे। अगर सतही तौर पर देखें तो निःसन्देह यह आन्दोलन एक साम्प्रदायिक आन्दोलन लगता है जिसमें भाग लेने वाली जनता मुसलमान तथा जिस पर हमला किया जा रहा है वे हिन्दू थे। परन्तु अगर हम इस विद्रोह का बारीकी से अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि यह कोई साम्प्रदायिक विद्रोह नहीं बल्कि वर्ग संघर्ष था। उस क्षेत्र में ज्यादातर किसान मुसलमान का हिन्दू के खिलाफ विद्रोह नहीं बल्कि गरीब शोषित वर्ग के मुसलमानों का हिन्दू जमींदारों तथा उसे संरक्षण देने वाली ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध विद्रोह था।

इस आन्दोलन की शुरुआत 1840 के दशक में केरल के मालाबार क्षेत्र में होती है। भोपला मुख्य रूप से अरब व्यापारियों के वंशज थे जो एक लम्बे समय से उस क्षेत्र में जाकर बस गए थे। 1792 में जब इस्ट इण्डिया कम्पनी की सेना ने टीपू को पराजित कर मालाबार को अपने कब्जे में ले लिया तबसे उस क्षेत्र के आर्थिक तथा सामाजिक संबंधों में टकराव शुरू हो गया। अपनी विजय के बाद कम्पनी ने जन्मीज, जो उच्च हिन्दू जाति के थे, को जमींदार घोषित कर जमीन पर पूर्ण स्वामित्व का अधिकार प्रदान कर दिया। इससे पहले कि स्थिति यह थी कि उपज का आधा हिस्सा जमींदार के पास जाता था तथा आधा हिस्सा कृषक के पास। परन्तु नई राजस्व नीति ने क्षेत्र में भूमि संबंध को बदल कर रख दिया। अब अगर किसान समय पर लगान न दे तो जमींदार को यह अधिकार है कि वह उसे जमीन से बेदखल कर सकता है। ऐसी परिस्थिति ने किसानों के पास विद्रोह के अलावा और कोई रास्ता नहीं छोड़ा। अपने आपको जमींदार तथा ब्रिटिश गठजोड़ से मुक्त करने के लिए किसानों ने कुछ मुस्लिम नेतृत्व स्वीकार कर विद्रोह का बिगुल बजा दिया। इस विद्रोह का नेतृत्व मुख्य रूप से सय्यद अलबी थंगल, उमर काजी तथा सनाउल्लाह थंगल के पास था। इन नेताओं ने आर्थिक शोषण को धार्मिक चेतना के साथ जोड़कर विद्रोह को एक नया धार प्रदान किया। यद्यपि ब्रिटिश सत्ता ने अपने आधुनिक शक्तिशाली सेना के बल पर विद्रोह को कुचल दिया, परन्तु किसान आन्दोलन की प्रकृति को एक नया स्वरूप प्रदान किया। हमें ध्यान देना होगा कि गरीब भोपला के हमले का केंद्र हिन्दू

जमींदार तथा शोषण व्यवस्था थी न कि आम गरीब हिन्दू। अतः इस आन्दोलन को वर्ग संघर्ष के रूप में देखा जाना चाहिए न कि सांप्रदायिक विद्रोह के रूप में। दूसरे भोपला आन्दोलन की शुरुआत 1919 में तुर्की के खलीफा के सवाल को लेकर होती है। इसका नेतृत्व अली मुसालियार ने किया परन्तु जल्द ही यह आन्दोलन हिंसात्मक विद्रोह के रूप में बदल जाता है। इस बार भी इसके हमले को केंद्र हिंदू-जमींदार तथा ब्रिटिश अधिकारी थे। 1921 के अंत तक सेना के बल पर इस विद्रोह को भी पूरी तरह से दबा दिया जाता है।

3.4.2 फैराजी आन्दोलन

फैराजी आन्दोलन की शुरुआत 19वीं सदी की मध्य में हाजी शरीफतअल्लाह के नेतृत्व में बंगाल में हुई। यहाँ भी धार्मिक पहचान ने जमींदारी शोषण के विरुद्ध गरीब मुस्लिम किसानों को एकजुट करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा किया। जमींदार तथा बागान मालिकों के विरुद्ध शुरु हुआ यह आन्दोलन उपनिवेशक-शासन विरोधी आन्दोलन का रूप ले लेता है। जहाँ रहमान मलिक तथा एम0ए0 मलिक जैसे विद्वान इसे एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में देखते हैं वहीं पी0एन0चोपड़ा जैसे विद्वान इसके राजनैतिक चरित्र पर बल देते हैं।

हाजी शरीफतअल्लाह ने 'दारुल हरब' की धारणा को सामने रखते हुए कहा कि उपनिवेशिक भारत में जुम्मे की नमाज पढ़ना गैरकानूनी अर्थात् शरियत के विरुद्ध है क्योंकि इस देश की शासन व्यवस्था काफिर अंग्रेजों के हाँथों में है। अतः ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध संघर्ष को धार्मिक मान्यता प्रदान करने की कोशिश की गई है। हाजी शरीफतअल्लाह ने अपने अनुयायियों को आदेश दिया कि वह अंग्रेजी हुकूमत तथा जमींदारों को लगान देना पूरी तरह से बंद कर दें। ब्रिटिश सत्ता की अवहेलना करते हुए उनके अनुयायियों ने सरकारी परती जमीनों पर कब्जा करना शुरु कर दिया। जमींदारों ने इस आन्दोलन को धार्मिक रूप देना शुरु कर दिया और यह प्रचार करने लगे कि फैराजी तथा उनके नेता बंगाल में इस्लामिक शासन की स्थापना करने की कोशिश कर रहे हैं। अंग्रेजी हुकूमत तथा हिन्दू जमींदार इस आन्दोलन को धार्मिक रंग देने की कोशिश कर रहे थे, ताकि इसके वर्ग चरित्र से लोगों का ध्यान हटाया जाय और हिन्दू गरीब किसानों को इस आन्दोलन का हिस्सा बनने से रोका जा सके। अतः आन्दोलन को धार्मिक रंग देने का मुख्य कारण वर्ग संघर्ष के खतरे को टालना था।

हाजी शरीफतअल्लाह की मृत्यु 1839 में होती है। मृत्यु के बाद आन्दोलन की बागडोर उनके पुत्र दुदु मियां ने संभाली। इनके नेतृत्व में आन्दोलन बंगाल के कई जिलों तक फैल गयी। दुदु मियां अपने पिता हाजी शरीफतअल्लाह से कहीं अधिक राजनैतिक सोच रखते थे। अपनी शक्ति को संगठित करने के लिए दुदु मियां ने अपने प्रभाव वाले क्षेत्रों को प्रशासनिक इकाइयों में बाँट दिया। उन्होंने यह भी आदेश जारी किया कि विवादों के निपटारे के लिए उनके अनुयायी ब्रिटिश न्यायालय की शरण नहीं लेंगे बल्कि विवादों का निपटारा पंचायत के स्तर पर ग्रामीण न्यायालय द्वारा किया जाएगा। इस प्रकार प्रशासन के साथ-साथ न्यायालय व्यवस्था भी दुदु मियां के अधीन चला आता है। हम कह सकते हैं कि उन्होंने एक प्रकार से समानान्तर सरकार की स्थापना कर ली थी। फैराजियों द्वारा चलाए जा रहे 22 न्यायालय केवल ढाका में ही मौजूद थे।

दुदु मियां ने भूमि संबंधों को धर्म के साथ जोड़कर उन्हें और मजबूती प्रदान की। उनका कहना था कि "जमीन की उपज पर किसानों का हक होता है तथा उस किसी प्रकार के कर या लगान को थोपना कुरान के अनुसार गैर-कानूनी है।" इस प्रकार दुदु मियां ने कृषक के आर्थिक मुद्दे को धर्म के साथ जोड़कर ब्रिटिश शासन खासकर उपनिवेशिक राजस्व व्यवस्था, जिसमें ब्रिटिश अधिकारी, हिन्दू जमींदार, तथा बागान मालिक सभी शामिल थे, के विरुद्ध अभियान छेड़ दिया। अब ब्रिटिश शासन को समझ में आ चुका था कि केवल मूक दर्शक बनकर समस्या का हल नहीं निकाला जा सकता है, इसलिए यह तय किया गया कि अगर आन्दोलन के प्रभाव को समाप्त करना है तो इसके लिए दुदु मियां की गिरफ्तारी जरूरी है। दुदु मियां को गिरफ्तार कर लिया जाता है। उनके अनुपस्थिति में भी उनके अनुयायियों ने बागान मालिकों तथा जमींदारों के विरुद्ध संघर्ष

जारी रखा। 1862 में उनकी मृत्यु के बाद आन्दोलन अपने पतन की ओर बढ़ने लगा। 70 के दशक में दुदु मियां ने आन्दोलन में नई जान डालने की कोशिश की, परन्तु पूरी तरह से सफल नहीं हो पायी। उनकी मृत्यु के बाद इस आन्दोलन के ज्यादातर नेता ब्रिटिश शासन के समर्थक बन गए और इस प्रकार एक जुझारू वर्ग संघर्ष का अंत हो जाता है।

3.4.3 सन्यासी तथा फकीर आन्दोलन

सन्यासी तथा फकीर आन्दोलन का जन्म ब्रिटिश उपनिवेशिक आर्थिक नीति के विरुद्ध एक संगठित विद्रोह के रूप में होता है। विद्रोह की शुरुआत लगभग 1763 में बंगाल तथा उसकी सीमा से लगे बिहार के कुछ हिस्सों में होता है। सरकारी रिकार्डों के विपरित सर विलियम हन्टर इसे 'किसान विद्रोह' के रूप में देखते हैं। इनका मानना है कि मुगल साम्राज्य के पतन के बाद बेरोजगार हुए सैनिकों तथा भूमिहीन किसानों के पास उपनिवेशिक आर्थिक नीति के प्रकोप से बचने का जब कोई और रास्ता नहीं मिला तो उन्होंने कम्पनी की शासन व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह कर लिया। इसी विद्रोह को ब्रिटिश अधिकारी सन्यासी विद्रोह के रूप में देखते हैं। वही फकीर आन्दोलन का भी मुख्य कारण आर्थिक था। इन्हें मुगल साम्राज्य के दौर में मदद-ए माश अर्थात् लगान मुक्त जमीन प्रदान की जाती थी। कंपनी के राज में उनका यह विशेषाधिकार समाप्त हो जाता है। अतः कंपनी राज ने दोनों समुदायों, सन्यासी तथा फकीर को गंभीर रूप से प्रभावित किया जिसकी प्रतिक्रिया के रूप में इन दोनों समुदाय के लोगों ने कम्पनी के शासन के विरुद्ध शस्त्र विद्रोह कर दिया। विद्रोह जिसकी शुरुआत 1763 में होती है। 18वीं सदी के अंत तक इसका प्रभाव समाप्त हो जाता है।

3.4.4 तीतू मीर का विद्रोह

धार्मिक पहचान तथा शोषण-विरोधी भावना के गठजोड़ के रूप में उभरने वाला यह एक महत्वपूर्ण विद्रोह था। इसकी शुरुआत बंगाल में तीतू मीर नामक व्यक्ति जो पेशे से एक पहलवान था, के नेतृत्व में होती है। तीतू मीर 24 परगना के रहने वाले थे। अपनी मक्का की यात्रा के दौरान वे सय्यद अहमद राय बरेलवी से मिले। इनसे मिलने के बाद तीतू मीर बहाबी विचारधारा से बहुत अधिक प्रभावित हुए। हक्का से वापस आने के बाद उन्होंने गरीब मुस्लिम किसानों के बीच इस विचारधारा का प्रचार-प्रसार शुरू कर दिया। जल्द ही उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी। तीतू मीर मुस्लिम किसानों के मुद्दे को पूरी शक्ति के साथ उठाने लगे। इस क्षेत्र की भी सामाजिक संरचना बंगाल के अन्य हिस्सों की ही तरह थी। जहाँ जमींदार मुख्य रूप से हिन्दू समुदाय से थे तथा कृषक मुस्लिम। अतः यह सामाजिक-धार्मिक आन्दोलन जल्द ही राजनैतिक रूप ले लेता है। इस आन्दोलन की गंभीरता को देखते हुए स्थानीय जमींदारों ने तय किया कि इसे पूरी तरह से कुचल देना ही उचित होगा ताकि भविष्य में वर्ग संघर्ष की स्थिति से बचा जा सके। अब जमींदारों ने गरीब मुस्लिम किसानों पर कई तरह के कर लगाने शुरू कर दिए जिसमें सबसे विवादित 'दाढ़ी पर टैक्स' था। किसानों ने भी तीतू मीर के नेतृत्व में परी शक्ति के साथ इस दमनकारी व्यवस्था का विरोध किया। दोनों पक्षों की तरफ से हिंसा का पूरा इस्तेमाल होता है जिसमें जमींदार, बागान मालिक तथा उपनिवेशिक सरकार अपनी शक्ति के दम पर 1831 के अन्त तक इस विद्रोह को पूरी तरह से कुचल दिया।

3.8 निष्कर्ष

किसी भी आन्दोलन को उसके सही रूप में समझने के लिए जरूरी है कि उसके चरित्र या उसकी प्रकृति का अध्ययन किया जाए। उपर्युक्त आन्दोलनों के अध्ययन से यह साफ हो जाता है। कि शोषित वर्ग के आन्दोलन का मूल कारण धार्मिक तथा जातीय नहीं बल्कि आर्थिक था। धार्मिक तथा जातीय पहचान ने शोषित वर्ग को शोषक वर्ग के विरुद्ध लामबंद किया। अतः हम कह सकते हैं कि यह एक प्रकार का वर्ग संघर्ष था। इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि इन आन्दोलनों को हम उपनिवेशवाद-विरोधी आन्दोलन के रूप में तो देख सकते हैं परन्तु राष्ट्रवादी आन्दोलन के रूप में इनका अध्ययन करना एक एतिहासिक भूल होगी।

केवल ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध विद्रोह को हम राष्ट्रवाद के साथ नहीं जोड़ सकते। सभी आन्दोलनों के स्थानीय कारण थे और आन्दोलनकारियों का हमला मुख्य रूप से जमींदारों तथा महाजनों के विरुद्ध था। ब्रिटिश सत्ता पर हमले का मुख्य कारण यह था कि उसने इन शोषक वर्ग को संरक्षण प्रदान किया हुआ था। ब्रिटिश राज अधिकतर स्थानों पर जमींदारों तथा महाजनों के माध्यम से ही अपने आर्थिक हितों की पूर्ति में लगा हुआ था। शायद इसलिए ज्यादातर स्थानों पर कमजोर वर्ग के गुस्से का शिकार महाजन तथा जमींदार ही बने न कि अंग्रेजी हुकूमत। अतः हम कह सकते हैं कि ये आन्दोलन उपनिवेशवाद-विरोधी थे न कि राष्ट्रवादी।

3.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. मुण्डा, राम दयाल, द झारखण्ड मूवमेन्ट, कॉर्पोरेशन, 2003
2. एक्का विलियम तथा सिन्हा, 'इक्यूमेंट ऑफ झारखण्ड मूवमेन्ट, नई दिल्ली, 2004
3. माथुर, एल0पी0 ट्राइवल रिवोल्ट इन इण्डिया अन्डर ब्रिटिश राज, जयपुर, 2004
4. सरकार, सुमित, 'बियॉन्ड नेशनलिस्ट फ्रेम', नई दिल्ली, 2002
5. मालिक, एस0सी0, 'डिसेन्ट, प्रोटैस्ट, एण्ड रिफार्म इन इण्डियन सिविलाइजेशन,' दिल्ली, 1977
6. शेखर बन्धोपाध्याय, 'फ्रॉम प्लासी टू पार्टीशन', नई दिल्ली, 2004
7. सुमित सरकार, 'मॉडर्न इण्डिया', 1885-1947', दिल्ली, 1983
8. बिपिन चन्द्र, 'आधुनिक भारत का इतिहास', 2009
9. स्टीफन फच, 'मेसेनिक मूवमेन्ट्स इन प्रीमिटिव इण्डिया', 1965

3.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. आदिवासी आन्दोलनों की प्रकृति की संक्षिप्त रूप में चर्चा करें।
2. राष्ट्रवादी तथा उपनिवेशिक विरोधी आन्दोलन के बीच क्या अन्तर है?
3. आदिवासी आन्दोलनों में 'पहचान की राजनीति' की भूमिका की चर्चा करें।
4. भील आन्दोलन तथा छोटानागपुर एवं संथाल परगना क्षेत्रों में होने वाले आदिवासी विद्रोह के बीच के अन्तर को समझाएं।
5. भोपला विद्रोह का मुख्य कारण क्या था?

1857 का विद्रोह

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 1857 का विद्रोह एवं इसके कारण

1.4 विद्रोह का विस्तार

1.5 विद्रोह की असफलता एवं परिणाम

1.6 विद्रोह की प्रकृति

1.7 सारांश

1.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.9 सहायक पाठ्यसामग्री

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

आधुनिक भारतीय इतिहास की कुछेक सबसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं में से एक घटना 1857 का विद्रोह रहा है। इस ऐतिहासिक घटना का भारतीय इतिहास पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। एक ओर इसने भारत में मध्यकाल के अंत की घोषणा कर दी, तो दूसरी ओर औपनिवेशिक सत्ता ने अब अधिक संस्थागत रूप धारण कर लिया। भारत में विदेशी शासन, जिनकी नींव ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा 1757 के प्लासी की पराजय से ही पड़ गयी थी, अब सीधे ब्रिटिश संसद से नियंत्रित होना आरम्भ हुआ। 1857 को अंग्रेज प्रशासक और औपनिवेशिक इतिहासकार एक सिपाही विद्रोह से अधिक कुछ भी मानने को तैयार नहीं थे, जिसके कारण, उनके मतानुसार, भारतीयों की धार्मिक-सांस्कृतिक भावनाओं का आहत होना था। सुअर और गाय की चर्बीयुक्त कारतूसों को कम्पनी राज के विरुद्ध सैनिकों के विद्रोह का मूल कारण माना गया। इस तरह के अधूरे इतिहासलेखन में भारतीयों की राय जानने की कोशिश ही नहीं की गई। भारतीय आमधारणा में 1857 सदैव ही अंग्रेजों के प्रति उनके संघर्ष का पहला गौरवपूर्ण अध्याय ही बना रहा। पिछले 150 वर्षों में 1857 के विद्रोह के कारणों एवं इसकी प्रकृति की जितनी चर्चा इतिहासकारों के मध्य हुई है, उतनी आधुनिक इतिहास के किसी विषय की नहीं हुई। 1857 के विद्रोह के राजनीतिक-आर्थिक कारणों से आरम्भकर उसमें जनभागीदारी, किसानों की भूमिका को उद्घाटित करने से लेकर आज दलितों, जनजातियों एवं महिलाओं की भागीदारी तक पर गंभीर शोध किये जा रहे हैं। जहाँ हाल के ऐतिहासिक लेखनों में से एक, विलियम डॉर्लिम्पल ने 1857 के विद्रोह को पुनः 'मुसलमानों का अंग्रेजों के विरुद्ध धार्मिक जिहाद' कह कर इसके महत्व को कम करने की कोशिश की है, वहीं अनेक भारतीय इतिहासकारों ने 1857 के दौरान हिन्दुओं और मुसलमानों की बेमिसाल एकता के अनेकों दृष्टांत दिये हैं। इन सारे अध्ययनों का एक अच्छा परिणाम यह भी हुआ है कि 1857 के विद्रोह से सम्बंधित अनेकों दास्तावेज खोज लिये गये हैं।

अंग्रेजी के सरकारी दस्तावेजों एवं चिट्ठी-पत्रियों के अलावा उर्दू के अनेक देसी पत्र-पत्रिकाएं, घोषणाएं, पुस्तिकाएं 1857 के इतिहासलेखन के सबसे महत्वपूर्ण स्रोत हैं। फिर भी, 1857 का इतिहास जानने के लिए विद्रोहियों के स्वयं के दास्तावेजों का तो लगभग अभाव ही है। इसने 1857 के विद्रोहियों की विचारधारा और उनके संघठन के तरीकों को जान पाना मुश्किल कर दिया है। हाल में उस समय प्रचलित फारसी अखबारों, बंगाली पत्र-पत्रिकाओं के अलावा देसी भाषाओं में लिखे समकालीन संस्मरणों और लोकस्मृति आदि का इतिहासकारों ने बहुमूल्य उपयोगकर 1857 के विद्रोह के इतिहास के विभिन्न पक्षों को उजागर किया है। इन सब विषयों पर हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे।

1.2 उद्देश्य

इस ईकाई का उद्देश्य विद्यार्थियों को केवल 1857 के विद्रोह के इतिहास से ही परिचित कराना नहीं बल्कि 1857 के इतिहास पर हुई विभिन्न बहसों से अवगत कराना भी है। इसके अध्ययन के पश्चात आप जान सकेंगे कि औपनिवेशिक (मूलतः ब्रिटिश) इतिहासकार क्यों 1857 के विद्रोह को एक धार्मिक संघर्ष के रूप में ही चित्रित करने का प्रयास करते रहे हैं? 1857 पर राष्ट्रवादी इतिहासलेखन की क्या सीमाएं रहीं हैं? और 1857 के विद्रोह को मार्क्सवादी इतिहासकारों ने किस तरह विश्लेषित किया है? इसके अलावा आप जान पायेंगे कि 1857 के विद्रोह के वास्तविक कारण क्या थे? अर्थात् क्या इनफील्ड राइफल में चर्बीयुक्त कारतूसों का उपयोग इतना गंभीर मामला था कि सैनिकों (हिंदू और मुस्लिम) को अपना धर्म खतरे में लगा? अगर ऐसा था तो उन्हीं सैनिकों ने विद्रोह के समय इन्हीं राइफलों का प्रयोग क्यों किया? इतिहासकारों के विश्लेषण से निकले विभिन्न कारणों को जानने के साथ-साथ, हम 1857 के विद्रोह के विस्तार पर भी चर्चा करेंगे। आरम्भिक इतिहासकारों ने 1857 के सीमित उत्तर-भारतीय चरित्र पर जोर दिया था। बाद के अध्ययनों ने 1857 की विद्रोही विचारधारा के व्यापक प्रसार की चर्चा की है। हम यहाँ हाल में हुए उन शोधों के बारे में भी जानेंगे जिनमें दलितों और जनजातियों की 1857 के विद्रोह में भूमिका का अध्ययन किया गया है। इस ईकाई में हम 1857 के विद्रोह की प्रकृति की व्यापक चर्चा भी करेंगे। यहाँ हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि इतिहासकार विद्रोह को क्यों सैनिक विप्लव से इतर एक किसान संघर्ष और एक व्यापक जनआन्दोलन मानने लगे हैं।

1.3 1857 का विद्रोह एवं इसके कारण

10 मई 1857 को मेरठ में विद्रोह का झंडा बुलन्द कर बंगाल नेटिव इनफैण्ट्री रेजीमेन्ट के सिपाही 11 मई को जब दिल्ली पहुँचे, तब 1857 के महान विद्रोह का आरम्भ हो गया। सिपाहियों ने इससे पहले भी कई बार विद्रोह का झंडा उठाया था। मार्च में कलकत्ता के निकट बैरकपुर की घटना के बाद अप्रैल में आगरा, इलाहाबाद और अम्बाला में भी छिटपुट घटनाएं हो चुकी थीं। परंतु मेरठ से सैनिकों का विद्रोह के बाद दिल्ली आगमन महत्वपूर्ण था। इसके पश्चात सैनिकों द्वारा शायर और बूढ़े बादशाह बहादुरशाह 'ज़फर' को अपना शासक घोषित करना विद्रोह को एक व्यापक राजनीतिक कार्यवाही बना देता है। यह घटना विद्रोह की चिंगारी के तेजी से फैलने का कारण बन गयी। दिल्ली की घटना के एक माह के भीतर ही कानपुर, लखनऊ, बनारस, इलाहाबाद, बरेली, जगदीशपुर और झांसी जैसे गंगा-यमुना दोआब के महत्वपूर्ण शहर 1857 के विद्रोह के बड़े केंद्र बन गये। कानपुर से मराठा पेशवाई के दावेदार नाना साहेब, बरेली के खान बहादुर, जगदीशपुर के कुँवर सिंह, लखनऊ में बेगम

हजरत महल तथा झांसी में रानी लक्ष्मीबाई आदि ने तुरंत ही बहादुरशाह को अपना बादशाह घोषित कर दिया। इतिहासकार अनिरुद्ध देशपाण्डे का मानना है कि मुगलों की सुलहकुल (धार्मिक सहिष्णुता) की नीति के कारण ही मुगलों का भारतीय राजव्यवस्था पर वर्चस्व बना हुआ था। उनका मानना है कि इसी वजह से सैनिकों ने बहादुरशाह के नेतृत्व में आस्था प्रकट की। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि विद्रोह निश्चित ही एक आकस्मिक घटना थी, और इसके लिए पहले से कोई योजना नहीं बनाई गयी थी। हलांकि विद्रोह के कारण आकस्मिक नहीं थे और पिछले 100 वर्षों में भारत में अपनाई गई ब्रिटिश नीति का परिणाम थे, जैसा हम आगे जानेंगे।

1857 के विद्रोह का पहला ऐतिहासिक विवरण देते हुए सर जॉन केय ने देसी लोगों की धार्मिक भावनाओं के आहत होने को विद्रोह का कारण बताया था। उनके अनुसार नारी शिक्षा का आरम्भ, हिन्दु विधवा-पुनर्विवाह कानून, जेल में जाति नियमों का उल्लंघन और अततः इनफील्ड राइफल के कारतूस में चर्बी का प्रयोग विद्रोह के कारण थे, जिन्होंने धार्मिक भावनाओं को प्रभावित किया था। बिस्वामॉय पती (आगे बी. पती) के अनुसार, “आरम्भ में इसे कलकत्ता की धर्म सभा की साजिश के तौर पर देखा गया, जो अंग्रेजों के हमले से हिन्दु धर्म की रक्षा करना चाहता था। आश्चर्यजनक रूप से शीघ्र ही ‘धार्मिक षडयंत्र’ का यह विचार ‘मुस्लिम साजिश’ कहा जाने लगा। यहाँ तक कि मुस्लिम साजिश का यह विचार कमोबेश आजतक बना रहा है।” हाल ही में ‘द लास्ट मुगल’ के लेखक विलियम डॉर्लिम्पल ने 1857 के दास्तावेजों का अध्ययन करते हुए इसमें ‘जिहाज’ और ‘मुजाहिद’ शब्दों का भरमार में प्रयोग को देखते हुए 1857 के विद्रोह को मुसलमानों द्वारा किये जा रहे धार्मिक युद्ध यानि जिहाद की संज्ञा दी है। 2001 के परिदृश्य में, जब दुनिया अमेरिका में हुई आतंकी कार्यवाही की दहशत में थी, 1857 को ‘मुस्लिम जिहाद’ बताना एक अत्यन्त आकर्षक एवं पर्याप्त बिकाऊ विचार था। 1857 में विद्रोहियों की धार्मिक पहचान कितना माने रखती थी, इस पर विचार करते हुए सब्यासाची भट्टाचार्या ने विद्रोहियों में सहयोग और विरोध के आधार को विभिन्न पहचानों से जोड़ा है। उनके अनुसार स्वयं लोग और दूसरे उन्हें निम्न तरीकों से पहचानते थे – (अ) क्षेत्रीय और भाषाई पहचान: जैसे पुरबिया, तेलिंगा आदि, (ब) व्यावसायिक और वर्गीय एकता: जैसे परम्परागत लेखक या शायर, समसामयिक व्यापारी वर्ग – बनिया, ज़मींदार, उधार देने वाले सूदखोर आदि, (स) शाही दरबार और महल से सम्बंध, (द) धार्मिक समुदाय, जो निश्चय रूप से एक-रूप नहीं थे बल्कि सम्प्रदायों/फिरकों में बटे हुए थे। इतिहासकारों ने इस तथ्य की ओर भी ध्यान खींचा है कि मुस्लिम इस विद्रोह में अंग्रेजों के विरुद्ध हिंदुओं के साथ मिलकर लड़ रहे थे। हिन्दु-मुस्लिम एकता की जैसी मिसालें 1857 में दिखाई पड़ी वैसी बाद में नहीं मिलतीं। बहरहाल, इतिहासकारों एवं अधिकारियों के इस विचार ने कि 1857 के विद्रोह में मुख्य भूमिका मुसलमानों ने निभाई थी, 1857 के पश्चात की ब्रिटिश नीतियों में मुस्लिम-विरोध को जन्म दिया और उन्हें सरकारी नौकरियों में नहीं रखा जाता था। यह स्थिति दो दशक पश्चात केवल तब बदली जब सर सैय्यद अहमद खान ने अंग्रेजों को मुस्लिम राजभक्ति के लिए आश्चस्त कर दिया।

1857 के विद्रोह के कारणों का भारतीयों द्वारा किए गये विश्लेषणों में पहला नाम सर सैय्यद अहमद खान का आता है। उन्होंने 1858 में लिखी अपनी पुस्तक ‘अस्बाब बगावते हिन्द’ में बगावत (विद्रोह) के लिए ब्रिटिश नीतियों को ज़िम्मेदार ठहराया। यही नहीं, वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इसे जनता का विद्रोह कहा। 1857 के विद्रोह पर उनके लेखन को लम्बे समय तक नज़रअंदाज़ ही किया गया। उल्लेखनीय है कि 1947 में भारतीय

स्वतंत्रता से पूर्व, इतिहासकार 1857 को सैनिक विद्रोह से अधिक कुछ भी मानने को तैयार नहीं थे। तब वी. डी. सावरकर ने 1907 में पहली बार विद्रोह को 'भारत का पहला स्वातंत्र्य युद्ध' घोषित किया था। बड़े पैमाने पर आज़ादी के पश्चात और 1857 की पहली शताब्दी के आसपास हुए राष्ट्रवादी इतिहासलेखन में भी विद्रोह की प्रकृति पर अंतर्विरोध बना रहा, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। जहाँ तक विद्रोह के कारणों का सवाल है, राष्ट्रवादी इतिहासलेखन ने लगभग एक मत से इसे भारत में 100 वर्ष के ब्रिटिश शासन और इसकी नीतियों का परिणाम माना। राष्ट्रवादी लेखन में रमेश चन्द्र मजुमदार का 1857 पर किया गया विश्लेषण सबसे उल्लेखनीय है। हलांकि, उन्होंने इसे सावरकर की भाँति राष्ट्रवाद की पहली अभिव्यक्ति नहीं माना। परंतु, 1857 के कारणों का उल्लेख करते हुए उन्होंने औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों – परम्परागत व्यापार एवं उद्योग का पतन और शोषणकारी कृषि नीति के साथ, भारतीयों को प्रशासन में शामिल न करने की त्रुटिपूर्ण प्रशासनिक नीति एवं मिशनरी कार्यों से उत्पन्न सामाजिक एवं धार्मिक रोष आदि को विद्रोह के कारण माना। एक अन्य राष्ट्रवादी इतिहासकार सुरेंद्र नाथ सेन के अनुसार विद्रोह के लिए विभिन्न कारक कार्य कर रहे थे तथा भारतीय राजे और नवाब अथवा सिपाही अलग-अलग कारणों से विद्रोह में शामिल हुए। कुल मिलाकर राष्ट्रवादी लेखन 1857 के विद्रोह में बड़ी संख्या में किसानों की भागीदारी और इसके जनचरित्र को उजागर करने में विफल ही रहा।

मार्क्सवादी इतिहासकार रजनी पॉम दत्त ने 1940 में लिखते हुए ही 1857 के विद्रोह को व्यापक किसान आन्दोलन की संज्ञा दी थी। हलांकि, उनका मानना था कि इसका नेतृत्व विघटित हो रही सामंती ताकतों के पास था, जो विदेशी सर्वोच्चता को समाप्त कर अपनी खोई हुई सत्ता पुनः पाना चाहते थे। दत्त का यह विचार कि 1857 का नेतृत्व सामंती शक्तियों के पास था, 1857 पर हाल तक के मार्क्सवादी चिंतन में बना रहा है। मार्क्सवादी इतिहासलेखन परम्परा में 1857 के विद्रोह पर सबसे महत्वपूर्ण योगदान पी. सी. जोशी द्वारा अनुदित पुस्तक 'विद्रोह: 1857' रही है। पी. सी. जोशी ने यह मानने से इंकार किया कि 1857 का नेतृत्व पूरी तरह से सामंती ताकतों के हाथ में था। उनके अनुसार विद्रोही भारतीयों द्वारा बहादुरशाह, नाना साहेब और अवध नवाब के अधीन सत्ता की स्थापना पूर्व-ब्रिटिश सामंती व्यवस्था की पुनर्स्थापना न होकर क्रांतिकारी व्यवस्थाएँ थीं जिन पर नई लोकतांत्रिक मुहर लगी थी। आर. सी. मजुमदार ने विद्रोह के दौरान ही ब्रिटिश प्रतिनिधियों के साथ विद्रोही भारतीय सामंती नेतृत्व की बातचीत को उजागर कर सामंती नेतृत्व के उद्देश्यों पर प्रश्नचिन्ह लगाए थे। पी. सी. जोशी ने मजुमदार द्वारा सामंती नेतृत्व को अधिक महत्व दिए जाने की आलोचना की, तथा मौलवी अहमदुल्ला जैसे नेताओं को नज़रअंदाज़ करने का आरोप लगाया, 'जिनपर किसी भी राष्ट्र को नाज़ हो सकता है।' जोशी ने विद्रोह के कारणों के विश्लेषण के लिए सर सैय्यद के समकालीन विवरण और कार्ल मार्क्स के लेखों को महत्व दिया। उन्होंने सैय्यद अहमद के हवाले से बताया कि भारतीय के लिए 'ब्रिटिश प्रशासनिक व्यवस्था भ्रष्ट ही नहीं विदेशी भी थी।' कार्ल मार्क्स के लेखों के माध्यम से जोशी ने तर्क दिया कि 'ब्रिटिश ने परम्परागत भारतीय हस्तशिल्प एवं व्यापार को नष्ट कर दिया था। उन्होंने अंग्रेज़ अधिकारियों द्वारा किए गये भूराजस्व परिवर्तनों को विद्रोह का महत्वपूर्ण कारण मानते हुए कहा कि 'कृषि परिवर्तनों ने देशभर में सभी वर्गों और समूहों को प्रभावित किया।' उनके अनुसार किसानों और जमींदारों को एकजुट करने में सुरक्षा और वफादारी जैसे सामंती मूल्यों की भूमिका कहीं अधिक थी। इसके अतिरिक्त, जोशी ने अंग्रेज़ी शासन के भारतीय सम्पत्ति के दोहन को, जो 1857 के समय चल रहा था, को भी विद्रोह का एक कारण माना। जहाँ तक 1857 के धार्मिक कारणों की बात थी, पी. सी.

जोशी ने इन पर ज़रूरत से ज़्यादा ज़ोर देने के लिए ब्रिटिश अधिकारियों और अध्येताओं की आलोचना की। उनके अनुसार, 'उन ऐतिहासिक परिस्थितियों में विदेशी शासन के विरुद्ध संघर्ष में भारतीय विचारधारा में परम्परागत धार्मिक-सांस्कृतिक तत्वों का होना लाज़िमी था।' बाद के अध्ययनों ने 1857 के कृषक चरित्र पर काफी ज़ोर दिया है। बिपन चन्द्रा ने कहा कि 'वास्तव में ये सिपाही सैनिक वर्दी में 'किसान' थे जो अब तक गाँव की मिट्टी से जुड़े थे।' उनके अनुसार, 'यहाँ तक उस समय अवध में शायद ही कोई ऐसा परिवार रहा हो जिसका कोई सदस्य सेना में न रहा हो।' अतः नई भूराजस्व नीतियों ने सिपाहियों को बहुत प्रभावित किया था। सिपाहियों के विद्रोह ने ग्रामीणों को कुछ हद तक सरकारी भय से मुक्ति दिलाई और संगठित विद्रोह सड़क पर आ गया। इसप्रकार, हम देखते हैं कि मार्क्सवादी इतिहास लेखन ने औपनिवेशिक इतिहास के इस दावे को कि 1857 का विद्रोह धार्मिक कारणों या कारतूसों में चर्बी के प्रयोग जैसे मामूली मुद्दों की वजह से हुआ, गलत साबित कर दिया। मार्क्सवादी इतिहासकार सफलतापूर्वक यह साबित करने में सफल रहे कि 1857 के विद्रोह के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था और भारतीयों का आर्थिक शोषण था।

1.4 विद्रोह का विस्तार

जिस तरह औपनिवेशिक इतिहासकारों ने 1857 के विद्रोह को 'सैनिको विद्रोह' की संज्ञा देकर जनता में इसके व्यापक प्रसार और समर्थन को नज़रअंदाज़ करने की कोशिश की, वैसे ही उन्होंने इसके सीमित विस्तार का भी बारम्बार उल्लेख किया। औपनिवेशिक इतिहासलेखन की कोशिश यह दिखाने की रही कि 1857 के विद्रोह को सभी वर्गों और समुदायों का समर्थन नहीं था। हाल में, विलियम डार्लिम्पल ने कहा कि सैनिकों के आने से दिल्ली के लोग नाराज़ थे, विशेषकर दिल्ली के बनिया, जिनसे सैनिकों ने जबरदस्ती रसद और धन की वसूली की थी। राष्ट्रवादी इतिहासलेखकों में से आर. सी. मजुमदार ने भी 1857 के विद्रोह की सीमितता पर ज़ोर दिया था। मजुमदार ने सावरकर के नामकरण 'प्रथम राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष' का लगभग मज़ाक उड़ाते हुआ कहा कि '1857 न तो प्रथम, न ही राष्ट्रीय और न ही स्वतंत्रता संघर्ष ही था।' अपने तर्क के पक्ष में आर. सी. मजुमदार ने अनेकों दृष्टांत भी दिए। उन्होंने कहा कि 1857 के पहले भी कई कृषक और नागरिक संघर्ष हुए थे। 1857 का विद्रोह उत्तर भारत तक सीमित था। यहाँ भी पंजाब और बंगाल में विद्रोह का कोई प्रभाव नहीं था। उत्तर भारत के अनेक सामंत और राजा, जैसे सिंधिया और राजपूत राज्य, अंग्रेज़ों के साथ ही रहे। आर. सी. मजुमदार ने तार्किक ढंग से दिखाया कि विद्रोह में शामिल अनेक भारतीय शासक, जैसे झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और बहादुरशाह की बेगम ज़ीनत महल समझौते के लिए अंग्रेज़ प्रशासकों से बातचीत भी चला रहे थे। 1857 के विद्रोह के सीमित विस्तार को लेकर लगभग इतिहासकारों में सहमति ही बनी रही। सर्वप्रथम पी. सी. जोशी ने इस मत को चुनौती देते हुए कहा कि विद्रोह में उत्तर भारत का अधिकांश भाग शामिल था, जो क्षेत्र में फ्रांस, आस्ट्रिया और जर्मनी के संयुक्त आकार के बराबर था। इस विद्रोही क्षेत्र के बाहर पंजाब, राजपूताना, महाराष्ट्र, हैदराबाद, बिहार के जनजातीय इलाके और बंगाल आदि में भी सिपाही विद्रोह, स्थानीय विद्रोह और सक्रिय ब्रिटिश-विरोधी षडयंत्र हो रहे थे। पी. सी. जोशी द्वारा अनुदित पुस्तक में हिंदी, उर्दू और बंगाली साहित्य में 1857 के विद्रोह पर लिखे साहित्य के माध्यम से विद्रोह की भावना के व्यापक विस्तार की चर्चा थी। बिपन चंद्रा ने भी लिखा कि 'विद्रोह की यह लहर केवल बड़े केंद्रों तक सीमित नहीं रही। बंगाल की करीब सभी सैनिक छावनियों और बम्बई की कुछ

सैनिक छावनियों को भी इसने अपनी लपेट में ले लिया।⁴ इसके पश्चात तो 1857 के विद्रोह पर स्थानीय अध्ययनों की बाढ़ सी आ गई। इन अध्ययनों ने आसाम, झारखण्ड के अलावा कुमाऊँ और हिमाचल जैसे पहाड़ी इलाकों में भी 1857 के विस्तार पर प्रकाश डाला। हाल के अध्ययनों में किसानों के अलावा जनजातिय समुदायों में 1857 के विद्रोह की भावना के विस्तार पर शोध किए गये हैं। इरिक स्ट्रोक ने अपनी नवीन पुस्तक 'पीज़ेण्ट आर्म्ड' में 1857 के विद्रोह में किसानों की भागीदारी पर व्यापक प्रकाश डाला। वही शशांक सिन्हा ने छोटानागपुर के जनजातिय समुदाय में विद्रोह की भावना का अध्ययन किया है। बन्नी नारायण ने दलितों में 1857 के विद्रोह की चेतना की चर्चा की है। उनके अनुसार दलित बुद्धीजीवियों और नेताओं ने 1857 के विद्रोह में शामिल दलितों को दलित नायकों की भाँति प्रस्तुत किया। इन नायकों में झलकारीबाई, जिनका उल्लेख बृन्दावनलाल वर्मा ने अपने उपन्यास में रानी लक्ष्मीबाई की घरेलु नौकर के रूप में किया था, को दलित नायक की भाँति पेश किया गया। इसीप्रकार उदादेवी, जो अवध में बेगम हज़रत महल की निकट सहयोगी थी, पासी वीरंगना की भाँति देखी गयीं। इसप्रकार दलितों ने 1857 के विद्रोह में अपनी सक्रिय भागीदारी और भूमिका का सफलतापूर्वक उल्लेख किया है। कुल मिलाकर, हम कह सकते हैं कि भले ही विद्रोह राष्ट्रीय स्तर तक विस्तृत नहीं था, परन्तु 1857 के विद्रोह की भावना ने सभी क्षेत्रों और वर्गों के लोगों को व्यापक रूप से प्रभावित किया था।

1.5 विद्रोह की असफलता एवं परिणाम

हम जानते हैं कि 1857 का विद्रोह असफल रहा। इतिहासकारों ने इसकी असफलता के अनेक कारण गिनाएँ हैं। निश्चित रूप से विद्रोह संगठित नहीं था। इरिक स्ट्रोक का मानना है कि 1857 के विद्रोह में 'असंख्य विद्रोह' शामिल थे। बिपन चंद्रा का मत है कि 'विद्रोह के पूर्व किसी प्रकार की योजना या संगठन का भले ही अभाव रहा हो, लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि विद्रोह शुरू होते ही विद्रोहियों ने संगठन बनाने की कोशिश शुरू कर दी। दिल्ली पर कब्ज़ा होते ही आसपास के सभी राज्यों और राजस्थान के (राजपूत) शासकों को चिट्ठी भेज कर उनके समर्थन की कामना की गई और उन्हें हिस्सा लेने के लिए आमंत्रित किया गया। दिल्ली में एक प्रशासनिक अधिकरण बनाया गया जिसके ज़िम्मे राज्य के सभी काम थे। इस अधिकरण के दस सदस्य थे—छह सेना से और चार नागरिक विभागों से। सारे निर्णय बहुमत से लिए जाते थे। अधिकरण बादशाह के नाम पर राजकाज का संचालन करता था।⁵ फिर भी, हमें मानना होगा कि विद्रोही सिपाहियों की कोई एकीकृत कमाण्ड नहीं थी। मुग़ल राजकुमार, जिन्हें आरम्भ में सेना के नेतृत्व की ज़िम्मेदारी दी गई थी, विद्रोह का नेतृत्व करने में पूरी तरह निकम्मे साबित हुए। हलांकि, बाद में सिपाहियों ने अपने नेतृत्व के लिए बख्त ख़ान को चुना। हलांकि जनरल बख्त ख़ान ने उत्कृष्ट नेतृत्व का परिचय दिया। परन्तु, निश्चय ही कम्पनी की सेना अधिक सुसंगठित थी। नेतृत्व और संगठन की कमज़ोरियों के साथ-साथ, भारतीय पक्ष तकनीकी रूप से भी कमज़ोर था। इतिहासकारों का मत है कि नवनिर्मित रेलवे और टेलीग्राफ ने ब्रिटिश सेना को परिवहन और सूचना के द्रुतगामी आवागमन की सुविधा प्रदान की थी। यह सुविधा भारतीय पक्ष को प्राप्त नहीं थी।

इस सब से अधिक महत्वपूर्ण था विद्रोह में विचारधारा का अभाव। इतिहासकारों का मानना है कि 19वीं सदी के मध्य तक भारत में राष्ट्रवाद की भावना का विकास नहीं हुआ था। बिपन चंद्रा का मत है कि 'जो चीज़ विद्रोहियों को एक सूत्र में जोड़ती थी, वह थी ब्रिटिश हुकूमत के प्रति घृणा। लेकिन उनके पास न तो राजनीतिक

दृष्टि थी और न भविष्य के लिए कोई साफ नक्शा।‘ किसी स्पष्ट विचारधारा के अभाव में विद्रोहियों ने परम्परागत पहचानों का सहारा लिया जो उन्हें आपस में बांधती थी। सब्यासाची भट्टाचार्य का मत है कि विद्रोही निम्न पहचानों में संगठित थे – (क) क्षेत्रीय एवं भाषायी पहचान जैसे पुरबिया, तेलिंगा आदि, (ख) व्यापारी, ऋणदाता एवं बनिया, (ग) व्यावसायिक समुदाय जैसे लेखक, कवि तथा दिल्ली कालेज से जुड़े बुद्धीजीवी, (घ) दिल्ली के शाही दरबार और महल से जुड़ाव वाले लोग, और अंततः (ङ) धार्मिक समुदाय जो निश्चित रूप से समरूप न होकर विभिन्न सम्प्रदायों में बँटे थे। हमें ध्यान रखना चाहिए कि औपनिवेशिक इतिहासकारों ने विद्रोहियों की धार्मिक पहचान को ही महत्व दिया तथा अन्य पहचानों को नज़रअंदाज़ किया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 1857 के विद्रोह जैसी हिन्दु-मुस्लिम एकता भारत में दुर्लभ ही दिखाई पड़ी। इसलिए विद्रोह को धर्मयुद्ध या जिहाद की तरह देखना पूरी तरह से त्रुटिपूर्ण होगा। फिर भी, यह भी सही है कि राष्ट्रवाद के अभाव में विद्रोहियों ने पूर्व-आधुनिक पहचानों के माध्यम से स्वयं को संगठित किया।

लगभग एक वर्ष कुछ अधिक समय के भीतर ही अंग्रेज़ विद्रोह को कुचलने में सफल हो गये। परन्तु, इसके परिणाम दूरगामी थे। भारत में 1757 के प्लासी युद्ध से शुरु हुआ कम्पनी का राज समाप्त हो गया। इसका स्थान सीधे ब्रिटिश क्राउन के शासन ने ले लिया, जिसका अर्थ था भारत के शासन पर ब्रिटिश पार्लियामेण्ट का सीधा नियंत्रण। भारत में शासन तो गवर्नर जनरल और वायसराय के हाथ में ही रहा, परन्तु ब्रिटेन में भारतीय शासन को नियंत्रित करने के लिए भारत सचिव की अध्यक्षता में एक इंडिया आफिस की स्थापना कर दी गई। भारत सचिव गवर्नर जनरल से सीधा सम्पर्क बनाए रखता था तथा ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था।

1857 के विद्रोह का दूसरा सीधा परिणाम ब्रिटिश नीतियों के परिवर्तन के रूप में दिखाई पड़ा। भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक मामलों में सीधे सरकारी हस्तक्षेप की नीति का त्याग कर दिया गया। भारतीय सामंती वर्गों, विशेषकर जमींदार, तालुकेदार और भारतीय राजाओं को पर्याप्त छूटें एवं स्वीधाएँ दे दी गईं ताकि ब्रिटिश राज को इन वर्गों का समर्थन पुनः प्राप्त हो जाए। सेना में अंग्रेज़ों और भारतीयों के अनुपात में भी आवश्यक सुधार किए गये। 1857 की पराजय का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम तो यह था कि भारतीय अगले 50-60 वर्षों तक अंग्रेज़ी शासन का आक्रामक विरोध नहीं कर सके।

1.6 विद्रोह की प्रकृति

1857 के विद्रोह के बारे में सबसे विवादित चर्चा इसके स्वरूप को लेकर ही रही है। औपनिवेशिक इतिहासकारों में सर जॉन केय और कर्नल मालेसन का मानना था कि 1857 का विद्रोह एक ‘सैनिक विद्रोह’ था। बी. पती का मत है कि ‘आरम्भिक लेखों एवं बयानों में, समकालीन साक्ष्यों में महान विद्रोह को औपनिवेशिक दृष्टि से देखा गया था। इसमें सबसे महत्वपूर्ण था इसे एक ‘सैनिक विद्रोह’ के रूप में देखना। इसका उद्देश्य औपनिवेशिक विस्तार और शोषण से उत्पन्न समस्याओं को छिपाना और औपनिवेशिक प्रशासकों एवं ‘घरेलू’ लोगों को सान्त्वना प्रदान करना था। यहाँ तक की, औपनिवेशिक स्रोतों में महान विद्रोह को ‘सिपाही विद्रोह’ के रूप में पेश किया गया जो ‘बगावत’ (जनविद्रोह) में विकसित हो गया।‘ बी. पती के अनुसार यही ‘औपनिवेशिक विचार राष्ट्रवादी और बाद में सबअलटर्न इतिहासलेखन में भी बना रहा।‘ औपनिवेशिक इतिहासलेखक साम्राज्य के प्रति पूर्वाग्रह रखते थे। सर जॉन केय ने जहाँ ब्रिटिश सैनिकों की वीरता की भूरी-भूरी प्रशंसा की, वही विद्रोही

सिपाहियों को तिरस्कार से देखा और उन्हें कायर और बदमाश बताया। कर्नल मालेसन का विवरण तो और भी त्रुटिपूर्ण था। उन्होंने तीन खण्डों का विवरण ब्रिटिश सैनिकों और प्रशासकों से बातचीत के आधार पर लिखा था। फिर भी, अनेक अंग्रेजों को 1857 के विद्रोह के मात्र एक सैनिक विद्रोह होने में विश्वास नहीं था। ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में विपक्ष के नेता डिज़रार्डली ने पार्लियामेण्ट में चर्चा करते हुए कहा कि 'वर्तमान भारतीय अव्यवस्था एक सैनिक विद्रोह नहीं बल्कि राष्ट्रीय विद्रोह है।' इसीप्रकार जस्टिन मैककार्टी का मत था कि 'भारतीय प्रायद्वीप के उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी प्रांत में यह भारतीय प्रजातियों का अंग्रेज़ शक्ति के खिलाफ विद्रोह था।' मैकलायड का विचार था कि 'कम से कम अवध के लोगों के संघर्ष को तो स्वतंत्रता का युद्ध मानना चाहिए।' इन विचारों के बावजूद औपनिवेशिक इतिहासलेखन की प्रवृत्ति 1857 को एक 'सैनिक विद्रोह' की भाँति ही देखने की रही। हाल में, विलियम डार्लिम्पल ने कहा कि दिल्ली में विद्रोह एक 'आयातित' घटना थी। मेरठ से आये 300 सिपाहियों ने दिल्ली पर कब्ज़ा कर लिया और बादशाह तथा दिल्लीवालों को निर्देशित किया। हलांकि, डार्लिम्पल ने 1857 को मूलतः एक 'धर्मयुद्ध' की तरह देखा और इसे इस्लाम की जिहाद की विचारधारा से जोड़ दिया, जो हमारे समय में तालिबान और अल कायदा के रूप में अभिव्यक्त हो रही है। के. सी. यादव ने उनके इस मत का खण्डन करते हुए इसे 'महान गलत व्याख्या' कहा है। यादव ने समकालीन स्रोतों के माध्यम से तर्क दिया कि 'उस समय जिहाद यानि मुस्लिम संघर्ष, हिंदुओं के साथ मिलकर, काफिरों अर्थात् अंग्रेजों के विरुद्ध हो रहा था, जो उनके दीन और इमान—स्वतंत्रता और इज़्जत को नष्ट कर रहे थे।' यादव ने बताया कि विद्रोह के दस्तावेज़ों से पता चलता है कि वास्तव में हिंदुओं ने अंग्रेजों के विरुद्ध जिहाद शब्द का प्रयोग किया। हलांकि, औपनिवेशिक इतिहासलेखन में 1857 को एक धार्मिक संघर्ष के रूप में देखना भी कोई नया विचार नहीं है। लन्दन टाइम्स के लिए लिखते हुए सर डब्लू. रसेल ने 1857 को 'धर्म का युद्ध और प्रजाति का युद्ध' कहा था। हम ऊपर देख चुके हैं कि जॉन केय ने 1857 के विद्रोह का मूल कारण धार्मिक भावनाओं का आहत होना माना था। फिर भी, डार्लिम्पल ने 1857 के विद्रोह से सम्बंधित ऐतिहासिक स्रोतों में 'जिहाद' शब्द के प्रयोग को अपने इतिहास में एक बिल्कुल नया और अनऐतिहासिक अर्थ दिया है।

1857 के स्वरूप और प्रकृति को लेकर राष्ट्रवादी इतिहासलेखन अतिवाद या असमंजस से ग्रसित दिखाई पड़ता है। आरम्भिक राष्ट्रवादी वी. डी. सावरकर की 'प्रथम राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम' की थीसिस को अधिकतर राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने खारिज कर दिया। 1947 में भारत की आज़ादी के पश्चात्, 1857 के शताब्दी वर्ष में राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने विद्रोह के कारणों एवं स्वरूप पर पुनर्विचार किया। मशहूर इतिहासकार आर. सी. मजुमदार, जिन्हें पहले सरकार द्वारा गठित कमेटी में रखा गया था जिसे 1857 का इतिहास लिखना था, ने सरकारी प्रयासों से अलग 'द सिपॉय म्युटिनी एण्ड द रिवोल्ट ऑफ 1857' नाम से 1857 का इतिहास लिखा। जैसा कि पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट था, मजुमदार ने 1857 को मूलतः एक सैनिक विद्रोह और भारतीय राजाओं का विद्रोह ही माना। मुगल बादशाह बहादुरशाह, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और नाना साहेब के बारे में उनकी राय थी कि वे सभी अपने व्यक्तिगत लाभ और परम्परागत अधिकारों के लिए लड़ रहे थे। भारतीय शासकों के दस्तावेज़ों के आधार पर मजुमदार ने दिखाया कि ये शासक विद्रोह के दौरान अंग्रेजों से बातचीत भी कर रहे थे, ताकि ब्रिटिश प्रशासन से कोई समझौता किया जा सके। अतः मजुमदार ने विद्रोह को स्वाधीनता संघर्ष मानने से इंकार कर दिया। हलांकि, आर. सी. मजुमदार ने औपनिवेशिक इतिहासकारों के इस विचार को चुनौती दी कि विद्रोह के कारण

धार्मिक थे। उन्होंने भारत में 100 साल के कम्पनी शासन तथा इसकी नीतियों को विद्रोह के लिए जिम्मेदार माना। 1857 के विद्रोह के सरकारी इतिहासकार सुरेंद्रनाथ सेन ने भी इसे पहला स्वाधीनता संघर्ष तो नहीं माना, परन्तु माना कि कम से कम अवध में तो इसने राष्ट्रीय स्वरूप धारण कर लिया था। उन्होंने यह भी कहा कि अंग्रेजों का विरोध करने के लिए ज़मीनदार और किसान एक साथ आ गये। सेन ने भी इस विचार को पूरी तरह खारिज कर दिया कि विद्रोही धार्मिक भावनाओं के आहत होने से नाराज़ थे। एस. एन. सेन के इतिहास की मुख्य विशेषता भारत के विभिन्न क्षेत्रों में इसके प्रभाव एवं प्रसार को रेखांकित करना था। फिर भी, सेन का इतिहास 1857 को 'राष्ट्रीय विद्रोह' बनाम 'सैनिक विद्रोह' की संज्ञा देने के सवाल पर असमंजस में रहा और इस प्रश्न को हल न कर सका। के. सी. यादव का मत है कि 'विद्रोह के ब्रिटिश विश्लेषण का 1857 के इतिहासलेखन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। न केवल मामूली बल्कि एस. एन. सेन और आर. सी. मजुमदार जैसे महान इतिहासकार भी ब्रिटिश प्रभाव में कार्य करते रहे और 1857 का विश्वसनीय इतिहास लिखने में विफल रहे।' स्वतंत्र रूप से लिखने वाले दो राष्ट्रवादी इतिहासकारों—के. के. दत्ता और एस. बी. चौधरी के साथ ये दुविधा नहीं रही। इन इतिहासकारों का मानना था कि 1857 का आरम्भ तो एक 'सिपाही विद्रोह' के रूप में हुआ, परन्तु शीघ्र ही इसने 'जनविद्रोह' का रूप धारण कर लिया। 1857 के विद्रोह पर राष्ट्रवादी इतिहासलेखन का सबसे बड़ा योगदान औपनिवेशिक अभिलेखागार (बाद में राष्ट्रीय अभिलेखागार) में मौजूद दस्तावेजों का समुचित उपयोग करना और देश के अलग अलग भागों में बिखरे दस्तावेजों को एकत्र करना था।

मार्क्सवादी विचारकों एवं इतिहासकारों में 1857 व्यापक कौतुहल और संतुलित विवेचना की चुनौती बना रहा है। पी. सी. जोशी ने कार्ल मार्क्स के 31 जुलाई 1857 के न्युयार्क ट्रिब्यून को भेजे लेख का उल्लेख करते हुए दावा किया है कि मार्क्स ने इसे 'राष्ट्रीय विद्रोह' कहा था। बी. पती ने भी कहा कि 'मार्क्स और एंजेल से लेकर आर. पी. दत्त तक, यह मार्क्सवादी लेखन की परम्परा की विरासत ही है जो 1857 में लोगों के व्यापक रोष को औपनिवेशिक शोषण से जोड़ती है।' राष्ट्रवादी इतिहासलेखन से पूर्व ही 1940 में 'इंडिया टुडे' नामक ग्रन्थ लिखते हुए, रजनी पॉमे दत्त (आगे आर. पी. दत्त) ने 1857 को एक 'विशाल किसान विद्रोह' कहा था। हलांकि, दत्त का मानना था कि 1857 के विद्रोह का नेतृत्व 'विघटित होती सामंती ताकतों' के पास था जो विदेशी प्रभुत्व को समाप्त कर अपने विशेषाधिकार पुनः पाना चाहते थे। मार्क्सवादी परम्परा में 1957 में लिखी गई और पी. सी. जोशी द्वारा संपादित 'रेबेलियन 1857' विद्रोह पर एक प्रमाणिक और नवीन शोध साबित हुई। सिपाही विद्रोह या राष्ट्रीय विद्रोह के सवाल को उठाते हुए जोशी ने बताया कि इस सवाल का जन्म ब्रिटिश प्रशासकों और लेखकों के मध्य ही सबसे पहले हुआ। दरअसल 1857 के विद्रोह के तुरंत बाद ही ब्रिटिश इस विषय पर चर्चा कर रहे थे कि विद्रोह को सैनिक विद्रोह माना जाये या व्यापक राष्ट्रीय संघर्ष। पी. सी. जोशी ने तर्क दिया कि इस विद्रोह के चरित्र का निर्धारण इसमें शामिल राजनीतिक, आर्थिक और विचारधारात्मक मुद्दों के विश्लेषण के आधार पर ही किया जा सकता है। विद्रोह के कारणों का विश्लेषण करते हुए जोशी ने तर्क दिया कि ब्रिटिश शासकों की राजनीतिक एवं आर्थिक नीतियों ने भारतीय शासकों से लेकर गरीब किसान और शिल्पकारों सभी को राज के विरुद्ध कर दिया। जोशी ने कहा कि 1857 के दौरान भारतीय शासकों के एक वर्ग के हित और राष्ट्रीय हित एकसमान रूप से ब्रिटिश शासन के विरुद्ध हो गये, और उन्होंने राष्ट्रीय विद्रोह में सक्रिय हिस्सा लिया। जोशी ने आर. सी. मजुमदार और एस. एन. सेन द्वारा विद्रोही नेतृत्व की इस आलोचना, कि भारतीय शासक वर्ग अपने

हितों के लिए संघर्ष कर रहा था, से सहमति नहीं जतायी। उनका मानना था कि भारतीय सामंतों के एक वर्ग ने देशभक्ति की भावना से प्रभावित होकर भी जनविद्रोह में भाग लिया। इसप्रकार पी. सी. जोशी ने 1857 को राष्ट्रीय विद्रोह और जनविद्रोह की संज्ञा दी। हम जानते हैं कि 1857 के विद्रोह को अंग्रेजों द्वारा एक 'मुस्लिम षड़यंत्र' के रूप में भी देखा गया था। पी. सी. जोशी संपादित पुस्तक में इस पर विचार करते हुए के. एम. अशरफ ने हमारा ध्यान फ़राज़ी और वहाबी आंदोलनों में मौजूद उपनिवेशवाद-विरोधी भावना की ओर दिलाया। उन्होंने उत्तर भारत में विद्रोह में बड़ी संख्या में वहाबियों की उपस्थिति को रेखांकित किया। अशरफ का मत है कि वहाबियों का ब्रिटिश विरोध जगज़ाहिर था, अतः 1857 के विद्रोह को 'मुस्लिम षड़यंत्र' मानना उचित नहीं होगा।

1857 के शताब्दी वर्ष में हुए उपरोक्त वर्णित राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी अध्ययन जैसे तो औपनिवेशिक अध्ययनों से काफ़ी आगे जाकर विद्रोह का सर्वांगीण विश्लेषण कर पाए, फिर भी, इनकी अपनी सीमाएँ थीं। ये अध्ययन उन सवालों में उलझे रहे, जो औपनिवेशिक इतिहास ने खड़े किये थे। औपनिवेशिक इतिहासलेखन का सबसे अहम विचार था कि 1857 का विद्रोह एक सैनिक विद्रोह था जो गाय और सुअर की चर्बीयुक्त कारतूसों के प्रयोग के कारण सैनिकों की धार्मिक भावनाओं के आहत होने से हुआ। राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी इतिहासकार 1857 के विद्रोह के कारणों पर तो औपनिवेशिक इतिहास को चुनौती दे पाए, परन्तु इसकी प्रकृति पर वे एकमत नहीं थे। 1857 के विद्रोह की प्रकृति के सवाल को न सुलझा पाने के फलस्वरूप ये इतिहासकार दूसरे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर ध्यान नहीं दे पाए।

1857 के शताब्दी वर्ष के पश्चात इस विद्रोह पर कई महत्वपूर्ण शोध हुए, जिन्होंने विद्रोह के विविध पहलुओं को प्रकाशित किया है। ऐसा एक अध्ययन इरिक स्ट्रोक्स ने किया। 1857 के विद्रोह पर अपना मत देते हुए स्ट्रोक्स ने कहा कि 'यह एक विद्रोह नहीं था बल्कि 1857 में 'असंख्य विद्रोह' हो रहे थे।' जाति को विश्लेषण की एक महत्वपूर्ण कुंजी मानते हुए उन्होंने ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों का विभिन्न जातियों पर प्रभाव का अध्ययन किया। उनका मानना था कि विद्रोह में लामबंदी जातीय आधार पर हुई और ग्रामीणों ने उच्च जाति के नेतृत्व का अनुसरण किया। अतः ग्रामीणों को संगठित करने में गाँव के शक्तिशाली अभिजात वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका रही। जहाँ-जहाँ गावों में ब्रिटिश प्रशासन कमज़ोर था वहाँ-वहाँ पुराने अभिजात वर्गों ने विद्रोह में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसप्रकार, इरिक स्ट्रोक्स ने 1857 के ग्रामीण विद्रोह में उच्च वर्गों की भूमिका पर ज़रूरत से ज़्यादा ध्यान दिया और किसानों की महत्वपूर्ण भूमिका को नज़रअंदाज़ किया।

रूद्रांशु मुखर्जी ने 1857 के विद्रोह में किसानों की भूमिका पर प्रकाश डाला है। मुखर्जी ने विद्रोह के केन्द्र अवध में तालुकेदारों/ज़मींदारों और किसानों के सम्बंधों का अध्ययन किया और दावा किया कि तालुकेदारों के विरोध को शक्ति किसानों से मिली। उन्होंने परम्परागत कृषि-सम्बंधों में जमींदार-किसान की एक-दूसरे पर निर्भरता की बात की है। मुखर्जी ने तर्क दिया कि 1857 के विद्रोह को किसानों और आम लोगों का व्यापक समर्थन हासिल था। उन्होंने बताया कि अवध में लगभग $\frac{3}{4}$ जनसंख्या विद्रोह में शामिल थी। इसप्रकार रूद्रांशु मुखर्जी ने विद्रोह के अभिजात चरित्र के विचार को चुनौती दी है। उन्होंने स्रोतों के माध्यम से दिखाया कि जहाँ तालुकेदार अंग्रेजों के साथ थे वहाँ भी किसानों ने विद्रोह में भाग लिया। सिपाहियों को मुखर्जी ने 'वर्दी में किसान' की संज्ञा दी। इस आधार पर मुखर्जी ने दावा किया कि किसानों ने मातहत या सबअल्टर्न की भूमिका नहीं निभाई, बल्कि

अवध में तो विद्रोह में उन्होंने ही मुख्य भूमिका निभाई। मुखर्जी ने 1857 को किसान विद्रोह एवं लोकप्रिय विद्रोह माना। ताप्ती राय ने बुंदेलखण्ड में विद्रोह का अध्ययन करते हुए इसे लोकप्रिय आंदोलन की संज्ञा दी।

गौतम भद्रा ने छोटानागपुर के इलाके में कोल जनजाति की 1857 में भूमिका का अध्ययन किया। उन्होंने बताया कि इन क्षेत्रों में विद्रोह का आरम्भ तो रामगढ़ बटालियन से हुआ, परन्तु शीघ्र ही विद्रोह का नेतृत्व गुनू नामक एक जनजातीय कोल के हाथ में आ गया। कालांतर में विद्रोह में कोल जनजाति ने ही मुख्य भूमिका निभाई। भद्रा के अनुसार 'रामगढ़ बटालियन का विद्रोह वास्तव में लोकप्रिय कोल विद्रोह' में तबदील हो गया। के. एस. सिंह ने विभिन्न जनजातीय इलाकों में जनजातियों की 1857 में भागीदारी का अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि 1857 के जनजातीय विद्रोहों में पर्याप्त विभिन्नताएँ थीं। जनजातीय लोग मूलतः अपने परम्परागत अधिकारों और खोई हुई शक्ति के लिए लड़ रहे थे। इस संघर्ष में उन्होंने आन्तरिक शोषण के प्रतीक सूदखोर और व्यापारियों के विरुद्ध भी लड़ाई लड़ी। इन सभी इतिहासकारों ने 1857 के विद्रोह के लोकप्रिय चरित्र की बात की है। एक अन्य इतिहासकार रजत रे ने 1857 के विद्रोह की लोकचेतना का अध्ययन किया है। इन नवीन अध्ययनों ने विद्रोह के स्वरूप और इसमें जनभागीदारी के अनेक नये पहलुओं को रेखांकित किया है।

1.7 सारांश

इस प्रकार हम पाते हैं कि 1857 का विद्रोह इतिहासकारों के मध्य व्यापक शोध और अध्ययन का विषय रहा है। 1857 के विद्रोह को लेकर मुख्य बहस दो बिंदुओं पर केंद्रित रही है—एक, विद्रोह के कारण क्या थे; दूसरा, इस विद्रोह को कैसे देखा जाए। विद्रोह के कारणों को लेकर अधिकतर इतिहासकारों ने माना कि ब्रिटिश राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक नीतियाँ ही व्यापक भारतीयों रोष और ब्रिटिश विरोध के लिए जिम्मेदार थीं। जहाँ तक विद्रोह की प्रकृति का सवाल था, इतिहासकारों के मध्य यह व्यापक बहस और शोध का विषय रहा। हाल के अध्ययनों ने विद्रोह के कृषक और लोकप्रिय चरित्र पर प्रकाश डाला है। इन अध्ययनों के अनुसार इसे एक कृषक विद्रोह और एक जनविद्रोह माना जा सकता है। विभिन्न स्थानीय इलाकों में विद्रोह के अध्ययनों ने जहाँ इसके व्यापक प्रसार पर प्रकाश डाला है, वही विभिन्न वर्गों और समुदायों की विद्रोह में भूमिका के अध्ययनों ने 1857 के व्यापक वर्गीय चरित्र को उजागर किया है। 1857 की 150वीं वर्षगांठ पर हुए अध्ययनों ने विद्रोह पर नये शोधों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया है। उड़ीसा और आंध्र जैसे विद्रोह के इलाके से बाहर के क्षेत्रों में 1857 के प्रभाव का अध्ययन किया गया है। आदि-द्रविड़ आंदोलनों में 1857 के विद्रोह चेतना के प्रसार का अध्ययन। जनजातियों के अलावा दलितों एवं महिलाओं की 1857 में भागीदारी पर अध्ययन के रास्ते तेजी से खुल गये हैं। 1857 में तवायफों की भूमिका का अध्ययन हुआ है, जिन्होंने सूचनाएँ पहुँचाने में महती भूमिका अदा की। भारतीय ही नहीं अपितु अंग्रेज महिलाओं को भी 1857 में किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा, यह सवाल जेण्डर अध्ययन की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण हैं। हाल में विद्रोहियों के लेखों और दूसरे दस्तावेजों को खोजकर इनके अध्ययन किए गये हैं, जो दिखाते हैं कि विद्रोही पुरानी सामंती व्यवस्था को ही पुनर्स्थापित नहीं कर रहे थे।

1.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. बिपन चंद्रा और अन्य, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष (दिल्ली: हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, 1998)
2. बिस्वामोय पती, संपादक, द ग्रेट रिबेलियन ऑफ 1857 इन इंडिया (लंदन: राउटलेज, 2010)

3. पी. सी. जोशी, संपादक, रेबेलियन 1857 (नई दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट, 2007)
4. आर. सी. मजुमदार, द सिपॉय म्युटिनी एण्ड द रिवोल्ट ऑफ 1857 (कलकत्ता: फर्मा के. एल. मुखोपाध्याय, 1957)
5. सब्यासाची भट्टाचार्य, संपादक, रिथिन्किंग 1857 (दिल्ली: ओरिएण्ट ब्लैकस्वान, 2007)

1.9 सहायक पाठ्यसामग्री

1. इरिक स्ट्रोक्स, द पीजेण्ट आर्म्ड: द इंडियन रिवोल्ट ऑफ 1857 (न्यू यार्क: आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1986)
2. क्रिस्पिन बेट्स, सीरीज़ संपादक, म्युटिनी एट द मार्जिन्स (सात खण्डों में) (नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशन, 2013)
3. रुद्रांशु मुखर्जी, अवध इन रिवोल्ट 1857-1858 (दिल्ली: ओरिएण्ट ब्लैकस्वान, 2002)

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. 1857 के विद्रोह के कारण एवं परिणामों पर चर्चा कीजिए।
2. 1857 के विद्रोह की प्रकृति पर चर्चा कीजिए। क्या यह सैनिकविद्रोह था।

आंग्ल—अफगान संबंध

- 2.1. प्रस्तावना
- 2.2. उद्देश्य
- 2.3. अफगानिस्तान
 - 2.4.1. प्रथम आंग्ल – अफगान युद्ध (1839–42 ई०)
 - 2.4.2. लार्ड लारेन्स की अफगान नीति – (1864–69)
 - 2.4.3. लार्ड मेयो की अफगान नीति
 - 2.4.4. लार्ड नार्थब्रुक की अफगान नीति
 - 2.4.5. लार्ड लिटन की अफगान नीति
 - 2.5.1. द्वितीय आंग्ल – अफगान युद्ध (1878–80 ई०)
 - 2.5.2. लार्ड रिपन की अफगान नीति
 - 2.5.3. अफगानिस्तान के एकीकरण की समस्या :
 - 2.6.1. तृतीय आंग्ल – अफगान युद्ध (अप्रैल–मई – 1919 ई०)
- 2.7. सारांश
- 2.8. संदर्भ ग्रंथ सूची
- 2.9. निबन्धात्मक प्रश्न

2.1. प्रस्तावना

ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति सर्वविधित थी। हम यह भी जानते हैं कि भारत को जीतने में अंग्रेजों ने किस प्रकार से बंगाल के संसाधनों का उपयोग किया। इस ईकाई में हम लोग इस बात पर अध्ययन करेंगे कि किस प्रकार से ब्रिटिश उपनिवेशवाद का अपनी विशेषता के अनुरूप सतत् प्रसार होता रहा और एक उपनिवेश की सम्पदा का उपयोग दूसरे उपनिवेश पर प्रसार एवं नियंत्रण को सुदृढीकरण करने में किया गया। इस संबंध में प्रसिद्ध इतिहासकार आर. सी. मजूमदार लिखते हैं कि – “भारत की पूर्वोत्तर सीमा की राजनीति प्रायः भारत के ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा, गृह सरकार की अनुमति या उसके बिना संचालित की गई, जबकि पश्चिमोत्तर (अफगानिस्तान) सीमा नीति का संचालन केवल ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति के हक में हुआ”। इस कारण ईस्ट इंडिया कम्पनी के कुछ सुसंगत भागों का यहाँ संक्षिप्त विवरण करना उपयोगी हो सकता है।

2.2. उद्देश्य

इस ईकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान सकेंगे कि –

- अंग्रेजों के साम्राज्यवादी नीति के बारे में।
- भारत से बाहर अंग्रेजी प्रसार के सामान्य कारणों पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- उन क्षेत्रों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे जिन पर अंग्रेजों न प्रत्यक्ष अधिकार तो नहीं किया फिर भी उन पर अपना पर्याप्त प्रभाव कायम रख सकें।

2.3. अफगानिस्तान

अफगानिस्तान की भौगोलिक स्थिति भारत के मध्येनजर रखते हुए बहुत महत्वपूर्ण थी। अफगानिस्तान पश्चिम व मध्य एशिया से भारत आने वाले मुख्य व्यापारिक मार्ग के बीच स्थित था। इस पर यूरोप के दो प्रमुख साम्राज्यवादी राष्ट्र इंग्लैण्ड और रूस दोनों की नजर थी। शक्तिशाली मुगल बादशाहों के पतन के पश्चात् भारत पर अफगानिस्तान से कई आक्रमण हुए। उनमें से अहमदशाह अब्दाली का आक्रमण सबसे प्रमुख आक्रमण था। सन् 1793 ई० में जमाँ शाह के समय में एक बार पुनः भारत पर अफगान आक्रमण का खतरा बढ़ गया था। जमाँ शाह के बाद अफगानिस्तान में अशांति फैल गई। अफगानिस्तान

के पूर्व में सिखों के तथा पश्चिम में फारस के ताकतवर राज्य थे। ये दोनों राज्य मौका मिलते ही राज्य विस्तार करने लगते थे।

1826 ई० में अफगानिस्तान का शासक दोस्त मोहम्मद बना। इस बीच असंतुष्ट शासक शाह शुजा भागकर भारत में शरण ली तथा रणजीत सिंह के साथ मिलकर काबूल पर अधिकार करने की योजना बनाने लगा। इस स्थिति का अंग्रेजों ने अपने लिए राजनीतिक फायदा उठाने की कोशिश शुरू कर दी।

2.4.1. प्रथम आंग्ल – अफगान युद्ध (1839–1842 ई०)

अफगानिस्तान के तत्कालीन शासक जमानशाह के गद्दी से हटाये जाने के कारण 1800 ई० में अफगानिस्तान की आन्तरिक स्थिति निरन्तर खराब होती गयी। राजगद्दी प्राप्त करने हेतु आपसी संघर्ष चरम सीमा पर पहुँच गयी। इसी आपसी संघर्ष से विजयी होकर 1826 ई० में दोस्त मुहम्मद अफगानिस्तान का शासक बना। दोस्त मुहम्मद यद्यपि अफगानिस्तान का शासक बन गया परन्तु उसकी कठिनाईयाँ समाप्त नहीं हुई थी। हुमायूँ की भाँति इसे भी आन्तरिक कलह, भाईयों का अधिकार एवं सीमाओं पर वाह्य आक्रमण के खतरे मंडराते रहे।

इसी बीच यूरोप में पूर्वी समस्या विकराल रूप अख्तियार करता जा रहा था। अंग्रेजों को रूस से भय हो गया। इस समय पामस्टेन जैसा साम्राज्यवादी ईंग्लैण्ड की विदेश नीति का निर्धारक था। इस कारण उस तत्कालीन गवर्नर जनरल आकलैण्ड को आगाह भी किया गया था।

काबुल का शासक दोस्त मुहम्मद चारों ओर से खतरों से घिरा था। बल्ख में विद्रोह हो गया था। कंधार में उसका भाई प्रतिरोध कर रहा था। रणजीत सिंह पेशावर पर अधिकार कर चुके थे। तथा शाह शुजा अंग्रेजों की समस्या से पुनः सिंहासन को प्राप्त करने उचित अवसर की ताक में था। पीछे से हेरात पर फारस की सेना घेरा डाल चुकी थी। ऐसी परिस्थिति में वह आँकलैण्ड से मित्रता प्राप्त कर पेशावर प्राप्त करने का इच्छुक था। परन्तु आँकलैण्ड की अदुरदर्शिता पूर्ण नीति के कारण दोस्त मुहम्मद को रूस तथा फारस की तरफ झुकाव होने को बाध्य कर दिया। वैसे कालान्तर में फारस द्वारा हिरात का घेरा हटा लेने और रूसी प्रतिनिधियों के फारस और अफगानिस्तान से चले जाने के उपरान्त अंग्रेजों की भारत पर आक्रमण का कोई भय नहीं रहा। बावजूद इसके लॉर्ड आँकलैण्ड उस समय तक दोस्त मुहम्मद को गद्दी से हटाकर शाहशुजा को अफगानिस्तान का अमीर बनाने का निर्णय ले चुका था। इस कार्य को पूरा करने के लिए अंग्रेज रणजीत सिंह और शाहशुजा में जून 1838 ई० में त्रिदलीय सन्धि हुई।

1 अक्टूबर, 1838 ई० को भारत सरकार की ओर से एक घोषणा-पत्र पढ़ा गया जिसमें भावी आंग्ल – अफगान युद्ध की खाका खींची गई। जिस घोषणा-पत्र में मनगढ़न्त आरोप लगाये गये, जो पूर्णतः झूठ थी। वास्तव में अंग्रेजों के पास युद्ध का कोई कारण नहीं था। आकलैण्ड ने अपना मूल उद्देश्य तो 8 नवम्बर, 1838 के आदेश-पत्र में बताया कि अफगानिस्तान पर आक्रमण इस कारण आवश्यक है कि अफगानिस्तान में एक विरोधी अमीर को हटाकर एक मित्र को गद्दी पर बैठाया जाय जिससे हमारी उत्तर-पश्चिमी सीमाओं की सुरक्षा हो सके। इस कारण अफगानिस्तान पर 1839 ई० में आक्रमण कर दिया गया। अफगानिस्तान पर आक्रमण करने वाली सेना को 'सिन्धु की सेना' (Army of the Indus) पुकारा गया।

सर जान कीन को इसका सेनापति बनाया गया। मैकनाटन को शाहशुजा का मुख्य सलाहकार और अंग्रेज प्रतिनिधि बनाकर भेजा गया। अगस्त में दोस्त मुहम्मद काबुल से भाग गया और 7 अगस्त को शाहशुजा ने काबुल में प्रवेश किया। दोस्त मुहम्मद के आत्मसमर्पण के पश्चात् उसे पकड़कर कलकत्ता भेज दिया गया। प्रारम्भिक तौर पर लगा कि अंग्रेजों की नीतियाँ सफल हो गयी। परन्तु कुछ दिनों पश्चात् दोस्त मुहम्मद के पुत्र अकबर खाँ के नेतृत्व में काबुल में विद्रोह फैलती चली गयी। जिसमें कई अंग्रेज अफसर तथा सैनिक मारे गए। अन्ततः 11 दिसम्बर को मैकनाटन ने अफगानों से एक अपमानजनक संधि कर ली जिसके अनुसार निश्चित किया गया कि –

- (i) अंग्रेज अफगानिस्तान से वापस चले जाएंगे।
- (ii) दोस्त मुहम्मद तथा अफगानी कैदियों को छोड़ देंगे।
- (iii) शाहशुजा पेंशन लेकर अफगानिस्तान में या अंग्रेजों के साथ रह सकता है।

(iv) चार अंग्रेज ऑफिसर अफगानों की सुरक्षा करने के दृष्टिकोण से दे दिये जाएंगे।

इस संधि की शर्तें अंग्रेजों के लिए बहुत ही अपमानजनक थी। बावजूद इसके अंग्रेजों ने अफगानों के बीच फूट डालने की कोशिश की जिससे अफगानी और भी क्रोधित हो उठे। जिसके परिणाम स्वरूप मैकनाटन की हत्या कर दी गई। अन्ततः तत्कालीन सेनापति एलफिन्स्टन को पुरानी संधि की शर्तों को मानते हुए 1 जनवरी, 1842 ई0 को (एक नई संधि) नई शर्तों को भी माननी पड़ी जिसके अनुसार –

(i) अंग्रेज अपनी सारी तोपें और बारूद अफगानों को दे देंगे।

(ii) खजाने का सारा धन अंग्रेजों को दे दिया जाएगा।

(iii) अंग्रेज बतौर मुआवजा अफगानों को 14 लाख रुपया भी देंगे।

इस संधि पर हस्ताक्षर करने के पश्चात् ही अंग्रेजों को काबुल से जलालाबाद जाने की आज्ञा मिली।

28 फरवरी, 1842 ई0 को लार्ड आंकलैण्ड की जगह लार्ड ऐलनबरो को भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त किया गया। हालांकि जनरल पोलक और नौट ने किसी प्रकार अंग्रेजों की नाक बचाते हुए एक बार पुनः काबुल, कन्धार और गजनी में अपना झण्डा फहराया। इतना ही नहीं युद्ध पश्चात् गजनी से सोमनाथ के मंदिर के तथाकथित दरवाजे को लेकर अंग्रेजी सेना भारत वापस लौट आयी।

लेकिन इसमें संदेह नहीं है कि प्रथम आंग्ल-अफगान युद्ध से कोई भी लाभ नहीं हुआ था। अंग्रेजों का मुख्य उद्देश्य अफगानिस्तान में एक मित्र शासक को गद्दी पर बैठाना था। इस उद्देश्य की पूर्ति अंग्रेज नहीं कर सके। शाहशुजा का अफगानों ने कत्ल कर दिया था और जब युद्ध के पश्चात् अंग्रेजों ने दोस्त मुहम्मद को छोड़ दिया तब वह पुनः अफगानिस्तान चला गया और वहाँ का शासक बन गया। उसने मृत्युपर्यन्त 1863 ई0 तक वहाँ का शासन किया। इस प्रकार अंग्रेजों ने बिना किसी राजनीतिक या सैनिक उद्देश्य की पूर्ति किये हुए वहाँ पर अपना धन और अपनी सेना को नष्ट किया।

2.4.2. लार्ड लारेन्स की अफगान नीति – (1864–69)

प्रथम अफगान युद्ध के विनाश लीला एवं लार्ड आंकलैण्ड की नीति की विफलता का ब्रिटिश नीति निर्धारकों पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसके बाद भारत के तत्कालीन वायसराय सर जान लारेन्स (1864–1869 ई0) ने हस्तक्षेप न करने की नीति का पालन किया अर्थात् सीमित उत्तरदायित्व की नीति थी। जिसके तहत अफगानिस्तान को रूसी साम्राज्य तथा भारत के अंग्रेजी साम्राज्य के मध्य एक बफर या तटस्थ राज्य के रूप में रखा जाय। साथ ही अफगानिस्तान के उत्तराधिकार की लड़ाई में हस्तक्षेप नहीं किया जाए। चाहे योग्य हो या अयोग्य जो भी अफगानिस्तान की गद्दी पर बैठे अमीर से मित्रतापूर्ण संबंध रखे जाये। उसे धन, अस्त्र-शस्त्र से सहायता प्रदान की जाये जिससे वह रूस के प्रभाव में न जाये। इस नीति को सर जान लारेन्स की 'शानदार अर्कमण्यता' की नीति (Policy of Masterly Inactivity) कहते हैं। और लारेन्स के उत्तराधिकारी वायसरायों – लार्ड मेयो तथा नार्थ ब्रुक ने भी इसी नीति का अनुसरण किया।

अपनी इस नीति के कारण वश लारेन्स को बार-बार के परिवर्तनों को स्वीकार करना पड़ा। इससे अजीब स्थिति बन गयी। 1864 ई0 में उसने शेरअली को अफगानिस्तान का अमीर स्वीकार किया। 1866 ई0 में उसने अफजल को काबुल का अमीर स्वीकार किया और शेरअली को कान्धार तथा हेरात का अमीर स्वीकार किया। इसके बाद जब अफजल ने कान्धार पर अधिकार कर लिया तो उसने अफजल को काबुल और कान्धार का अमीर और शेरअली को हेरात का अमीर स्वीकार किया। अन्त में जब शेरअली सफल हो गया तो उसे पूरे अफगानिस्तान का अमीर स्वीकार किया। तथा उसे काफी मात्रा में उपहार स्वरूप धन एवं अस्त्र-शस्त्र दिए। इस प्रकार सर जान लारेन्स की नीति वस्तुस्थिति के परिवर्तन के साथ बदलती रहती थी।

सर जान लारेन्स की नीति के पक्ष तथा विपक्ष में विद्वानों ने मत व्यक्त किए हैं। इस संदर्भ में राबर्टस लिखता है कि – "उसकी निष्क्रियता चाहे वह शानदार रही हो या नहीं तर्कमुक्त थी और सुविचारित थी। केवल थोड़े से लोग ही उसके सही होने में संदेह करेंगे।

2.4.3. लार्ड मेयो की अफगान नीति (1869–1872 ई०)

लार्ड मेयो ने भी लारेन्स की नीति को ही आगे बढ़ाया। उसने मार्च 1869 ई० में शेर अली अम्बाला से भेंट भी की। इस भेंट में शेर अली चाहता था लार्ड मेयो अफगानिस्तान को पर्याप्त सुरक्षा के आश्वासन के साथ-साथ उसके उत्तराधिकारी को राजगद्दी पर बिठाने में मदद करें। परन्तु इस भेंट में मेयो ने भारत सरकार की नीति को स्पष्ट कर दिया। उसने शेर अली को बताया कि वह भी पूर्व की भांति लारेन्स की नीति पर चलेगा। वह अफगानिस्तान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा तथा उसने अफगानिस्तान को नैतिक समर्थन का वचन दिया और धन तथा शस्त्रों की सहायता का आश्वासन भी दिया। इतना ही नहीं अफगानिस्तान मामलों को लेकर लार्ड मेयो के पहल पर ही रूस ने हस्तक्षेप न करने का आश्वासन दिया।

2.4.4. लार्ड नार्थब्रुक की अफगान नीति (1872–1876 ई०)

लार्ड नार्थब्रुक, अण्डमान में लार्ड मेयो की हत्या के बाद 1873 ई० में भारत का वायसराय बना। लार्ड नार्थब्रुक भी मेयो और लारेन्स की भांति शानदार निष्क्रियता की नीति को ही पालन किया। परन्तु इस समय शेरअली, नार्थब्रुक से अफगानिस्तान से बचाव हेतु एक मजबूत रक्षा संबंधी संधि करना चाहता था। जिसे नार्थब्रुक ने टाल-मटोल करने की नीति अपनायी। जिस कारण शेर अली ने वायसराय द्वारा भेजी गयी 5000 राइफलों को तो रख लिया परन्तु उसने दस लाख रुपये लेने से इन्कार कर दिया। वस्तुतः शेर अली का अंग्रेजों पर से विश्वास उठने लगा था। इसी समय सीस्तान के मामले से भी अमीर अंग्रेजों से नाराज हो गया।

इसी समय इंग्लैण्ड में सत्ता परिवर्तन हो गया। नार्थब्रुक ने तत्कालीन भारत मंत्री सेलिसबरी की नीति का विरोध किया। जब उसने देखा कि सत्ता पथ अग्रगामी नीति को थोपना चाहते हैं तो उसने 1876 ई० में त्यागपत्र दे दिया और चेतावनी दी कि इस नीति से युद्ध हो जाएगा।

2.4.5. लार्ड लिटन की अफगान नीति (1876–1880 ई०)

ब्रिटिश प्रधानमंत्री डिजरायली ने लार्ड लिटन को 1876 ई० में भारत का वायसराय नियुक्त किया। उसे आदेश दिया गया था कि वह अफगानिस्तान में अंग्रेजों के लिए शक्तिशाली स्थिति प्राप्त करे। इस प्रकार टोरी दल ने लारेन्स की निष्क्रियता की नीति को त्याग कर अग्रगामी नीति को अपनाया।

द्वितीय अफगान-युद्ध को आरम्भ करने का उत्तरदायित्व पूर्णतया अंग्रेजों पर था। लिटन के समर्थकों का कहना है कि शेर अली ने रूसी राजदूत को स्वीकार करके अंग्रेजों को चुनौती दी थी और उसी की सलाह से अंग्रेज राजदूत को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। इस कारण अफगानिस्तान में बढ़ते हुए रूसी प्रभाव को रोकने के लिए लिटन के पास युद्ध के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रह गया था। यह भी उस समय के ऐतिहासिक तथ्यों से स्पष्ट है कि अमीर ने अन्त तक रूस से कोई सन्धि नहीं की थी। अमीर ने अंग्रेज राजदूत को काबुल जाने से इसलिए नहीं रोका था कि वह रूस के प्रभाव में था, बल्कि इसलिए रोका था कि प्रथम अफगान-युद्ध का उदाहरण उसके सामने उपस्थित था। वह जानता था कि अफगान इसे कभी पसन्द नहीं करेंगे बल्कि उसे भी शंका की दृष्टि से देखेंगे। इस आधार पर वह लिटन के समय में ही नहीं बल्कि लारेन्स, मेयो तथा नॉर्थब्रुक के समय में सन्धि की माँग करते हुए भी अंग्रेज राजदूत को काबुल में रखने के लिए तैयार न था।

2.5.1. द्वितीय आंग्ल-अफगान युद्ध (1878–1880 ई०)

युद्ध की घोषणा होते ही अंग्रेज-सेना ने तीन ओर से अफगानिस्तान पर आक्रमण किया। एक सेना सर सेमुअल ब्राउन के नेतृत्व में खैबर के दर्रे से, दूसरी मेजर जनरल रॉबर्ट्स के नेतृत्व में खुर्रम की घाटी से और तीसरी सेना जनरल स्टुअर्ट के नेतृत्व में क्वेटा होती हुई बोलन के दर्रे से भेजी गयी। कन्धार पर सरलता से अधिकार कर लिया गया। शेर अली रूसी तुर्किस्तान भाग गया और वहीं 1879 में उसकी मृत्यु हुई। उसके पुत्र याकूब खॉं ने अंग्रेजों से सन्धि की बातचीत की और 26 मई, 1879 को गंडमक की सन्धि हो गयी। इस सन्धि के अनुसार –

- (i) याकूब खॉं को अफगानिस्तान का शासक स्वीकार किया गया।
- (ii) उसने अंग्रेजों को खैबर और मिशनी के दर्रे तथा खुर्रम, पिशीन और सीबी के जिले दे दिये।

- (iii) उसने अपनी विदेश-नीति का संचालन अंग्रेजी की सलाह से करना स्वीकार किया।
- (iv) उसने एक अंग्रेज राजदूत काबुल में रखना स्वीकार किया।
- (v) अंग्रेजों ने विदेशी आक्रमण से अमीर की सुरक्षा करना तथा उसे छह लाख रुपया प्रति वर्ष सहायता के रूप में देना स्वीकार किया।

वैसे अंग्रेजों के आक्रमण से अफगानों में भीषण रोष था। वे याकूब खाँ जैसे दुर्बल व्यक्ति को अमीर स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। 3 सितम्बर, 1879 को उन्होंने ब्रिटिश राजदूत केवेग्नरी की हत्या कर दी। याकूब खाँ भाग कर अंग्रेजों की शरण में आ गया। उसे बन्दी बनाकर कलकत्ता भेज दिया गया। जनरल राबर्ट्स ने काबुल पर अधिकार कर लिया। अंग्रेजों की नीति अब अफगानिस्तान को छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटना था। यह नीति सफल नहीं हुई। दोस्त मुहम्मद का एक पौत्र, जो तुर्किस्तान में रह रहा था, काबुल आया और अमीर पद के लिए दावा प्रस्तुत किया। इस बीच इंग्लैण्ड में लिटन की नीति की बहुत निन्दा हुई। चुनावों में डिजरायली की सरकार पराजित हो गयी। उदारपार्टी का नेता ग्लेड्स्टन प्रधानमंत्री बना जो अग्रगामी नीति का विरोधी था। नवीन सरकार बनते ही लिटन ने त्यागपत्र दे दिया। उसके उत्तराधिकारी लार्ड रिपन ने अब्दुरहमान को अमीर स्वीकार कर लिया और अंग्रेजी सेना को वापस बुला लिया।

नये अमीर अब्दुरहमान ने पिशीन और सिबी के जिले अंग्रेजों के पास रहने दिये। उसने स्वीकार किया कि वह अंग्रेजों के परामर्श के बिना किसी विदेशी शक्ति से सन्धि नहीं करेगा। अंग्रेजों ने उसे 12 लाख रुपया वार्षिक देना स्वीकार किया। लिटन की नीति पूर्ण रूप से असफल हो चुकी थी और अग्रगामी नीति को त्याग दिया गया था।

2.5.2. लार्ड रिपन की अफगान नीति

1880 ई० में लिटन के स्थान पर लार्ड रिपन को भारत का वायसराय बनाया गया चूँकि लिटन की असफल अफगान नीति का ब्रिटिश चुनावों पर गहरा प्रभाव पड़ा। कन्जरवेटिव पार्टी (टोरी पार्टी) की पराजय हुई। लिबरल पार्टी को जनता का समर्थन मिला और ग्लेड्स्टन प्रधानमंत्री बना। हार्टिंगटन भारत मन्त्री नियुक्त हुआ। लिटन ने त्यागपत्र दे दिया। उसके स्थान पर ग्लेड्स्टन ने उदार रिपन को वायसराय नियुक्त किया। ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने अग्रगामी नीति की निन्दा की और रिपन को आदेश दिया गया कि जहाँ तक सम्भव हो सके युद्ध के पहले की स्थिति पुनर्स्थापित की जाये और शान्तिपूर्ण समझौता किया जाये।

रिपन की नीति – भारत आने के बाद रिपन को स्पष्ट हो गया कि लिटन की नीति ने स्थिति में इतना परिवर्तन कर दिया था कि लारेन्स की अहस्तक्षेप की नीति का पालन नहीं किया जा सकता था। अतः उसने अहस्तक्षेप तथा हस्तक्षेप दोनों नीतियों का मार्ग अपनाया क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों में मध्यम मार्ग ही व्यावहारिक था। उसने स्थिति सुधारने के लिए निम्नलिखित व्यवस्था की –

- (i) उत्तराधिकार के मामले में रिपन ने लिटन की नीति स्वीकार करते हुए अब्दुरहमान को अफगानिस्तान का अमीर स्वीकार कर लिया।
- (ii) अमीर ने वचन दिया कि वह भारत सरकार के अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति से सम्बन्ध नहीं रखेगा।
- (iii) भारत सरकार ने उसे अकारण आक्रमण से रक्षा करने तथा आर्थिक सहायता देने का वचन दिया।
- (iv) काबुल में ब्रिटिश राजदूत रखने की व्यवस्था नहीं की गयी क्योंकि रिपन ने इसे आवश्यक नहीं समझा।
- (v) रिपन का विचार था कि सैनिक दृष्टि से पीछे हटने से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होगी। इसलिए उसने पिशीन और सीबी पर ब्रिटिश अधिकार बनाये रखा। अब्दुरहमान ने इन दोनों स्थानों पर ब्रिटिश अधिकार को स्वीकार कर लिया।

इंग्लैण्ड में ग्लेडस्टन सरकार ने वचन दिया था कि पिशीन और सीबी अमीर को वापस दे दिये जायेंगे। लेकिन उसने इन स्थानों को अधिकार में रखना आवश्यक समझता था। अन्त में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल को रिपन की नीति स्वीकार करनी पड़ी।

2.5.3. अफगानिस्तान के एकीकरण की समस्या

काबुल पर अधिकार करने के बाद लिटन ने अफगानिस्तान को तीन हिस्सों – काबुल, कांधार, हेरात में विभाजित करने का निर्णय किया था। याकूब खाँ को काबुल का, शेर अली खाँ को कांधार का अमीर स्वीकार किया गया। लिटन हेरात के बारे में फारस के शाह से बात कर रहा था। इसके बाद अब्दुरहमान के आने से स्थिति बदल गयी। लिटन के जाने के बाद रिपन की नीति थी कि अफगानिस्तान को एक शक्तिशाली बफर राज्य बनाया जाये। इसके लिए अफगानिस्तान का एकीकरण आवश्यक था। उसके लिए रिपन को अवसर उस समय प्राप्त हुआ जब अयूबखाँ ने कांधार पर आक्रमण किया। अंग्रेजी सेना की रक्षा के लिए जनरल राबर्ट्स काबुल से कांधार आया और अयूबखाँ को उसने पराजित किया। अयूबखाँ हेरात भाग गया। रिपन ने कांधार अब्दुरहमान को दे दिया और शेर अली को 5000 रुपये मासिक की पेन्शन दे दी गयी। काबुल से कांधार आने में राबर्ट्स को अमीर ने पूरा सहयोग दिया था। इससे स्पष्ट हो गया कि अमीर अंग्रेजों से मित्रता रखना चाहता था। कांधार वापस मिलने से अमीर को अंग्रेजों पर विश्वास हो गया। इस प्रकार रिपन ने सभी समस्याओं को हल करने में सफलता प्राप्त की। बाद में अयूबखाँ को पराजित करके अब्दुरहमान ने आनी योग्यता भी प्रमाणित कर दी। उसकी सत्ता को दृढ़ करने के लिए रिपन ने उसे 12 लाख रुपया प्रतिवर्ष देना स्वीकार किया।

रिपन ने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। अग्रगामी तथा पृष्ठगामी के मध्य में चलना ही व्यवहारिक राजनीति थी। उसने क्वेटा और गिलगिट से सेनाओं को नहीं हटाया। उसने पिशीन और सीबी के जिलों को वापस नहीं किया। उसने अमीर की विदेश नीति पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया। लेकिन लारेन्स की तरह उसने अमीर से कोई सन्धि नहीं की और न उत्तराधिकार के युद्ध में हस्तक्षेप किया। उसने अमीर को सैनिक तथा आर्थिक सहायता का वचन तो दिया लेकिन लारेन्स की तरह उसने काबुल में अंग्रेज राजदूत नहीं नियुक्त किया और केवल मुस्लिम राजदूत रखा।

दिलीप कुमार घोष ने रिपन की नीति का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि उसकी नीति लारेन्स से अधिक मिलती थी। डॉ. विश्वर प्रसाद का भी यही निष्कर्ष है कि रिपन का समझौता लारेन्स की नीति के ढांचे का अनुसरण करता था।

1884 में रिपन भारत से गया। उसके जाने के कुछ समय पूर्व रूस न मध्य एशिया के मर्व नामक स्थान पर अधिकार करके भारत सरकार के लिए नई समस्या उत्पन्न कर दी थी। लारेन्स के समान रिपन का दृष्टिकोण था कि इस समस्या को ब्रिटिश सरकार रूस से बातचीत करके हल करे। लारेन्स के समान वह भी चाहता था कि अफगानिस्तान को उत्तरी सीमा का निर्धारण करना अधिक उचित था।

2.6.1 तृतीय आंग्ल – अफगान युद्ध (अप्रैल-मई – 1919 ई०)

द्वितीय अफगान-युद्ध के पश्चात् भी ब्रिटेन को रूस के पूर्व की ओर बढ़ने का खतरा समाप्त नहीं हुआ। दोनों राज्यों में शंका और सन्देह के कारण उपस्थित होते रहे। 1885 में रूस के पंजदेह पर अधिकार कर लेने से एक बार गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गयी, परन्तु जब रूस ने जुलफिकार का दर्रा अफगानिस्तान को दे दिया तो झगड़ा समाप्त हो गया। अन्त में, 1895 में और बाद में 1907 में ब्रिटेन और रूस के समझौते द्वारा रूस और ब्रिटेन के झगड़ों का सभी स्थानों पर निर्णय कर लिया गया। इस प्रकार भारत पर रूस के आक्रमण की समस्या समाप्त हो गयी। तृतीय अफगान-युद्ध का कारण अमीर हबीबुल्ला का दुस्साहस था। प्रथम महायुद्ध के समय में जर्मनी द्वारा भड़काये जाने पर उसने भारत की सीमा पर आक्रमण किया जिसमें उसे सफलता नहीं मिली। 1921 में अफगानिस्तान से एक सन्धि करके मित्रता कर ली गयी। उसके पश्चात् अंग्रेजों के लिए अफगानिस्तान की तरफ से कोई समस्या नहीं खड़ी हुई।

इस प्रकार अंग्रेजों ने समय-समय पर आवश्यकतानुसार पड़ोसी राज्यों व देशों के साथ युद्ध किए और उनमें निश्चित सफलता हासिल कर ब्रिटिश साम्राज्य को मजबूत बनाया।

2.7. सारांश

निष्कर्षत, हम यह कह सकते हैं कि आंग्ल – अफगान संबंध हमेशा उतार – चढ़ाव लिए रहा। हालांकि अंग्रेजों की अदूरदर्शिता पूर्ण नीति एवं दुस्साहसिक कूटनीति के कारण युद्ध पर विशाल धनराशि व्यय हुई तथा असंख्य सैनिक वीरगति को प्राप्त हुए। अंग्रेज भारतीय साम्राज्य के चारों ओर वे प्रभावित क्षेत्रों का घेरा स्थापित करना चाहते थे। इस कारण वहा भी आंग्ल – अफगान संबंध प्रभावित होते रहे। जिसका चरमोत्कर्ष के रूप में हमारे सामने तीन युद्ध आते हैं।

2.8. संदर्भ – ग्रंथ

- | | | | |
|------|-------------------|---|---|
| (1) | बी. डी. महाजन | – | आधुनिक भारत का इतिहास |
| (2) | वी. एल. गोवर | – | आधुनिक भारत का इतिहास |
| (3) | डॉ. संजीव जैन | – | आधुनिक भारत का आर्थिक एवं राजनैतिक इतिहास |
| (4) | डॉ. एस. आर. वर्मा | – | भारत का इतिहास |
| (5) | डॉ. ए. के. मित्तल | – | आधुनिक भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास |
| (6) | आर. एल. शुक्ल | – | आधुनिक भारत का इतिहास |
| (7) | हरीश कुमार खत्री | – | आधुनिक भारत का इतिहास |
| (8) | पी. एल. गौतम | – | आधुनिक भारत |
| (9) | एल. पी. शर्मा | – | आधुनिक भारत |
| (10) | पुखराज जैन | – | स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास |
-

2.9. अभ्यासार्थ प्रश्न

- (1) आंग्ल – अफगान संबंधों पर प्रकाश डालें?
- (2) आंग्ल – अफगान युद्धों के कारणों एवं परिणामों की विवेचना करें?
- (3) लार्ड लिटन की अफगान नीति की समीक्षा करें?
- (4) लार्ड लारेन्स से रिपन के बीच अंग्रेजों की अफगान नीति की विवेचना करें?
- (5) शानदार अकर्मण्यता की नीति क्या थी? इसका महत्व बताइए?
- (6) क्या लार्ड मेयो और लार्ड नार्थब्रुक ने लारेन्स की नीति का पालन किया था। क्यों?

औपनिवेशिक भारत—प्रशासनिक संरचना

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 केंद्रीय प्रशासन
 - 3.3.1 सरकार का स्वरूप
 - 3.3.2 रेग्यूलटिंग एक्ट (1773 ई०—1784 ई०)
 - 3.3.3 पिट्स इण्डिया एक्ट (1784 ई०)
 - 3.3.4 अन्य एक्ट
- 3.4 प्रान्तीय प्रशासन
 - 3.4.1 द्वैध शासन
- 3.5 राजस्व प्रशासन
 - 3.5.1 मालगुजारी की नीति
 - 3.5.2 स्थायी/इस्तमरारी बंदोबस्त
 - 3.5.3 रैय्यतवाड़ी बंदोबस्त
 - 3.5.4 महालवाड़ी बन्दोबस्त
- 3.6 ब्रिटिश भारत में प्रशासनिक गठन
 - 3.6.1 नागरिक सेवा
 - 3.6.2 सेना
 - 3.6.3 पुलिस व्यवस्था
 - 3.6.4 न्यायिक प्रशासन
 - 3.6.5 कानून का शासन
 - 3.6.6 कानून के सम्मुख समानता
- 3.7 1858 ई० के बाद प्रशासनिक परिवर्तन
- 3.8 प्रशासन सम्बन्धी नीतियां
 - 3.8.1 फूट डालो राज करो नीति
 - 3.8.2 शिक्षित भारतीयों के प्रति शत्रुता
 - 3.8.3 श्रम सम्बन्धी कानून
- 3.9 निष्कर्ष
- 3.10 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 3.11 सन्दर्भ—ग्रन्थ

3.1 प्रस्तावना

भारत के विशाल साम्राज्य में प्रशासन तथा नियंत्रण हेतु ईस्ट इण्डिया कम्पनी को कई तरीके ईजाद करने पड़े। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सौ वर्षों के शासन के दौरान विभिन्न गर्वनर जनरलों ने एक सुदृढ़ प्रशासनिक ढांचा तैयार करने का प्रयास किया। फलतः प्रशासनिक गतिशीलता बनी रही। इस दौरान अनेक प्रशासनिक प्रयोग किए गए एवं नए-नए कानून बनाए गए। परन्तु कम्पनी ने अपना मुख्य उद्देश्य कभी नहीं छोड़ा। कम्पनी के मुख्य उद्देश्य थे— कम्पनी के मुनाफे में बढ़ोत्तरी, भारत पर अधिकार को ब्रिटेन के लिए लाभप्रद बनाना। भारत सरकार का प्रशासनिक ढांचा इन्हीं लक्ष्यों को पूरा करने के उद्देश्य से निर्मित तथा विकसित किया गया। इस प्रकार मुख्य दबाव कानून और व्यवस्था को बनाये रखने पर दिया जाता था ताकि बिना व्यवधान के भारत के साथ व्यापार किया जा सके और देश के संसाधनों का दोहन किया जा सके।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान सकेंगे कि—

- ब्रिटिशकालीन भारत की प्रशासनिक संरचना एवं स्वरूप
- विभिन्न अधिनियम एवं उसका कार्यान्वयन
- ब्रिटिश कालीन लगान व्यवस्था— स्थाई बंदोबस्त, महालवारी तथा रैय्यतवाड़ी व्यवस्था।
- ब्रिटिश नीतियों में परिवर्तन एवं आर्थिक दोहन
- 1857 ई० के विद्रोह के पश्चात् सेनाएं एवं प्रशासनिक परिवर्तन

3.3 केंद्रीय प्रशासन

3.3.1 सरकार का स्वरूप

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों ने 1765 ई० में जब बंगाल पर नियंत्रण कर लिया तो इसके प्रशासनिक ढाँचे में कोई नया परिवर्तन करने का उनका नाममात्र इरादा भी नहीं था। वह अपने लाभकारी व्यापार को बढ़ाने के इच्छुक थे। वह कर वसूली कर उसको इंग्लैण्ड भेजने की इच्छा रखते थे। 1765 ई० से 1772 ई० तक दोनों सरकारें एक साथ काम कर रही थी। भारतीय अधिकारियों को पहले की तरह काम करने की अनुमति थी। लेकिन वे ऐसा ब्रिटिश गर्वनर तथा अधिकारियों की देख-रेख में ही कर सकते थे। जहाँ भारतीय अधिकारियों के पास अधिकार ना होकर दायित्व थे। वहीं कम्पनी के अधिकारियों के पूर्ण अधिकार थे किन्तु दायित्व नहीं थे। दोनों ही तरफ अधिकारी भ्रष्ट और दुराचारी व्यक्ति थे। 1772 ई० में कम्पनी ने दोहरी शासन व्यवस्था समाप्त कर दी और बंगाल के शासन में अपने अधिकारी नियुक्त कर दिए। इस समय तक केवल ईस्ट इण्डिया कम्पनी ही थी जिसका सर्वोच्च अधिकारी भारत से हजारों मील की दूरी पर रहने के बावजूद करोड़ों लोगों के ऊपर इसने राजनीतिक आधिपत्य कायम कर लिया था। इस असामान्य स्थिति के कारण ब्रिटिश सरकार के आगे अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गई। ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके साम्राज्य का ब्रिटेन में बैठे कम्पनी के अधिकारीगण हजारों मील दूर से किस तरह नियंत्रण करें। बंगाल, मद्रास और बम्बई में बिखरे हुए कम्पनी के अधिकार क्षेत्रों के लिए भारत में एक ही नियंत्रण केंद्र किस प्रकार स्थापित किया जाए।

पहली समस्या सबसे खतरनाक व महत्वपूर्ण थी। बंगाल के भारी संसाधन कम्पनी के हाथों में आने से उसका लोभ, लालच इतना बढ़ा कि उसके मालिकों ने फौरन ही लाभांश दर बढ़ाकर 1767 ई० में दस प्रतिशत कर दी थी। कम्पनी के अंग्रेज सेवक ने अपनी स्थिति का लाभ

उठाकर गैरकानूनी और असमान व्यापार तथा भारतीय शासकों और जमींदारों से जबरदस्ती रिश्वत और तोहफे वसूल करके तेजी से धन कमाया था। इन लाभांश की ऊंची दरों और उसके अधिकारियों द्वारा भारी सम्पत्ति लेकर स्वदेश लौटने ने ब्रिटिश समाज के दूसरे वर्गों में ईर्ष्या की आग भड़का दी। ब्रिटेन के अन्य व्यापारी उद्यमियों का उभरता वर्ग सभी उस लाभकारी भारतीय व्यापार और भार की विशाल सम्पत्ति में हिस्सा चाहते थे। जिसका अभी तक कम्पनी और उसके सेवक ही उपयोग कर रहे थे। इसलिए इस व्यापार पर कम्पनी के एकाधिकार को तोड़ने के लिए अत्यधिक कोशिश की तथा बंगाल में कम्पनी के शासन पर हमला किया। इन अधिकारियों का 'नवाब' कहकर मजाक बनाया। 1767 ई० में संसद ने एक कानून बनाकर कम्पनी के लिए ब्रिटिश खजाने में प्रति 4 वर्ष में चार लाख पौंड देना अनिवार्य बना दिया।

इस तरह ब्रिटिश राज्य तथा कम्पनी अधिकारियों के पारस्परिक सम्बन्धों का पुनर्गठन आवश्यक हो गया। जहाँ कम्पनी के अनेक शक्तिशाली शत्रु थे तो वहीं शक्तिशाली मित्र जैसे मित्र सम्राट जार्ज तृतीय उसके संरक्षक भी थे। यह तय किया गया कि कम्पनी के भारतीय प्रशासन की बुनियादी नीतियों पर ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण रहेगा ताकि भारत में ब्रिटिश शासन को ब्रिटेन के उच्च वर्गों के सामूहिक हित में चलाया जा सके। साथ ही पूर्व के साथ व्यापार पर कम्पनी का एकाधिकार बना रहेगा तथा भारत में अपने अधिकारी नियुक्त करने का उसका बहुमूल्यक हक भी उसी के हाथों में रहेगा।

3.3.2: रेग्यूलेटिंग एक्ट (1773–1784 ई०)

केंद्रीय नियंत्रण स्थापित करने हेतु कम्पनी व ब्रिटिश सरकार में संतुलन बनाने के लिए ब्रिटिश संसद ने एक प्रवर समिति और एक गुप्त समिति नियुक्त कर अन्त में महत्वपूर्ण विनियमन अधिनियम पारित किया। इसी अधिनियम ने स्वामी समिति के संगठन में परिवर्तन किया। पहले 500 पौंड के साझेदारों को मतदान का अधिकार प्राप्त था किन्तु अब 1000 पौंड के साझेदारों के भी मतदान अधिकार दिया गया। निदेशक समिति के संगठन में परिवर्तन कर समिति के सदस्यों की अवधि एक वर्ष से बढ़ाकर चार वर्ष कर दी गई तथा प्रत्येक वर्ष एक चौथाई सदस्यों के स्थान पर नए सदस्यों के निर्वाचन की व्यवस्था की गई। इस विनियमन अधिनियमन द्वारा भारत में केंद्रीय कार्यकारिणी का निर्माण किया गया। बंगाल का गवर्नर ब्रिटिश भारत का गवर्नर जनरल कहलाने लगा तथा मद्रास और बम्बई के गवर्नर उसके अधीन कर दिए गये। प्रथम गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स बनाए गए। गवर्नर जनरल को निर्णयात्मक मत देने का अधिकार तथा बंगाल, बिहार और उड़ीसा का शासन भार, राजस्व प्रबन्ध तथा सैनिक शक्ति गवर्नर जनरल तथा उसकी समिति को सौंप दिये गए। कलकत्ता में सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई। इसमें एक प्रधान न्यायाधीश तथा तीन सहायक न्यायाधीश थे।

यह अधिनियम 1784 ई० तक लागू रहा। किन्तु यह दोषपूर्ण व अनिर्णायक सिद्ध हुआ। गवर्नर जनरल और पार्षदों के बीच बराबर नोकझोंक व निदेशको में अनियंत्रण होने लगा।

3.3.3: पिट्स इण्डिया एक्ट (1784 ई०)

रेग्यूलेटिंग एक्टके दोषों तथा ब्रिटिश राजनीति के उतार-चढ़ाव के कारण 1784 ई० में एक और कानून बनाना पड़ा जिसे पिट्स इण्डिया एक्ट कहा जाता है। इस कानून के अनुसार भारत में शासन, सेना तथा राजस्व सम्बन्धी कार्यों पर नियंत्रण रखने के लिए 6 कमिश्नरों की एक समिति बनाई गई। जिसका नाम नियंत्रण समिति रख गया। इस कानून ने भारत के शासन को गवर्नर जनरल तथा तीन सदस्यों वाली एक कौंसिल के हाथों में दे दिया ताकि अगर एक का

समर्थन भी गर्वनर जनरल को प्राप्त हो तो वह अपनी बात को मनवा सकें। इसे कानून ने बम्बई और मद्रास प्रेसिडेंसियों को युद्ध, कूटनीति और राजस्व मामलों में स्पष्ट बंगाल के अधीन कर दिया तथा इसी कानून के साथ ईस्ट इण्डिया कम्पनी ब्रिटेन की राष्ट्रीय नीति का एक साधन बन गई। भारत में ब्रिटिश अधिकारियों को नियुक्त करने तथा सेवा मुक्त करने का लाभदायी अधिकार डायरेक्टरों के हाथों में बना रहा।

3.3.4: अन्य एक्ट

पिट्स के इण्डिया एक्ट ने यह सामान्य ढांचा तो निर्धारित कर दिया जिसमें भारत की सरकार 1857 ई0 तक चलाई गई, पर बाद में कानूनों में अनेक ऐसे महत्वपूर्ण परिवर्तन किए जिनसे कम्पनी की शक्तियों और विशेषाधिकारों में धीरे-धीरे कमी आई। 1776 ई0 में गर्वनर जनरल को यह अधिकार दे दिया गया कि वह भारतीय साम्राज्य की शांति, सुरक्षा या उसके हितों को प्रभावित करने वाले महत्वपूर्ण प्रश्नों पर अपनी राय ठुकरा सके।

1793 ई0 में चार्टर एक्ट द्वारा भारत का गर्वनर जनरल स्वयं मद्रास और बम्बई जाकर बंगाल के गर्वनर जनरल की तरह अपने अधिकारों का प्रयोग कर सकता था। 1813 ई0 चार्टर एक्ट ने भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार का उन्मूलन कर दिया तथा इसके प्रदेशों पर सम्राट का नियंत्रण स्थापित किया। 1833 ई0 के चार्टर एक्टके तहत कम्पनी की व्यापारिक गतिविधियां उन्मूलित होकर सीधे सम्राट के अधीन एक प्रशासनिक निकाय बन गयी। अब कानून बनाने का अधिकार गर्वनर व उसकी परिषद को था। 1853 ई0 चार्टर एक्टके तहत निदेशकों की संख्या घटाकर 18 की दी गयी। इसमें पहले तो तीन बाद में छः की नियुक्ति सम्राट द्वारा होती थी। लोकसेवा में बहाली के लिए उसकी प्रतियोगिता परीक्षा का आयोजन किया जाने लगा। केंद्रीय तथा प्रांतीय पार्षदों की नियुक्ति में सम्राट की अनुमति आवश्यक कर दी गई।

भारत सरकार के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन इसके विधायी कार्य में किया गया। गर्वनर जनरल की सहमति के बिना कोई कानून पारित नहीं हो सकता था। विधि निर्माण के उद्देश्य से परिषद का विस्तार किया गया। इसमें 6 और सदस्य नियुक्त किए गए जो विधि पार्षद कहलाते थे। इसमें चार प्रांतीय सरकार (बंगाल, बम्बई, मद्रास और पश्चिमोत्तर प्रांत) के मनोनीत सदस्य मुख्य न्यायाधीश और सर्वोच्च न्यायालय का एक सहायक न्यायाधीश होता था। भारतीय कानूनों के संहिताकरण के लिए लंदन में एक विधि आयोग की स्थापना की गई। इसने दंड संहिता, फौजदारी व्यवहार संहिता और दीवानी व्यवहार संहिता का निर्माण किया।

इस प्रकार विभिन्न चार्टर अधिनियमों द्वारा नार्थ के विनियमन अधिनियम और पिट्स इण्डिया एक्टका विस्तार किया गया। जिसका मुख्य उद्देश्य सत्ता का हस्तान्तरण कम्पनी से सम्राट के अधीन करना था। 1857 ई0 की क्रांति ने कम्पनी शासन को अवश्यम्भावी कर दिया। 1858 ई0 में ब्रिटिश संसद में भारत के लिए बेहतर शासन का विधेयक पारित किया गया। जिसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का अन्त कर दिया।

3.4 प्रांतीय प्रशासन

3.4.1: द्वैध शासन

प्रांतीय प्रशासन 1765 ई0 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त हो गई। किन्तु 1772 ई0 तक राजस्व वसूली का भार दो नाइब दीवान बंगाल में रजा खाँ और बिहार में सितान राम को दिया गया। जो राजस्व वसूली होती थी उसमें कम्पनी 26 लाख रूपए मुगल सम्राट शाहआलम और 32 लाख रूपए बंगाल के नवाब को देती थी।

बंगाल का नवाब इसी से प्रशासन और अपना खर्च चलाता था इस शासन को द्वैध शासन कहा गया जिसकी स्थापना रार्बर्ट क्लाइव ने की।

यह शासन कम्पनी और बंगाल के लोगों हेतु बड़ा विपत्तिजनक साबित हुआ। कम्पनी के नौकर और नाइब दीवान मालामाल हो गए। कम्पनी के अधिकारी द्वैध शासन के दोषों से परिचित थे तथा 1772 ई० में उन्होंने वारेन हेस्टिंग्स को बंगाल का गर्वनर जनरल नियुक्त किया तथा प्रशासन में सुधार लाने के पूर्ण अधिकार दिए गए। हेस्टिंग्स ने द्वैध शासन का उन्मूलन किया। अब कम्पनी दीवान का काम स्वयं करने लगी। अपने कर्मचारियों द्वारा राजसव की वसूली करने लगी। हेस्टिंग्स ने दीवान के पदों का उन्मूलन कर दिया। नवाब को दी जाने वाली वार्षिक धनराशि 26 लाख रूपए से घटाकर 16 लाख कर दी। इन सब कारणों से नवाब के हाथ से सत्ता निकलकर कम्पनी के हाथों में आ गई। अब मुर्शिदाबाद के स्थान पर कलकत्ता प्रशासन का केंद्र बन गया।

हेस्टिंग्स प्रशासनिक पद्धति के निर्माण में जुट गया। यह कार्य कठिन था क्योंकि अभी तक कम्पनी की प्रशासनिक मशीनरी केवल व्यापारिक कार्य के लिए थी। अब इसका समायोजन बिल्कुल एक भिन्न उद्देश्य के लिए था। लोगों की भाषा उनके कानून और रीति-रिवाज से भी अंग्रेज परिचित नहीं थे। बीस वर्षों (1772-1793ई०) तक कम्पनी अधिकारी विभिन्न प्रशासनिक प्रणालियों के निर्माण में लगे रहे। अनेक प्रयोगों के बाद कुछ निश्चित प्रशासनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया। जिनसे आंग्ल-भारतीय प्रशासन की ठोस नींव रखी गई।

3.4: राजस्व प्रशासन

राजस्व के मुख्य स्रोत का (क) भू-राजस्व (ख) नमक और अफीम व्यापार का एकाधिकार एवं (ग) सीमा शुल्क, चुंगी उत्पाद इत्यादि थे। इनमें से भू-राजस्व बड़ा महत्वपूर्ण था। 1792 ई० तक दो नाइब दीवान भू-राजस्व वसूल करते थे। 1772 ई० में इन पदों का उन्मूलन कर एक राजस्व पार्षद का गठन किया। भूमि की सार्वजनिक नीलामी होने लगी और भू-राजस्व का निर्धारण पाँच वर्ष के लिए किया जाने लगा। प्रत्येक जिले में एक अंग्रेज कलेक्टर और एक भारतीय दीवान की नियुक्ति हुई जो राजस्व प्रशासन का पर्यवेक्षण करते थे।

राजस्व वसूली की यह पद्धति दोषपूर्ण थी। नीलामी के वक्त सिद्धांतहीन सट्टेबाजी ऊँची बोली द्वारा जमींदारों को राजस्व वसूली के काम से छुट्टी दे देता था। वसूली निर्ममतापूर्वक करता तथा रैयतों को तरह-तरह की पीड़ा देता था। 1790 ई० तक भू-राजस्व का एक वर्षीय प्रबन्ध बना रहा। यह एक अस्थायी व्यवस्था थी। इस सम्बन्ध में भूमि स्वामित्व के प्रश्न में समस्या जटिल हो गई। इस सम्बन्ध में अंग्रेजों ने निम्न नीतियाँ लागू की जिससे उनका शासन में स्पष्ट प्रभाव बने रहे।

3.5.1: मालगुजारी की नीति

आयात के लिए भारतीय दस्तकारों के तथा दूसरे माल खरीदने, पूरे भारत का विजय खर्च उठाने, ब्रिटिश शासन को मजबूत करने तथा आवश्यक आर्थिक और प्रशासकीय खर्च उठाने के लिए कम्पनी को भारतीय राजस्व की आवश्यकता थी। इसका अर्थ था कि भारतीय किसानों के लिए करों के बोझ में भारी बढ़ोत्तरी। एक लम्बे समय से भारत के शासक खेतिहर पैदावार का एक भाग जमीन की मालगुजारी के रूप में लेते आए थे। यह या तो कर्मचारियों की सहायता से सीधे-सीधे ली जाती थी या अप्रत्यक्ष रूप से बिचौलियों जैसे जमींदारों, मालगुजारों आदि के

माध्यम से ली जाती थी। ये लोग काश्तकार से मालगुजारी वसूल करते और उसका एक भाग अपने कमीशन के रूप में रख लेते थे।

3.5.2: इस्तमरारी/स्थायी बंदोबस्त

1765 ई0 में बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त कर ली थी। आरम्भ में उसने इस पुरानी प्रणाली को जारी रखने का प्रयास किया हालांकि जमा की जाने की रकम बढ़ा दी थी। यह वही समय था जब स्थायी रूप से मालगुजारी की एक निश्चित रकम निर्धारित करने का विचार सामने आया। लम्बे समय बाद लॉर्ड कॉर्नवालिस ने 1793 ई0 में बंगाल और बिहार में इस्तमरारी बंदोबस्त की प्रथा का प्रारम्भ किया। इसकी दो विशेषताएँ थीं। पहली, जमींदार और मालगुजार भूस्वामी बन गये। उन्हें अब रैय्यतों से मालगुजारी की वसूली के लिए सरकार के ऐजेंट का ही काम नहीं करना था बल्कि अब वे अपनी जमींदारी के इलाके की सारी जमीन के मालिक बन गए। वास्तव में बंगाल तथा बिहार के बटाईदारों को अब पूरी तरह जमींदारों की दया पर छोड़ दिया गया। ऐसा करने का कारण यह था कि जमींदार कम्पनी की मालगुजारी सम्बन्धी बेहिसाब माँगों समय पर पूरी कर सकें। दूसरे, जमींदारों को किसानों से मिलने वाले लगान का 10/11 भाग राज्य को देना पड़ता था और वे केवल 1/11 भाग आने पास रख सकते थे। लेकिन मालगुजारी की जो रकम उन्हें देनी थी, वह हमेशा के लिए निश्चित कर दी गई थी। ऐसा नहीं करने पर उनकी जमीनें बेच दी जाती थी।

आरम्भ में मालगुजारी की रकमों का निर्धारण मनमाने ढंग से और जमींदारों से परामर्श के बिना किया गया। इसके पीछे अधिकारियों का उद्देश्य अधिकतम धन कमाना था। 1765 ई0—1766 ई0 और 1793 ई0 के बीच मालगुजारी सम्बन्धी मांग लगभग दुगुनी होने से एक परिणाम हुआ कि 1794 ई0 और 1807 ई0 के बीच जमींदारों की लगभग आधी जमीन बेच दी गई।

बाद में अधिकारी और गैर अधिकारी सभी ने आमतौर पर यह माना कि 1793 ई0 के पहले बंगाल और बिहार के जमींदारों के पास जमीन के अधिकांश भाग पर मालिकाना हक नहीं था। तब प्रश्न यह उठता है कि फिर अंग्रेजों ने उन्हें मालिकों के रूप में क्यों स्वीकार किया। इस पर इतिहासकारों का विचार है कि जमींदारों को जमीनों के मालिक मानने का निर्णय मूलतः राजनीतिक, आर्थिक, वित्तीय और प्रशासकीय कारणों से प्रेरित था। इसके तीन कारण थे। पहला कारण, चतुराई भरी राजविद्या अर्थात् अंग्रेज अधिकारी यह बात समझ रहे थे कि वह भारत में विदेशी हैं इसलिए उनका शासन तब तक अस्थायित्व का मारा रहेगा जब तक कि वे अपने और भारतीय जनता के बीच मध्यस्थों का काम करने वाले स्थानीय समर्थकों का सहारा नहीं लेते। वास्तव में, यह सही साबित हुई क्योंकि स्वाधीनता के उभरते हुए आंदोलन का विरोध करते हुए जमींदारों ने एक वर्ग के रूप में विदेशी सरकार का समर्थन किया। दूसरा विचार वित्तीय सुरक्षा का था। इस्तमरारी बंदोबस्त के कारण एक स्थायी आय की जमानत मिल गई। इसने कम्पनी की आय को बहुत अधिक बढ़ा दिया। क्योंकि अब मालगुजारी की ऐसी दरें निर्धारित की गईं जैसी दरें पहले कभी नहीं थीं। तीसरा आशा की गई कि इस्तमरारी बंदोबस्त के कारण खेतिहर उत्पादन बढ़ा सकेगा। चूंकि यह तय था कि जमींदार की आय बढ़ने पर भी भविष्य में मालगुजारी नहीं बढ़ाई जाएगी। इसलिए जमींदारों को इस बात की प्रेरणा मिली कि वे खेती का क्षेत्रफल ब्रिटेन के भू-स्वामी की तरह बढ़ा रहे थे। पूरे भारत में एक अन्य प्रकार का जमींदार वर्ग पैदा हुआ।

3.5.3: रैय्यतवड़ी व्यवस्था

हेस्टिंग्स के सलाहकार टामस मुनरो की सलाह में 1820 ई० में यह व्यवस्था लागू हुई। दक्षिणी और दक्षिण पश्चिमी भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना से जमीन के बंदोबस्त की नई समस्याएँ उठीं। अधिकारियों का मत था कि इन क्षेत्रों में बड़ी जागीरों वाले वह जमींदार नहीं हैं। जिनके साथ मालगुजारी के बंदोबस्त किए जा सकें। रीड और मुनरो के नेतृत्व में मद्रास के अनेक अधिकारियों ने यह सिफारिश की कि सीधे वास्तविक काश्तकारों के साथ बंदोबस्त किया जाए। रैय्यतवारी की इस प्रथा में काश्तकार जमीन के जिस टुकड़े को जोतता था। उसका मालिक मान लिया जाता था। शर्त थी कि वह उस जमीन की मालगुजारी देता रहे। रैय्यतवारी बंदोबस्त ने कृषक स्वामित्व की किसी प्रथा को जन्म नहीं दिया। किसानों ने भी जल्द ही देख लिया कि अनेक जमींदारों की जगह एक दानवाकर जमींदार अर्थात् राज्य ने ली है। वे सरकार की बटाईदार मात्र हैं। मालगुजारी ना देने पर उनकी जमीनें बेच दी जाएंगी। वास्तव में सरकार ने आगे चलकर मालगुजारी को कोई कर न होकर लगाने का दावा किया। जमीन पर रैय्यत के मालिकाना हक को तीन अन्य कारणों ने भी समाप्त किया। अधिकांश क्षेत्रों में मालगुजारी अधिक थी। सरकार ने जब जी चाहे मालगुजारी बढ़ाने का अधिकार अपने हाथ में रखा। अगर रैय्यत की फसल सूखी या बाढ़ से थोड़ी बहुत या पूरी तरह नष्ट हो जाए तो भी उसे मालगुजारी देनी पड़ती थी।

3.5.4: महालवारी प्रथा

गंगा के दोआब में पश्चिमोत्तर प्रांत में मध्य भारत के कुछ भागों में और पंजाब में जमींदारी प्रथा का एक संशोधित रूप लागू किया गया जिसे महालवारी प्रथा कहा जाता है। इस व्यवस्था में मालगुजारी का बंदोबस्त अलग-अलग गांवों या जागीरों (महलों) के आधार पर उन जमींदारों या उन परिवारों के मुखिया के साथ किया गया जो सामूहिक रूप से गांव या महल का भू-स्वामी होने का दावा करते थे। महालवारी क्षेत्रों में भी मालगुजारी का समय-समय पर पुननिर्धारण किया जाता था।

जमींदारी तथा रैय्यतवारी दोनों प्रथाएं देश की परम्परागत भूमि प्रथाओं से मूलतः भिन्न थीं। पूरे देश में अब भूमि को बेचने, गिरवी रखने और हस्तांतरित की जा सकने वाली वस्तु बना दिया गया। ऐसा नहीं करने पर सरकार के लिए काश्तकार से मालगुजारी वसूल कर सकना बहुत कठिन होता क्योंकि काश्तकार के पास रकम अदा करने के लिए कोई बचत या कोई वस्तु होती थी। जमीन को आसानी से खरीदा और बेचा जा सकने वाला एक माल बनाकर अंग्रेजों ने देश में प्रचलित भूमि-प्रथाओं में एक बुनियादी परिवर्तन कर दिया। भारतीय ग्रामों का स्थायित्व और उनकी निरंतरता का ढांचा चरमरा उठा।

3.6: ब्रिटिश भारत में प्रशासनिक गठन

यह विदित है कि 1784 ई० तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भारतीय प्रशासन को अपने नियंत्रण में ले लिया था और उसका राजस्व प्रशासन ब्रिटिश आवश्यकताओं को लेकर निर्धारित किया गया था। अब कम्पनी ने अपने नव प्राप्त उपनिवेश की शासन व्यवस्था को पुराने तौर तरीकों से नहीं चलाना था, इस प्रकार वह एक ऐसे संगठन का निर्माण चाहती थी। जिससे उपनिवेश की शासन व्यवस्था का संचालन हो। नए क्षेत्रों में सत्ता का विस्तार, नयी समस्याएँ

तथा आवश्यकताएँ, नए अनुभवों और विचारों के फलस्वरूप उन्नीसवीं सदी में प्रशासनिक व्यवस्था में अधिक परिवर्तन हुए किन्तु इस दौरान साम्राज्यवाद के व्यापक उद्देश्यों को नहीं भुलाया गया।

भारत में ब्रिटिश प्रशासन तीन खम्भों पर टिका हुआ था। वे नागरिक सेवा (सिविल सर्विस), सेना और पुलिस थे। ब्रिटिश भारत के प्रशासन का मुख्य लक्ष्य कानून और व्यवस्था को बनाए रखना तथा ब्रिटिश शासन को स्थायी बनाना था। उन्होंने भारत में अपना नियंत्रण बनाए रखने के लिए जन समर्थन के बदले शक्ति का सहारा लिया।

3.6.1: नागरिक सेवा

नागरिक सेवा का जन्मदाता लॉर्ड कार्नवालिस था। वह 1786 ई0 में भारत का गर्वनर जनरल बनकर आया और उसने महसूस किया कि, कम्पनी कर्मचारी तब तक ईमानदारी और कुशलतापूर्वक काम नहीं कर सकते थे जब तक कि पर्याप्त वेतन नहीं मिलता। इसलिए उसने निजी व्यापार तथा अफसरों द्वारा नजराने के खिलाफ सख्त कानून बनाए। साथ ही कर्मचारियों के वेतन भी बढ़ाए। उसने यह भी निर्धारित किया कि नागरिक सेवा में पदोन्नति वरिष्ठता के आधार पर होगी। जिससे उसके सदस्य बाहरी प्रभाव से मुक्त रहें। लार्ड वेलेजली ने नागरिक सेवा में आने वाले युवा लोगों के प्रशिक्षण के लिए कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज खोला। 1853 ई0 तक नागरिक सेवा में सारी नियुक्तियाँ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के निदेशक करते रहे। किन्तु इस विशेषाधिकार की समाप्ति 1853 ई0 के चार्टर एक्ट में खो बैठे। अब यह प्रतियोगी परीक्षाओं के द्वारा नियुक्ति का कानून बना दिया गया।

कार्नवालिस के जमाने से ही भारतीय नागरिक सेवा की एक खास विशेषता थी। भारतीयों को बड़ी सख्ती से पूरी तरह अलग रखना। 1793 ई0 में यह व्यवस्था की गई थी कि प्रशासन में 500 पौंड सालाना से अधिक वेतन के पद में केवल अंग्रेज ही नियुक्त हो सकते हैं। अंग्रेजों की नीति का अनुसरण क्यों किया ? इसके पीछे कई कारक थे। सर्वप्रथम उन्हें विश्वास था कि ब्रिटिश विचारों, संस्थानों और व्यवहारों पर आधारित कोई भी प्रशासन केवल अंग्रेज कार्यकर्ताओं द्वारा ही स्थापित किया जा सकता है। वस्तुतः इन नियुक्तियों को करने के अधिकार को लेकर कम्पनी और ब्रिटिश मंत्रिमण्डल के बीच बहुत विवाद भी हुए। ऐसी स्थिति में अंग्रेज भारतवासियों को इन जगह पर कैसे आने देते। मगर छोटे पदों के लिए भारतवासियों को बड़ी संख्या में भर्ती किया गया क्योंकि वे अंग्रेजों की अपेक्षा कम वेतन पर तथा आसानी से उपलब्ध थे।

इस प्रकार भारतीय सेवा (इंडियन सिविल सर्विस) धीरे-धीरे दुनिया की एक अत्यंत कुशल और शक्तिशाली सेवा के रूप में विकसित हो गई। इसके सदस्यों को यह विश्वास हो गया कि भारत में शासन का उन्हें दैवीय अधिकार मिल गया है। इस सेवा को बहुधा "इस्पात का चौखता" कहा गया है जिसके भारत में ब्रिटिश शासन का पोषण किया और लम्बी अवधि तक बनाए रखा। कालक्रम से भारतीय जीवन में जो कुछ भी प्रगतिशील और उन्नत बातें थी। उनकी यह विरोधी बन गई और इस प्रकार वह उदीयमान भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के हमले का निशाना बनी।

3.6.2 सेना

भारत में ब्रिटिश राज के दूसरे महत्वपूर्ण स्तम्भ के रूप में सेना थी। अंग्रेजी भारतीय सेना का निर्माण 1748 ई0 में आरम्भ हुआ। उस समय मेजर स्ट्रिंजर लॉरेंस ने मद्रास में भारतीय सैनिकों की एक छोटी टुकड़ी का निर्माण किया। इसी कारण मेजर स्ट्रिंजर लॉरेंस ने अंग्रेजी भारतीय सेना का भी विस्तार किया। इस सेना में तीन प्रकार के सैनिक थे—

(1) अंग्रेज सैनिक (2) भारतीय सैनिक (3) बादशाह सैनिक। पहले दो प्रकार के सैनिक कम्पनी द्वारा भर्ती होते थे। तीसरा प्रकार 'ब्रिटिश क्राउन' द्वारा भर्ती होता था। प्रारम्भ में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास की अंग्रेज सरकारों की सेनाएं पृथक थी। प्रत्येक का कमाण्डर-ए-चीफ एक-दूसरे से पृथक और स्वतंत्र होता था। परन्तु बाद में बंगाल की सेना केंद्रीय सरकार की सेना मानी गयी तथा उसका कमाण्ड-इन-चीफ भारत की अंग्रेजी सेना का प्रधान हो गया।

अंग्रेजों ने प्रारम्भ से ही भारतीय और अंग्रेजी सेना में भेद किया। उनकी तनख्वाहों, भत्तों, सुविधाओं में काफी अंतर था। एक भारतीय को इस सेना से ऊँचा प्राप्त होने वाला पद सूबेदार का था। 1857 ई० के विद्रोह की असफलता के उपरांत सेना में अंग्रेज पदाधिकारियों की संख्या में वृद्धि की गयी। बंगाल की सेना में यह अनुपात 2:1 का रखा गया अर्थात् प्रत्येक दो भारतीय सैनिकों के अनुपात में एक अंग्रेज सैनिक अवश्य रखा गया। बम्बई और मद्रास में यह 5:2 रखा गया। श्रेष्ठ शस्त्र जैसे तोपखाना और 20 वीं सदी में टैंक अंग्रेजों के लिए सुरक्षित किया गया। विद्रोह के पश्चात् आपस में विभाजित करके संतुलन बनाये रखने की नीति का पालन किया गया। इसके लिए सैनिकों की भर्ती जाति क्षेत्र और धर्म के भेदों के आधार पर की गयी और इसे बढ़ावा दिया गया। यह सब कुछ इसलिए किया गया ताकि भारतीय सेना अंग्रेजी सेना की सेवा निष्ठापूर्वक करें, विरोध न करें। लार्ड कर्जन के समय में किचनर परीक्षा को सैनिक प्रशिक्षण में शामिल कर सेना की युद्ध क्षमता को बढ़ाया गया।

भारतीय सेना एक श्रेष्ठ सेना सिद्ध हुई। इस सेना ने वफादारी से अपने देश व विदेश में भी अंग्रेजों के हितों हेतु संघर्ष किया। भारत को स्वतंत्रता प्राप्त होने में अंग्रेजों द्वारा भारतीय सेना की वफादारी खो देना भी एक प्रमुख कारण था। आजाद हिन्द फौज का अंग्रेजों से संघर्ष और 1946 ई० में भारतीय नौ सेना के विद्रोह ने अंग्रेजों को सबक दिया था कि अब वे भारतीय सेना की वफादारी पर निर्भर नहीं रह सकते थे। जो भारत में उनके शासन की सुरक्षा का मुख्य आधार थी। भारतीय सैनिकों के अपने विदेशी मालिकों के प्रति अधिक वफादार बने रहने के विभिन्न कारण थे। प्रथम राष्ट्रीयता का अभाव था। यह देश हमारा है जो विदेशियों का गुलाम है। यह विचार भारतीय सैनिकों में स्वतंत्रता प्राप्ति तक भी पूर्णतः नहीं आ पाया था। द्वितीय भारतीय सैनिकों की सांस्कृतिक परम्परा यह रही थी कि जो उनको वेतन देता है उसके प्रति वफादार रहना उनका कर्तव्य है, इस कारण भारतीय सैनिकों का आदर्श 'नमक हराम' होने का नहीं अपितु 'नमक हलाल' होने का रहा। भारतीय सैनिकों की इस सरल प्रकृति का अंग्रेजों ने भरपूर लाभ उठाया।

3.6.3 पुलिस व्यवस्था

सर्वप्रथम वारेन हेस्टिंग्स ने फौजीदारी और थानेदारों की नियुक्ति करके पुलिस व्यवस्था को आरम्भ करने का प्रयत्न किया। किन्तु 1781 ई० में उसने इस विचार को त्याग दिया। परन्तु उत्तराधिकारी गर्वनर जनरल कार्नवालिस ने जमींदारों को पुलिस के अधिकारों एवं उत्तरदायित्वों से मुक्त करा दिया और एक पृथक पुलिस विभाग की स्थापना की और उनकी सहायता के लिए प्रत्येक थाने में 15 से 20 सिपाहियों की नियुक्ति भी की। दरोगाओं की नियुक्ति जिलाधीशों को नियंत्रण में रखा गया। लेकिन कार्नवालिस के ये प्रयत्न शांति तथा व्यवस्था बनाये रखने में असफल हुए। इसका मुख्य कारण यह रहा कि दरोगा अधिकांशतः भ्रष्टाचारी सिद्ध हुए और पुलिसकर्मियों की संख्या बहुत कम रही। पुलिस व्यवस्था को सर्वप्रथम 1843 ई० में सिंध में सर चार्ल्स नैपियर ने स्थापित किया। उसने मजिस्ट्रेटों और पुलिस सुपरिन्टेंडेंट के कार्यों को

अलग-अलग किया। लार्ड कर्जन के समय में भी 1902 ई० एण्ड्रयूज फ्रेजर की अध्यक्षता में एक पुलिस आयोग की नियुक्ति की। गुप्तचर व्यवस्था (सी०आई०डी०) कर पहली बार स्थापना की गयी। 1903 ई० में पुलिस आयोग ने अपनी रिपोर्ट दी और सिफारिश की पुलिस के उच्च अधिकारियों की भर्ती प्रत्यक्ष हो सिपाहियों और अफसरों की पर्याप्त शिक्षा के लिए विशेष प्रकार के प्रशिक्षण स्कूल खोले जायें। प्रांतीय पुलिस की संख्या बढ़ायी जाए, लार्ड कर्जन ने इन सभी सिफारिशों को स्वीकार किया।

भारतीय पुलिस की भूमिका जनसाधारण के जीवन और सम्मान की सुरक्षा करने में प्रायः नगण्य रही। उसका मुख्य कार्य ब्रिटिश की सेवा करना रहा और इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व उसका मुख्य कार्य स्वतंत्रता-आंदोलन को दबाना ही रहा।

3.6.4 न्यायिक प्रशासन

दीवानी और फौजदारी कचहरियों के श्रेणीबद्ध संगठन के जरिए न्याय प्रदान करने की एक नई व्यवस्था हेतु नींव अंग्रेजों ने रखी। इस व्यवस्था को वारेन हेस्टिंग्स ने आरम्भ किया मगर कार्नवालिस ने 1793 ई० में इसे और सुदृढ़ बनाया। हर जिले में एक दीवानी अदालत कायम की गई। जिसका प्रमुख जिला जज होता था जो नागरिक सेवा का सदस्य होता था। जिला अदालतों के फैसले के खिलाफ अपील पहले दीवानी अपील की चार प्रांतीय अदालतों में हो सकती थी तथा आखिरी सुनवाई सदर दीवानी अदालत ही कर सकती थी। फौजदारी मुकदमों का निपटारा करने के लिए कार्नवालिस ने बंगाल में प्रेसिडेंसी को चार डिविजनों में बांट दिया। उसने उनमें से हर एक में एक क्षेत्रीय न्यायालय (कार्ट ऑफ सर्किट) स्थापित किया। जिनके प्रधान नागरिक सेवा के लोग होते थे। फौजदारी अदालतों ने मुस्लिम फौजदारी कानून को संशोधित किया और कम सख्त रूप से लागू किया। जिससे शरीर के अंगों को काटने या इस प्रकार की अन्य सजाएं देने की मनाही कर दी गई।

अधिनियम तथा पुराने कानूनों को संहिताबद्ध करने की प्रक्रियाओं के द्वारा अंग्रेजों ने कानूनों की एक नई प्रणाली लागू की। उन्होंने रेग्युलेशन लागू किए। तत्कालीन कानूनों को संहिताबद्ध किया और उन्हें बहुधा न्यायिक व्याख्याओं द्वारा व्यवस्थित कर आधुनिक बनाया। 1833 ई० के चार्टर एक्ट के कानून बनाने के सारे अख्तियार काउंसिल की सहमति से गर्वनर जनरल को दे दिए। इन सबका अर्थ था कि अब भारतीय उत्तरोत्तर मानव-निर्मित कानूनों के तहत रहेंगे जो अच्छे-बुरे कुछ भी हो सकते हैं।

3.6.5 कानून का शासन

अंग्रेजों ने कानून के शासन की आधुनिक अवधारणा को लागू किया। इसका तात्पर्य था कि उनका प्रशासन कम से कम सैद्धांतिक रूप से कानूनों के अनुसार बनाया जाएगा न कि शासक की सनक या व्यक्तिगत इच्छा के अनुसार, बेशक व्यवहार में अफसरशाही और पुलिस मनमानी अख्तियार थे और उन्होंने जनता के अधिकारों और स्वतंत्रताओं में हस्तक्षेप किया। कानून का शासन कुछ हद तक व्यक्ति-व्यक्तिगत स्वतंत्रता की गारंटी थी। यह उचित है कि भारत के पिछले शासक आमतौर से रीति-रिवाज से बंधे होते थे। दूसरी ओर ब्रिटिश शासन के अंतर्गत प्रशासन मुख्य रूप से कानूनों के आधार पर न्यायालयों द्वारा उनकी की गई व्याख्या के अनुसार चलाया जाता था। मगर एक विदेशी राज के अंतर्गत यह अवश्यम्भावी था, विदेशी स्वभावतः लोकतांत्रिक या स्वतंत्रवादी नहीं हो सकता।

3.6.6 कानून के सम्मुख समानता

इसका अर्थ कानून की निगाहों में सारे मनुष्य बराबर हैं। पहले न्यायप्रणाली जाति के भेदभावों का ख्याल करती थी। एक ही अपराध के लिए एक गैर-ब्राह्मण की अपेक्षा एक ब्राह्मण को हल्का दंड दिया जाता था। इसी प्रकार जमींदारों व सामंतों को आम आदमी के मुकाबले कम दंड दिया जाता था। किन्तु अब दीन-हीन लोग भी न्यायालय जा सकते थे।

मगर कानून के सम्मुख समानता का एक अपवाद भी था। अपवाद यह था कि यूरोपवासियों और उनके वंशजों के लिए अलग-अलग अंग्रेज अधिकारियों, सैनिक अधिकारियों ने भारतीयों के साथ अहंकारी क्रूर व्यवहार किया लेकिन उनके खिलाफ मुकदमों के अप्रत्यक्ष और अनुचित संरक्षण दिया गया।

व्यवहार में एक अन्य प्रकार की कानूनी समानता उभर कर आई। न्याय काफी महंगा हो गया क्योंकि कोर्ट फीस का भुगतान तथा वकील करने पड़ते थे तथा गवाहों के खर्च को पूर्ण करना होता था। इसके विपरीत अंग्रेजी राज्य के पहले की न्याय प्रणाली प्रगतिशील थी। कानून के समक्ष समानता के प्रशासकीय सिद्धांतों, विवेकपूर्ण और मानवोचित मानव निर्मित कानूनों पर आधारित थी तथापि वह कुछ अन्य दृष्टियों से खराब भी उतनी ही थी। वस्तुतः विदेशियों के शासन में देशियों को उचित न्याय मिलना आसान नहीं था।

3.7 1858 ई0 के बाद प्रशासनिक परिवर्तन

1857 ई0 के विद्रोह ने भारत में ब्रिटिश प्रशासन को गहरा धक्का दिया और उनका पुनर्गठन अनिवार्य बना दिया। 19 वीं सदी के उत्तरार्द्ध में औद्योगिक क्रांति का प्रसार उपनिवेशों और अर्धउपनिवेशों के लिए प्रतियोगिता कड़ी व तीखी हो गई। क्योंकि नई औपनिवेशिक विजयों के क्षेत्र कम होते गए। ब्रिटेन को अब विश्व पूंजीवाद में अपनी प्रमुख स्थिति कायम करने के लिए सामना करना पड़ा रहा था। 1850 ई0 के बाद रेलवे हेतु भारत सरकार को दिए गए ऋणों के रूप में बहुत अधिक ब्रिटिश पूंजी लगी थी। इस ब्रिटिश पूंजी को आर्थिक और राजनीतिक खतरों से सुरक्षित बनाने के लिए आवश्यक था कि भारत में ब्रिटिश शासन को और ठोस बनाया जाए, परिणामस्वरूप साम्राज्यवादी नियंत्रण को अधिक सख्त बनाया गया जिससे कि साम्राज्यवादी विचारधारा भी मजबूती से स्थापित हो सके।

1858 ई0 में ब्रिटिश संसद द्वारा पारित एक कानून ने शासन का अधिकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी से लेकर ब्रिटिश सम्राट को दे दिया। अब सत्ता डायरेक्टरों और बोर्ड ऑफ स्टेट को दे दिया गया तथा उसकी सहायता हेतु काउंसिल नियुक्त कर दी गई। 1861 ई0 में इंडियन काउंसिल एक्ट में गर्वनर जनरल की काउंसिल बनाने के लिए उसे इंपीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल नाम दिया गया। यह मात्र एक सलाहकार समिति थी। इसका कार्यकारिणी में कोई नियंत्रण नहीं था। इसमें भारतीय सदस्यों की संख्या कम थी। वे भी भारतीय जनता द्वारा निर्वाचित न होकर गर्वनर द्वारा नामजद होते थे।

1892 ई0 के इण्डिया काउंसिल एक्ट द्वारा केन्द्र और प्रांतों की व्यवस्थापिका-सभाओं के सदस्यों की संख्या में कुछ वृद्धि की गई। उनकी योग्यता में कुछ कमी की गई जिससे मतदाताओं की संख्या में वृद्धि की गयी। 1909 ई0 के एक्ट द्वारा उदार निरंकुशता को पूर्णता प्रदान कर व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों में पुनः वृद्धि की गई। परन्तु इस कानून द्वारा की 'बाँटों राज करो की नीति' के परिपालन हेतु "पृथक निर्वाचन प्रणाली" को भारत में आरम्भ किया गया। सन् 1919 ई0 के भारत सरकार कानून की मुख्य विशेषता प्रांतों में द्वैध शासन की स्थापना

था। जिसके द्वारा केन्द्र और प्रांतों को अधिकारों अलग किया। तत्पश्चात् प्रांतीय विषयों को दो भागों में विभाजित किया—सुरक्षित तथा हस्तान्तरित। हस्तान्तरित को विभाजित करके उसके विषयों को शासन के लिए भारतीय मंत्रियों का दिया गया। 1935 ई० के भारत सरकार कानून द्वारा द्वैध शासन केंद्र पर स्थापित किया गया और प्रांतीय प्रशासन की स्थापना की गई। इस प्रकार 1947 ई० के भारतीय स्वतंत्रता कानून से पहले अंग्रेजों ने भारत में एक उत्तरदायी सरकार की स्थापना की थी परन्तु यह अंग्रेजों की मेहरबानी का परिणाम न होकर, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की प्रगति का परिणाम था।

3.8 प्रशासन सम्बन्धी नीतिया

भारत के प्रति अंग्रेजों का दृष्टिकोण तथा उनकी नीतिया 1857 ई० के विद्रोह उपरांत अत्यधिक दयनीय हो गयी। अब वे समझकर प्रतिक्रियावादी नीतिया अपनाते लगे। अंग्रेजों द्वारा निम्नलिखित नीतियां अपनाई गई—:

3.8.1: फूट डालो राज करो की नीति

1858 ई० के बाद उन्होंने जनता के खिलाफ राजाओं के, एक प्रांत को दूसरे प्रांत के खिलाफ एक जाति को दूसरी जाति के खिलाफ, सबसे अधिक मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दुओं को खड़ा करके इस नीति को जारी रखने का फैसला किया। 1870 ई० के बाद यह नीति उलट दी गई। उच्च और मध्यमवर्गीय मुसलमानों को राष्ट्रवादी आंदोलन के खिलाफ खड़ा करने की कोशिश की गई।

3.8.2: शिक्षित भारतीयों के प्रति शत्रुता

1857 के विद्रोह में शिक्षित भारतीयों के भाग लेने से इनकार करने पर अनेक अंग्रेज अधिकारियों ने उनकी प्रशंसा की थी। किन्तु यह दृष्टिकोण पल भर तक ही रहा। इसका कारण यह था कि उनमें अनेक लोग आधुनिक ज्ञान का उपयोग कर ब्रिटिश साम्राज्यवादी चरित्र का विश्लेषण कर रहे थे। इसलिए जब वह जनता को राष्ट्रवादी आंदोलन हेतु संगठित करने लगे और 1885 ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की तो अधिकारी उच्च शिक्षा के पक्के दुश्मन बन बैठे। ऐसी प्रगति ब्रिटिश साम्राज्यवाद के बुनियादी हितों के खिलाफ थी। इसलिए प्रेस एक्ट (1876 ई०) आदि भारत के विकास को रोकने हेतु लाया गया।

3.8.3: श्रम सम्बन्धी कानून

19 वीं सदी में आधुनिक कारखानों और बागानों के मजदूरों की हालत बहुत बुरी थी। प्रतिदिन 12 से 16 घंटों तक काम करना पड़ता और सप्ताह में एक दिन की छुट्टी भी न मिलती, मजदूरी प्रतिमाह 4 से 20 रूपया थी। कारखाने में लोगों की अधिकता, हवा की न्यूनता के कारण आए दिन दुर्घटनाएं होती रहती थी। ब्रिटेन के उद्योगपति भारत में मजदूरी कम होने के डर तथा भारतीय बाजारों में जल्द ही प्रतियोगिता के डर से, सरकार पर फैक्ट्री कानून बनाने का दबाव डाल रहे थे। 1881 ई० में प्रथम इण्डियन फैक्ट्री कानून बनाया गया। जिसके तहत 7 वर्ष से कम के बच्चों के न लेने, महीने की चार छुट्टियों, 7-12 वर्ष तक के बच्चों को प्रतिदिन 9 घंटे से अधिक काम न लेने का प्रावधान रखा गया। चाय व कॉफी बगानों के मजदूरों को कोई सहायता नहीं दी गई। भारत सरकार ने इनकी सहायता हेतु 1863, 1865, 1870, 1873, 1882 में दण्ड कानून बनाए। कोई मजदूर किसी भी काम के समझौते में दस्तखत के पश्चात् कार्य करने से मना नहीं कर सकता था।

इस प्रकार, सभी कानूनों के लचीलेपन के कारण औसतन मजदूरों को पूरा वस्त्र, भोजन तथा बुनियादी सुविधाएँ भी उपलब्ध नहीं होती थी।

3.9: निष्कर्ष

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अंग्रेजी प्रशासन का मुख्य लक्ष्य भारत में अधिकाधिक धन का दोहन करना था। वे प्रशासन को सुचारू रखकर और शान्ति का माहौल बनाए रखकर अपने हित की पूर्ति कर रहे थे। भारत में विशाल साम्राज्य विस्तार के पश्चात् प्रशासनिक और भू-लगान व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन किए गए। भारतीय नागरिकों पर पूरी तरह अंकुश रखा गया तथा उन्हें आर्थिक रूप से अपंग बना दिया गया। व्यापार एवं कुटीर उद्योग नष्ट हो गए। कारीगर, किसान, मजदूर एवं आम आदमी अकाल एवं भुखमरी का शिकार होता रहा परन्तु उनके कल्याण हेतु कोई कार्य नहीं किये गए। अतः अंग्रेजों की नीतियों ने भारतीयों को बाध्य किया कि वे समय-समय पर अपनी आवाज को प्रशासन तक पहुँचाने हेतु विद्रोह का सहारा लें। इसके लिए काफी हद तक अंग्रेजी प्रशासन की दोषपूर्ण नीतियाँ जिम्मेदारी थी।

3.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. अंग्रेजों के प्रशासनिक ढांचे पर एक उल्लेख लिखिए।
2. अंग्रेजों की भू-लगान व्यवस्था का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।
3. 1857 ई० के क्रान्ति के पश्चात् अंग्रेजी प्रशासनिक व्यवस्था में क्या परिवर्तन हुए।
4. अंग्रेजों द्वारा न्याय के क्षेत्र में क्या सुधार किये गए। उल्लेख कीजिए।
5. अंग्रेजों के शासन की दोषपूर्ण नीतियों का उल्लेख कीजिए।
6. ब्रिटिश प्रशासन साम्राज्यवादी व्यवस्था का पोषक था। वर्णन कीजिए।

3.11 सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. एल० पी० शर्मा—आधुनिक भारत
2. प्रताप सिंह— आधुनिक भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास
3. ए० के० मित्तल— आधुनिक भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास
4. मणिकांत सिंह—भारतीय इतिहास
5. दीनानाथ वर्मा—आधुनिक भारत
6. बी० एल० ग्रोवर— आधुनिक भारत का इतिहास

क्राउन का भारत के प्रशासन पर नियन्त्रण: केन्द्रीय, प्रान्तीय एवं जनपद प्रशासन

- 1.1. प्रस्तावना
- 1.2. उद्देश्य
- 1.3 नवीन प्रशासनिक ढाँचा: केन्द्रीय प्रशासन
 - 1.3.1 1858 का भारत सरकार अधिनियम
 - 1.3.2 रानी विक्टोरिया की घोषणा
 - 1.3.3 गृह सरकार के स्वरूप में परिवर्तन
 - 1.3.4 भारत सचिव तथा भारत सचिवालय
 - 1.3.5 भारत सरकार
 - 1.3.6 सेना का पुनर्गठन
- 1.4 प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण
 - 1.4.1 प्रान्तीय प्रशासन
 - 1.4.2 वित्तीय विकेन्द्रीकरण
 - 1.4.3 स्थानीय प्रशासन
- 1.5 क्राउन के अधीन आर्थिक नीतियां एवं प्रशासन
- 1.6 जानपद सेवाएं या लोक सेवाएं
 - 1.6.1 1858ई० के पूर्व लोक सेवाएं
 - 1.6.2 1858ई० के पश्चात लोक सेवाएं
 - 1.6.3 1918ई० से 1947ई० तक लोक सेवाएं
- 1.7 भारतीय रियासतों से सम्बंध
- 1.8 सारांश
- 1.9 तकनीकी शब्दावली
- 1.10 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 1.11 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 1.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 1.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

भारत में शक्ति संघर्ष का युग 1858 ई० में समाप्त हो गया। इसके बाद ब्रिटिश प्रशासकों के समक्ष नई चुनौतियां थीं, और यह आशा थी कि ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश पार्लियामेंट भारत के प्रशासन को नई दिशा दे सकेंगे। 1858 ई० के बाद प्रशासन पर जोर भी दिया गया। प्रत्येक गवर्नर जनरल शासन को सुदृढ़ करने में व्यस्त रहा। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय प्रशासन के ढाँचे को सुधारने और सँवारने के प्रयत्न भी किये गये, कानूनों को अपनाया गया, सांविधानिक परिवर्तनों पर विचार हुआ और प्रशासनिक सेवा को सशक्त बनाया गया।

इस इकाई में आपको यह बताया जायेगा कि 1857 के विप्लव के बाद भारत-स्थित ब्रिटिश सरकार के सम्मुख किस प्रकार के प्रश्न उपस्थित हुए और प्रशासकों ने उन प्रश्नों का समाधान करते समय किस प्रकार की नीतियां अपनायीं, केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा भारतीय लोक सेवा तथा सैन्य व्यवस्था में किस प्रकार के परिवर्तन किये गये।

इस इकाई में आपको यह भी बताया जायेगा कि किस प्रकार 1858 ई० में ब्रिटिश संसद ने सत्ता-हस्तान्तरण अधिनियम पारित कर भारत की सत्ता कंपनी के हाथ से लेकर ब्रिटिश क्राउन को सौंप दी। महारानी विक्टोरिया की घोषणा के बारे में बताया जायेगा। आप यह भी जानेंगे कि 1861 के अधिनियम के बाद प्रशासन में भारतीयों का सहयोग लिया जाने लगा, भारतीय सेना का पुनर्गठन किया गया, देशी रियासतों के प्रति नीति में परिवर्तन किया गया। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह समझने के योग्य हो जायेंगे कि वास्तव में कंपनी के हाथों से क्राउन के हाथों में सत्ता का परिवर्तन, सिर्फ नियंत्रण का परिवर्तन था, वस्तुतः नीतियों में परिवर्तन नहीं था। इस इकाई का उद्देश्य क्राउन द्वारा भारत के प्रशासन में किये गये प्रशासनिक परिवर्तनों का अध्ययन करना है।

1.2 इकाई प्राप्ति के उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित विषयों के बारे में जानने योग्य हो जायेंगे-

- 1858 के पश्चात भारत में सुधारों और परिवर्तनों की प्रारम्भ हुई प्रक्रिया के विषय में।
- 1861 के अधिनियम के पश्चात भारतीयों को भी संवैधानिक कार्यों में भागीदार बनाया जाने लगा। भारतीयों में यह उम्मीद जगी कि कंपनी के अत्याचारी शासन से मुक्ति मिलेगी। यद्यपि ये सुधार भारतीयों की उम्मीदों पर खरे नहीं उतर सके।
- ब्रिटिश क्राउन के नियंत्रण में भारत के केन्द्रीय एवं प्रान्तीय प्रशासनिक ढाँचे में हुए परिवर्तनों के विषय में।
- भारतीय लोक-सेवाओं के क्रमिक विकास के विषय में।

1.3 नवीन प्रशासनिक ढाँचा: केन्द्रीय प्रशासन

1858 ई० तक जिस प्रकार की संवैधानिक और प्रशासकीय व्यवस्था भारत में विकसित हुई थी उसमें परस्पर ऐसे विरोधी लक्षण प्रकट होने लगे थे जिनसे यह भली भाँति दिखाई देने लगा था कि यह प्रणाली उसी रूप में अधिक समय तक नहीं चल सकेगी। इतने विशाल साम्राज्य का प्रशासन करने के लिये उस व्यवस्था में सुधार करने की जरूरत थी जिसका आरंभ रेग्युलेटिंग ऐक्ट तथा पिट के अधिनियम से हुआ था। सम्राट के नाम पर इस साम्राज्य को संगठित किया गया था, किन्तु वास्तव में सत्ता कंपनी के हाथ में थी। पिछले कुछ दशकों से यह महसूस किया जा रहा था कि ब्रिटिश क्राउन व्यावहारिक रूप में सत्ता संभाले। यद्यपि कंपनी का स्वरूप 1858 तक बहुत बदल चुका था। 1813 एवं 1833 के चार्टर अधिनियमों के द्वारा कंपनी के व्यापारिक अधिकारों को छीन लिया गया। ब्रिटिश जनमत भी कंपनी के शासन के विरुद्ध होता जा रहा था। अंततः 1857 के विप्लव का ब्रिटिश नीति पर निर्णायक प्रभाव पड़ा। अगस्त 1858 में जो विधेयक पारित हुआ उसके अनुसार ईस्ट इंडिया कंपनी खत्म कर दी गई। संवैधानिक इतिहास में एक उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ। एक युग समाप्त हुआ और दूसरे युग का सूत्रपात हुआ। भारतीय प्रशासन सीधे ब्रिटिश 'क्राउन' के हाथों में सौंप दिया गया। जिसका अर्थ यह हुआ कि ब्रिटिश सरकार ने संचालन का उत्तरदायित्व संभाला।

मूल प्रश्न यह था कि क्या ब्रिटिश प्रशासन अपनी साम्राज्यवादी विशेषताओं से ऊपर उठ सकेगा अथवा नहीं। अंग्रेजों ने यह अनुभव कर लिया था कि लंबे समय तक भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को बनाये रखने के लिये एक सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित शासन की आवश्यकता थी। किन्तु 1858 के बाद के दशकों में ब्रिटिश प्रशासक परिस्थितियों के अनुसार जनहित में कार्य नहीं कर सके। क्रान्ति के बाद भारत और ब्रिटेन के संबंधों में जो भय और आशंका का वातावरण उत्पन्न हो गया था, वह कई दशकों तक भारत के प्रशासकों को प्रभावित करता रहा।

इंग्लैंड में सभी राजनीतिक विचारों वाले गुट इस परिणाम पर पहुँचे कि ईस्ट इंडिया कंपनी की आर्थिक एवं प्रशासनिक नीतियां ही भारतीय समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों में अशान्ति फैलाने के लिये उत्तरदायी थीं जिससे 1857 का विप्लव हुआ। अंग्रेजी सरकार भयभीत हो गई और उन्होंने कंपनी के राज को समाप्त करने तथा भारतीय प्रशासन को क्राउन के अधीन ले लेने का निर्णय लिया।

1.3.1 1858 का भारत सरकार अधिनियम

1858 ई० के भारतीय अधिनियम का भारत के संवैधानिक एवं राजनैतिक इतिहास में अत्यधिक महत्व है क्योंकि यही वह अधिनियम है जिसे पारित कर अंग्रेजी संसद ने भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाया।

- समस्त प्रदेश, प्रशासन तथा कर, कंपनी के हाथों से हटा कर 'ब्रिटिश क्राउन' के अधीन कर दिया। इस अधिनियम में यह कहा गया कि भारत का प्रशासन अंग्रेजी साम्राज्य के नाम से चलाया जायेगा।
- भारत के सर्वोच्च प्रशासनिक अधिकारी गवर्नर-जनरल का पदनाम 'गवर्नर जनरल तथा वायसराय' कर दिया गया। वायसराय भारत में ब्रिटिश क्राउन के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता था।
- कंपनी के नियंत्रण मंडल (Board of Control) तथा निदेशकों (Directors) के पदों को समाप्त कर दिया गया तथा उसके स्थान पर 'भारत सचिव'(Secretary of state of India) के पद का सृजन किया गया। जिसका कार्यालय लंदन में था।

1858 ई० के ऐक्ट का विस्तृत अध्ययन करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि इस अधिनियम द्वारा स्थापित परिवर्तन केवल औपचारिक तथा नाममात्र के थे। इनसे कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। भारत सचिव वस्तुतः बोर्ड आफ कंट्रोल के अध्यक्ष का दूसरा नाम था।

नोट: विद्यार्थियों को चाहिये कि वे विभिन्न अधिनियमों जैसे 1858, 1861, 1892, 1909, 1919 तथा 1935 के विषय में विस्तृत जानकारी करने हेतु भारत के संवैधानिक इतिहास की पुस्तकों का अध्ययन करें। उक्त अधिनियमों के अध्ययन से प्रशासनिक परिवर्तनों को समझना सुगम हो जायेगा।

1.3.2 रानी विक्टोरिया की घोषणा

ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया की घोषणा भारत के इतिहास में एक महत्वपूर्ण सीमा-रेखा है। भारत को ब्रिटिश ताज के अधिकार में लेने की प्रसन्नता में एक समारोह का आयोजन किया गया। 1 नवम्बर 1858 को लार्ड केनिंग ने इलाहाबाद में एक दरबार का आयोजन कर इसमें घोषणा को पढ़ा। विक्टोरिया ने भारतीय राजाओं, मुखियों तथा जनता के नाम एक घोषणा की कि अब उसने भारतीय प्रशासन, जो पहले कंपनी ट्रस्ट के रूप में चला रही थी अपने हाथ में ले लिया है। इसी घोषणापत्र में लार्ड केनिंग के लिये वायसराय की उपाधि का भी प्रयोग किया गया। इस घोषणा पत्र में वर्णित आश्वासन दो प्रकार के थे, कुछ पिछली नीतियों से संबंधित थे और कुछ आगामी काल में अपनायी जाने वाली नीतियों के संबंध में थे। इस घोषणा-पत्र में निम्नलिखित प्रमुख बातें कही गयी थीं-

- भारतीय रियासतों को आश्वासन दिया गया कि ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ किये गये उनके समझौतों व संधियों को ब्रिटिश सरकार भी मानेगी।
- बिना भेद-भाव व पक्षपात के योग्यता के आधार पर शासन के उच्च पदों पर भी भारतीयों को नियुक्त किया जायेगा।
- भारत संबन्धी कानूनों का निर्माण करते समय भारत की परम्पराओं का ध्यान रखा जायेगा।
- भारतीयों के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया जायेगा।

- आंतरिक शान्ति स्थापना के पश्चात भारत में उद्योगों की वृद्धि, लोकहित तथा सार्वजनिक कार्यों का निर्माण तथा प्रशासन का संचालन समस्त निवासियों के लाभ के लिये किया जायेगा।

यह घोषणा 1917ई० तक भारतीय प्रशासन का आधार बनी रही। इस घोषणा-पत्र को सामान्य जन की भाषा में अनुवाद करके संपूर्ण भारत में वितरित करवाया गया। घोषणा में महारानी ने राजकीय सेवाओं में निष्पक्षता, आंतरिक प्रशासन में शांति स्थापना तथा देशी नरेशों एवं कृषकों के लाभ के लिये व्यापक आश्वासन दिये। किन्तु इन विशाल वायदों का समुचित उल्लंघन आजादी तक देखने को मिला। आर० सी० मजूमदार का मत है कि-“ये वायदे संभवतः भारतीय जनता को धोखा देने के लिये किये गये।”

भारत में क्राउन की स्थिति को और भी सुदृढ़ करने के लिये एक अन्य प्रगति 1876 में हुई जब अंग्रेजी संसद ने एक अधिनियम द्वारा रानी विक्टोरिया को ‘कैसर-ए-हिन्द’ या ‘भारत की साम्राज्ञी’ की उपाधि धारण करने की अनुमति दी। इस के उपरान्त यह प्रथा बन गई कि अंग्रेज़ सम्राट और सम्राज्ञियों के नाम के साथ ‘भारत के सम्राट’ अथवा ‘भारत की साम्राज्ञी’ की उपाधि का प्रयोग होने लगा।



महारानी विक्टोरिया कालीन शुद्ध चाँदी का यह रूपया भारत पर ब्रिटिश क्राउन की संप्रभुता का प्रतीक है।

1.3.3 गृह सरकार के स्वरूप में परिवर्तन

1858 के अधिनियम द्वारा जो परिवर्तन हुए उनका संबंध ब्रिटेन-स्थित उस व्यवस्था से था जो भारत सरकार का नियंत्रण करती थी चूंकि अंग्रेज़ हमेशा ब्रिटेन को ही अपना घर मानते रहे इस कारण वे ब्रिटेन में स्थित नियंत्रण करने वाली सरकार को ‘गृह सरकार’ कहकर पुकारते थे। धीरे-धीरे यह शब्द प्रचलित हो गया और ब्रिटेन से भारत पर नियंत्रण करने वाले सभी अधिकारियों और संस्थाओं को गृह सरकार कहा जाने लगा। 1858 के अधिनियम द्वारा केवल गृह सरकार में ही परिवर्तन हुए।

1.3.4 भारत सचिव तथा भारत सचिवालय

1858 के अधिनियम के अनुसार भारत सचिव, भारत से संबन्धित सभी विषयों में क्राउन का संवैधानिक परामर्शदाता बन गया। भारत सचिव की सहायता के लिये 15 सदस्यों की एक ‘भारत परिषद’ का गठन किया गया। जिसके सदस्यों की नियुक्ति आरंभ में आजीवन और बाद में 10-15 वर्षों की अवधि के लिये की जाती थी। जिसमें से आठ सदस्य साम्राज्ञी द्वारा नियुक्त(मनोनीत) किये जाते थे। इस के कार्यालय को ‘भारत सचिवालय’ अथवा ‘इंडिया आफिस’ कहते थे। भारत सचिव भारतीय प्रगति का लेखा-जोखा

प्रत्येक वर्ष इंग्लैंड की संसद में प्रस्तुत करता था। परिषद को भिन्न-भिन्न समितियों में बाँटा जाता था, जिसमें एक सचिव, एक सहायक अवर सचिव तथा अन्य लिपिक होते थे। भारत सचिवालय के अन्य विभाग थे-महालेखाकार का विभाग, रजिस्ट्रार का विभाग, अभिलेखों का अधीक्षक, निधि निदेशक, चिकित्सा बोर्ड एवं कानूनी सलाहकार। यहाँ आपको यह जान लेना आवश्यक है कि इन सभी कार्यालयों के व्यय, पेन्शन तथा अन्य भत्तों का बोझ भारत सरकार उठाती थी जबकि यह आफिस लंदन में स्थित था।

1.3.5 भारत सरकार

1858 के अधिनियम द्वारा भारत के प्रशासन में अधिक परिवर्तन नहीं किये गये। भारत के प्रशासन का संचालन पूर्व में गवर्नर जनरल द्वारा होता था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है गवर्नर-जनरल क्योंकि अब क्राउन का प्रतिनिधि था अतएव उसे 'वायसराय' कहा जाने लगा। यद्यपि इस उपाधि का कोई संवैधानिक प्राविधान नहीं था परन्तु जन साधारण प्रायः इसका प्रयोग करने लगा। वायसराय का वेतन 2.5 लाख रुपये प्रतिवर्ष निश्चित किया गया। इस सन्दर्भ में आप यह समझ लीजिये कि 1858 के पूर्व भारतीय प्रशासन में काफी स्वतन्त्रता थी। संचालक समिति अथवा बोर्ड आफ कन्ट्रोल की स्वीकृति बहुधा औपचारिक होती थी।

1861ई० के भारत परिषद अधिनियम द्वारा भारतीय प्रशासन के संबंध में अनेक परिवर्तन किये गये। गवर्नर जनरल के कार्यकारी परिषद के सदस्यों की संख्या 4 निश्चित की गई थी। पांचवा सदस्य 1861 में नियुक्त हुआ तथा छठा 1874 में। कार्य परिषद का काम सुचारु रूप से चलाने के लिये वायसराय को नियम बनाने का अधिकार था। वैधानिक कानूनों को पास करने के लिये गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद होती थी। जिनकी संख्या विभिन्न अधिनियमों द्वारा बढ़ाकर 16 से अधिक कर दी गई, किन्तु वास्तविक शक्ति केवल गवर्नर जनरल के पास ही रही। वायसराय अकेला कोई कानून नहीं बना सकता था। कार्यपालिका को सुचारु रूप से चलाने हेतु केनिंग ने 1861 के अधिनियम में विभाग पद्धति (Portfolio System) प्रारम्भ किया तथा परिषद के सदस्यों को पृथक-पृथक विभाग सौंपे गये। वायसराय को प्रान्तों के गवर्नर नियुक्त करने का अधिकार दिया गया। उसे किसी भी प्रान्त की सीमा घटाने बढ़ाने या विभाजित करने का अधिकार था। 1861ई० के अधिनियम द्वारा कार्यपालिका की दृष्टि से महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये तथा भारतीय प्रशासनिक प्रणाली की जो रूपरेखा तैयार की गई वह थोड़े फेर-बदल के साथ ब्रिटिश शासन की समाप्ति तक चलती रही।

जहां तक भारत सचिव एवं गवर्नर जनरल के परस्पर संबंधों का प्रश्न था, भारत सचिव प्रायः मुगल बादशाहों की भाँति व्यवहार करते थे। यह लार्ड मेयो के इस कथन से समझा जा सकता है-“नियम यह है कि भारत के मामलों में अन्तिम निर्णय तथा निदेशन, केवल गृह सरकार के पास है न कि संसद तथा क्राउन द्वारा स्थापित और नियुक्त किये गये भारतीय प्रशासन के पास।” इस संबंध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि गवर्नर जनरल और भारत सचिव द्वारा भारत पर नियंत्रण व्यक्तिगत योग्यताओं और क्षमताओं पर काफी घटता बढ़ता रहता था।

आर्थिक एवं साम्राज्यवादी हितों के प्रश्न पर इंग्लैंड में व्यापारी, उद्योगपति एवं अन्य वर्ग बहुत जागरूक रहते थे। अक्सर इंग्लैंड एवं भारत के हितों में परस्पर विरोध भी होता था किन्तु ऐसी स्थिति में

सदा ही इंग्लैंड के हितों को प्रधानता दी जाती थी। 1870 में जब स्वेज नहर खुल गई, और भारत तथा इंग्लैंड के बीच सीधी तार लाइन बिछा दी गई एवं भाप के जहाज चलने लगे तो भारत सचिव का भारतीय मामलों पर नियंत्रण और भी बढ़ गया तथा गवर्नर जनरल की शक्तियां कम होती गईं।

1.3.6 सेना का पुनर्गठन

1857 के विद्रोह में अंग्रेजी राज की नींव हिल गई थी। अतः उसके बाद भविष्य में इस तरह की घटनाओं की पुनरावृत्ति न हो इस बात को ध्यान में रखकर सेना के पुनर्गठन पर अत्यधिक जोर दिया गया। तत्कालीन पंजाब के मुख्य आयुक्त सर जान लारेन्स जिसने विप्लव में दिल्ली विजित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी, का यह मानना था कि विद्रोह का मुख्य कारण था-सैनिकों का आपसी भ्रातृभाव तथा समानता की भावना। इस दोष को दूर करने के लिये हमें भारतीयों के अनुपात में यूरोपीय सेना की भर्ती करनी होगी तथा भारतीय सेना का जातीय आधार पर विभाजन करना चाहिये।

एक अन्य तथ्य जो सेना के विषय में उभरा, वह यह था कि 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इंग्लैंड विश्व की सबसे बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में उभर रहा था तथा फ्रांस, जर्मनी, रूस, इटली जैसी अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध युद्ध करने के लिये बाधित हो गया। इसलिये भारतीय सेना को और भी सुदृढ़ किया गया ताकि वह भारतीय सीमाओं की रक्षा कर सके तथा संसार में अंग्रेजी साम्राज्य के प्रसार तथा रक्षा करने में अपना योगदान कर सके। इस विचार के साथ सेना में निम्न परिवर्तन किये गये-

- सर्वप्रथम ईस्ट इंडिया कंपनी की यूरोपीय सेना अंग्रेजी सेना में सम्मिलित कर ली गई। बंगाल, मद्रास तथा बंबई का तोपखाना, शाही तोपखाने और शाही इंजीनियरों में मिला लिये गये। अंग्रेजी सेना के पदाधिकारी तथा सैनिक, भारत में सेवा करने तथा अनुभव प्राप्त करने के लिये नियमित रूप से भेजे जाने लगे।
- यूरोपीय सैनिकों की संख्या जो 1857 से पूर्व 45000 थी अब 65000 कर दी गई तथा भारतीय सैनिकों की संख्या 238000 से घटाकर 140000 कर दी गई।
- बंगाल में यूरोपीय सैनिकों का भारतीय सैनिकों से 1:2 का अनुपात रखा गया जब कि मद्रास तथा बम्बई में यह अनुपात 2:5 का रखा गया।
- भारतीय सेना में एक नवीन जातिवाद, लड़ाकू तथा गैर लड़ाकू जातियों का आरम्भ किया गया। पंजाब, नेपाल तथा उत्तर-पश्चिम प्रान्तों की मुख्य जातियों को लड़ाकू मानकर उनके जवानों को बंगाल बिहार पूर्वी उत्तर प्रदेश के जवानों से अधिक अच्छा मानकर बहुसंख्या में भर्ती किया गया।
- ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा हेतु 'बाँटो और राज्य करो' की नीति का प्रारम्भ सेना में किया गया। सैनिकों में प्रादेशिक निष्ठा की भावना को बढ़ावा दिया गया ताकि ये लोग राष्ट्र भावना से प्रेरित होकर एक न हो सकें। सेना में रेजीमेंटों का गठन किया गया।
- तोपखाना एवं सिगनल्स जैसे विभागों में भारतीयों की संख्या बहुत कम रखी गई।

इस पुनर्गठन के फलस्वरूप रक्षा व्यय बहुत बढ़ गया और समस्त केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों की कुल आय का 25-30 प्रतिशत धन रक्षा पर व्यय होने लगा। इस अत्यधिक रक्षा व्यय के कारण भारत सरकार को ऋण लेना पड़ता था। 1904 में भारतीय सेना का खर्च भारतीय राजस्व का लगभग 52 प्रतिशत हो गया। वस्तुतः ब्रिटेन के साम्राज्यवादी उपयोग के लिये गठित सेना के खर्च का भारतीय राजस्व पर बहुत बड़ा बोझ था।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. लघु उत्तरीय प्रश्न
 - i. ब्रिटिश ताज ने किस अधिनियम के पश्चात भारत कि सत्ता ईस्ट इंडिया कंपनी से अपने हाथों में ले ली?
 - ii. सेना के गठन में 'बाँटो और राज करो' की नीति क्यों लाई गई?
 - iii. 1857 की क्रान्ति के बाद भारत स्थित सेना में यूरोपियनों कि संख्या कितनी बढ़ा दी गई?
2. निम्न लिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये:
 - (क) 1858 ई० का भारत सरकार अधिनियम
 - (ख) महारानी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र
 - (ग) विप्लव के बाद सेना में यूरोपियनों कि संख्या भारतीयों के अनुपात में क्यों बढ़ा दी गई?
 - (घ) 1861 के अधिनियम के पश्चात भारत सरकार के स्वरूप में कौन-कौन से परिवर्तन हुए?
3. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिये:
 - A. 1858 ई० के अधिनियम की प्रमुख धाराओं का वर्णन किजिये।
 - B. 1858 के पश्चात भारतीय सैन्य व्यवस्था में मुख्य रूप से कौन से परिवर्तन किये गये?
 - C. क्राउन के नियंत्रण के बाद 'गृह सरकार' के स्वरूप में क्या परिवर्तन आया?

1.4 प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण

1.4.1 प्रांतीय प्रशासन

1818 के पूर्व ब्रिटिश भारत बंगाल, मद्रास तथा बंबई तीन प्रान्तों में विभाजित था जिन्हें प्रेसीडेंसी कहते थे। ये एक-दूसरे से जुड़े हुए नहीं थे, बीच में स्वतंत्र राजाओं के क्षेत्र थे। इन प्रांतों का प्रशासन तथा वित्त अलग-अलग थे। 1818 ई० में चतुर्थ मराठा युद्ध के उपरांत यह स्थिति बदल गई थी और 1833 के चार्टर के अनुसार कंपनी के प्रदेशों, विधान परिषदों तथा वित्त का केन्द्रीकरण हो गया। कानून और नियम बनाने की शक्ति केवल केन्द्रीय विधान परिषद को दी गयी थी। बंबई तथा मद्रास की सरकारों के कानून

बनाने के अधिकार समाप्त हो गये तथा वे जो कानून बनवाना चाहते थे, केवल उसका सुझाव ही गवर्नर जनरल को दे सकते थे।

1861 के भारत परिषद अधिनियम का प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण का प्रमुख स्थान है। इसने कानून बनाने की इस प्रक्रिया को उलट दिया तथा वैधानिक विकेन्द्रीकरण की ओर अग्रसर हुए। केवल एक रोक था कि इन सरकारों को नया कानून बनाने से पूर्व गवर्नर-जनरल की अनुमति प्राप्त करनी होती थी। विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त से प्रांतों को धीरे-धीरे अधिकार मिलने शुरू हो गये। प्रान्तों में विधान परिषदें स्थापित की गईं। बंगाल एवं बंबई में 1862 में, उत्तर प्रदेश में 1886, पंजाब में 1894 में तथा पश्चिम बंगाल तथा आसाम में 1905 में। जैसे-जैसे नये प्रान्तों का गठन होता गया नई विधान परिषदें बनती गईं। 1892 एवं 1909 के भारत परिषद अधिनियम द्वारा इन प्रान्तीय विधान परिषदों का विस्तार होता गया। भारत सरकार अधिनियम 1919 द्वारा इन प्रान्तीय विधान परिषदों का विस्तार के साथ-साथ वहाँ दोहरी शासन प्रणाली लागू की गई। जबकि 1935 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा यहाँ प्रान्तीय स्वायत्तता लागू की गई।

प्रांतीय विधान परिषदों का गठन केन्द्रीय विधान परिषदों के अनुसार किया गया। प्रांतीय कौंसिल में गवर्नर, उसकी कार्यकारिणी के सदस्य और अतिरिक्त सदस्य सम्मिलित होते थे। सदस्यों में आधे गैर-सरकारी होते थे, जिन्हें गवर्नर मनोनीत करते थे।

1.4.2 वित्तीय विकेन्द्रीकरण

किसी भी प्रशासनिक-व्यवस्था के लिये वित्तीय प्रशासन उसकी रीढ़ के समान होता है। आवश्यकता को देखते हुए वित्तीय विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया लार्ड मेयो ने 1870 में आरंभ की तथा लिटन एवं रिपन ने इसे आगे बढ़ाया। मेयो के प्रस्ताव को 'प्रान्तीय आर्थिक वक्तव्य' (Provincial Financial Statement) भी कहा जाता है। मेयो ने अपने प्रस्ताव में कहा कि- पुलिस, सड़क, जेल, शिक्षा इत्यादि विभागों से होने वाली आय-व्यय का उत्तरदायित्व पूर्णतया प्रान्तीय सरकार को दे दिया जाय। प्रांतों को केन्द्र सरकार से एक निश्चित रकम देने की व्यवस्था की गई। वस्तुतः इस योजना का उद्देश्य अर्थ व्यवस्था को नियमित करना तथा स्थानीय संस्थाओं को प्रोत्साहन देना था। भारत सरकार ने एक प्रस्ताव पारित करके राजस्व के स्रोतों को तीन भागों में बाँटा।

पहला स्रोत, साम्राज्यिक कहलाया जो केन्द्र सरकार के अधीन रहा। इसमें मुख्य रूप से नमक-कर, सीमा-शुल्क, अफीम कर आदि थे।

दूसरे, प्रकार के साधनों, जैसे सार्वजनिक निर्माण आदि को प्रांतीय सरकारों को सौंपा गया।

तीसरे प्रकार के आय के साधनों जैसे वन, भूमि कर तथा टिकटों से होने वाली आय को केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच बँटवारे के लिये रखा गया। जिसका निश्चित अनुपात प्रांतों को दिया जाता था।

1877 में प्रान्तीय सरकारों को आबकारी, भूमि कर, राजकीय मुद्रा तथा विधि व न्याय इत्यादि पर नियंत्रण का अधिकार दे दिया गया तथा इसके लिये प्रान्तों से प्राप्त होने वाले करों, विशेषकर आबकारी, भूमिकर तथा लाइसेंस फीस इत्यादि भी उन्हें दे दिये गये।

1882 में प्रान्तों को निश्चित सहायता देने की पद्धति समाप्त कर दी गई तथा विभाजित मदों की पद्धति लागू की गई अर्थात् आबकारी, भूमि कर, राजकीय मुद्रा, वन तथा पंजीकरण इत्यादि से प्राप्त धन को केन्द्र तथा प्रान्तीय सरकारों में बराबर-बराबर बाँट दिया गया। इस विभाजित मदों की पद्धति को 1919 के अधिनियम से ही बदला गया। इस अधिनियम द्वारा 47 विषयों की केन्द्रीय सूची तथा 52 विषयों की प्रान्तीय सूची तैयार की गई ताकि केन्द्र और प्रांत में कम से कम टकराव हो।

1935 के अधिनियम द्वारा सभी विषयों को संघीय, प्रांतीय तथा सम्मिलित सूची में विभक्त किया गया। तथापि प्रांतों की स्थिति नहीं सुधरी।

समीक्षात्मक रूप से कहा जा सकता है कि सरकार द्वारा निरन्तर समितियों की स्थापना तथा उनकी संस्तुतियों को लागू करने के उपरांत भी प्रांतों को पूर्ण वित्तीय स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हो सकी।

1.4.3 स्थानीय प्रशासन

आधुनिक राज्यों में प्रशासन, विधि निर्माण तथा न्याय की संस्थाओं के अतिरिक्त ऐसी संस्थाएं भी विकसित हुईं जो शहरी तथा ग्रामीण छोटे क्षेत्रों में निवास करने वाले लोगों की स्वास्थ्य, सफाई, जल-साधन, रोशनी, सड़कें तथा मेले आदि स्थानीय समस्याओं की व्यवस्था कर सकें। भारत में इसी उद्देश्य से म्युनिसिपल बोर्ड या कापोरेशन, जिला बोर्ड, जिला परिषद आदि संस्थाओं को संगठित करने का प्रयास किया गया।

अध्ययन की सुविधा के लिये स्थानीय प्रशासन के विकास की प्रक्रिया को चार चरणों में बाँटा जा सकता है-

पहले चरण में, क्राउन के नियंत्रण के पूर्व म्युनिसिपल संस्थाएं बहुत कुछ शहर वासियों के लिये ऐच्छिक थीं और केवल बंबई, मद्रास और कलकत्ता में संगठित थीं।

दूसरे चरण में, 1851 से 1881 ई० के मध्य यातायात तथा दूरसंचार साधनों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। शहरों की जनसंख्या बढ़ी, जिनकी देखभाल के लिये स्थानीय स्व-शासन की आवश्यकता अनुभव की गई। अतः म्युनिसिपल संस्थाएं अनिवार्य कर दी गईं और उनकी प्रशासनिक कार्य-कुशलता पर जोर दिया गया। 1861 में वैधानिक तथा वित्तीय विकेन्द्रीकरण की जो नीति अपनायी गई थी, उससे यह संभव हुआ कि नगरपालिकाओं तथा जिला परिषदों के रूप में स्थानीय स्वशासन का विकास हो। नगरपालिकाओं की आवश्यकता को स्वीकार किया गया तथा बंगाल में 1864 तथा 1868 में, 1865 में मद्रास में, पंजाब के लिये 1867 में और आधुनिक उत्तर प्रदेश जिसे तब संयुक्त प्रांत कहते थे, 1868 में अधिनियम पारित कर नगरपालिकाएं बनाई गईं। लार्ड मेयो की वित्तीय विकेन्द्रीकरण की नीतियों के फलस्वरूप इन नगरपालिकाओं को वित्तीय स्वावलम्बन की ओर ले जाने हेतु नगरपालिकाओं को कई कर लगाने की

अनुमति दी गई। इस प्रकार नये नगरपालिका अधिनियम पारित किये गये। जिनसे नगरपालिकाओं की उपयोगिता बढ़ी तथा इनमें चुनाव प्रक्रिया को बढ़ावा दिया गया।

तीसरे चरण का आरम्भ लार्ड रिपन की स्थानीय स्वशासन के प्रति स्पष्ट नीति से हुआ। उसने ब्रिटिश शासन की आधारभूत समस्याओं के प्रति एक नया दृष्टिकोण अपनाया। उसने उदारवादी परंपराओं को आगे बढ़ाया, प्रजातांत्रिक विचारों को प्रचलित किया। रिपन को स्थानीय स्वशासन का जनक भी कहा जाता है। रिपन के काल में हे 1881 ई० में भारत की पहली वास्तविक जनगणना प्रारम्भ हुई। वह शिक्षित मध्यम वर्ग को शासन में सहयोग करने का मौका देना चाहता था। 18मई 1882 ई० को रिपन ने एक विस्तृत प्रस्ताव पारित कराके स्थानीय स्वशासन के विकास में महत्वपूर्ण कार्य किया। यह प्रस्ताव भारत में प्रतिनिधि व्यवस्था के इतिहास में हमेशा याद किया जायेगा। उसने न केवल प्रस्ताव पारित किये अपितु भरसक कोशिश की कि प्रांतीय सरकारें इन सिद्धांतों को अपनायें। उसके कार्यकाल में स्थानीय स्वशासन के नियम का विस्तार किया गया। उसने स्थानीय संस्थाओं में जन-प्रतिनिधियों के चुनाव की व्यवस्था की। अब नगर पालिकाओं में साधारण नागरिकों को भी प्रधान बनने की अनुमति थी जबकि इससे पूर्व केवल कार्यकारी अधिकारियों को ही यह अधिकार था। 1908 में एक पुनर्गठन आयोग द्वारा यह निश्चित किया गया कि ज़िला बोर्ड तथा ग्राम पंचायतों का भी विकास किया जाये।

चौथे चरण में थोड़ी और तीव्रता आयी जब 1918 मांटफोर्ड रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया कि “कोशिश यह होनी चाहिये कि स्थानीय निकायों में पूर्ण लोकप्रिय नियंत्रण होना चाहिये तथा बाह्य नियंत्रण से उन्हें अधिकाधिक स्वतंत्रता होनी चाहिये।” अब नगरपालिकाओं एवं जिला बोर्डों के चुनाव में पहले से अधिक लोगों को मतदान का अवसर मिलने लगा। अधिक चुने हुए सदस्य इन संस्थाओं में आने लगे तथा वे निर्णयों को प्रभावित भी करने लगे।

स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के विकास में कुछ रुकावटें भी थीं और सबसे बड़ी रुकावट थी-अंग्रेज नौकरशाही। जो भारतीयों को अपने मामलों की देखभाल करने की क्षमता में विश्वास नहीं करती थी तथा जातीय भेदभाव की नीति अपनाती थी। तथापि यह स्वीकार करना होगा कि 1947 तक इन संस्थाओं पर सरकारी नियंत्रण बना रहा और पश्चिम के देशों की तरह स्थानीय संस्थाएं प्रशासन की आधारशिला नहीं बन सकीं।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

- 1) लघु उत्तरीय प्रश्न
 - a) 'प्रान्तीय आर्थिक वक्तव्य' किस गवर्नर जनरल से संबंधित है?
 - b) स्थानीय स्वशासन का जनक किसे कहा जाता है?
- 2) निम्न लिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये:
 - i. मेयो का त्रितीय विकेन्द्रीकरण का प्रस्ताव
 - ii. 1858 के पश्चात स्थानीय स्वशासन का विकास
- 3) नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दिजिये:
 - i. क्राउन के नियंत्रण में प्रांतीय प्रशासन व्यवस्था का वर्णन कीजिये।

1.5 क्राउन के अधीन आर्थिक नीतियां एवं प्रशासन

यहां आपको यह जान लेना चाहिये ब्रिटिश क्राउन के अधीन भारत की आर्थिक नीति पूर्णतया इंग्लैंड के हितों के लिये कार्य करती थी। अपने राजनीतिक नियंत्रण द्वारा ब्रिटेन भारत के आर्थिक भण्डारों का शोषण कर रहा था। समय के साथ शोषण के ढंग परिवर्तित होते गये। धन का निकास जो कंपनी के अधीन व्यापारी नियमों के अधीन होता था, अब बदल गया। पूर्ण स्वतन्त्र व्यापार अथवा थोड़ा सा आयात कर लगाकर हमारे उभरते हुए उद्योगों को हानि पहुँचायी गई।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोपीय देश अपने-अपने उद्योगों की रक्षा के लिये उँचे-उँचे आयात कर लगा रहे थे जिससे कि अंग्रेज़ जो औद्योगिक क्रान्ति के कारण सस्ता माल बना रहे थे, उनके देश में अंग्रेज़ी माल भेज कर स्थानीय उद्योगों को हानि न पहुँचाएं। इससे अंग्रेज़ी उद्योगों को कठिनाई हो रही थी। इसकी क्षतिपूर्ति के लिये अंग्रेज़ों ने भारत में जो थोड़ा सा आयात कर वित्त साधनों को जुटाने के लिये लगाया था, उसे भी हटाकर स्वतंत्र व्यापार की अनुमति दे दी।

भारतीय उद्योग जो पनपने का प्रयत्न कर रहे थे, उन्हें अत्यन्त हानि पहुँची। उसके उपरांत अंग्रेज़ी पूंजी भारत में लगानी प्रारम्भ कर दी गई तथा भारतीय उद्योगपतियों को इन विदेशी उद्योगपतियों ने, जिन्हें सरलता से बैंक ऋण मिल जाते थे, पनपने ही नहीं दिया गया। ईस्ट इंडिया कंपनी के भागीदारों को जो ब्रिटिश सरकार से पैसा मिला था उससे अनेकों विदेशी कंपनियां भारत में खोली गईं। जिनके अवशेष अब भी भारत में हैं।

भारत के विकास के बहाने, विदेशी रेल कंपनियों को सुविधाएं दी गईं। भारत में विदेशी कंपनियों का जाल बिछ गया। परन्तु ये लाइनें भारत के विकास के लिये कम, अपितु सामरिक महत्व तथा भारतीय कच्चा माल ले जाने के लिये अधिक थीं। इंग्लैंड में जब रेल लाइनें बनाई गईं तो वह छोटी लाइन (मीटर गेज) की थीं। कालान्तर में जब उन्होंने इसे लाभकारी समझ लिया तो इस छोटी लाइन को बड़ी लाइन (5"-6") में बदल दिया गया। यह पुरानी छोटी लाइन, डिब्बे, इंजन सब भारत पर लाद दिये गये और आज भी जो छोटी लाइनें भारत में बची हैं वे हमारी दासता की अवशेष हैं। इस प्रकार कोयले तथा लोहे का खनन उद्योग चाय, रबड़, काफी और नील के बागान, पटसन के कारखाने, सूती और ऊनी कपड़ा, भाप के जलपोत सभी उद्योगों में विदेशी पूंजी लगी और भारत का पूर्ण रूप से शोषण हुआ। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वित्तीय, आर्थिक तथा औद्योगिक नीतियां पूर्णतः अंग्रेज़ी हितों के अनुकूल बनाई गई थीं। इन सभी नीतियों से केवल स्थानीय मध्यस्थों को छोड़कर भारत के सभी वर्गों को हानि पहुँची।

भूमि कर तथा भूमि पट्टेदारी की नीतियों ने भारतीय कृषक वर्ग को दो परस्पर विरोधी दलों में बाँट दिया। एक ओर ज़मींदार और दूसरी ओर पट्टेदार तथा कृषक मजदूर। सरकार की अत्यधिक भूमि कर लगाने की नीति के फलस्वरूप एक नए परजीवी वर्ग, साहूकारों का उत्थान हुआ। जिसने स्थानीय कृषकों का और भी शोषण किया। इसी प्रकार एक नवीन न्यायिक प्रणाली जो अंग्रेज़ों ने भारत में चलाई वह थी वकालत की। यह ग्रामीण तथा निरक्षर वर्ग का शोषण करने का एक नया साधन बन गई। वकील न्यायिक मामलों को

लम्बा खींचते थे और मोटी-मोटी फीस लेते थे। नतीजा यह हुआ के ग्रामीण ,अनपढ़ जन्ता निर्धनता की रेखा से और भी नीचे चली गई।

स्थानीय उद्योगपतियों के लिये क्राउन के शासनकाल में कोई सुअवसर नहीं रहा। ये सस्ते विदेशी माल का मुकाबला नहीं कर सकते थे।

देश की स्थिति सामान्य स्थिति, औद्योगिक विकास तथा कृषि दोनों ही क्षेत्र में अल्प विकसित ही रही। दादा भाई नौरोजी ने 'पावर्टी एण्ड अन ब्रिटिश रूल इन इंडिया' में सरकारकी आर्थिक नीतियों की आलोचना की। उसी प्रकार एम०जी०रानाडे, जी०वी०जोशी तथा आर० सी० दत्त जैसे राष्ट्रीय नेताओं ने भी भारत सरकार की आर्थिक नीतियों की जमकर आलोचना की।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. लघु उत्तरीय प्रश्न

a. पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया पुस्तक के लेखक कौन हैं?

2. लिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये:

a. क्राउन प्रशासन के अंतर्गत सरकार की आर्थिक नीतियां

b. भारत की छोटी रेलवे लाइन किस बात का प्रतीक है और क्यों?

1.6 जनपद सेवाएं या लोक सेवाएं

यह स्वीकार किया गया है कि भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व को बनाये रखने में प्रशासनिक सेवा का वही स्थान है जो विशालकाय भवन के लिये लोहे के ढाँचे का होता है। आपको इसके विकास का अध्ययन करते समय यह ध्यान देना होगा कि जहाँ तक संभव हो सका, भारतीयों को इस सेवा से दूर रखा गया और जब भारतीयों के लिये दरवाजा बंद नहीं रखा जा सका तो दिखावे के लिये उनमें से कुछ को इसमें स्थान दिया गया। 20वीं शताब्दी के प्रथम दशक तक यह स्थिति बनी रही।

1.6.1 1858 के पूर्व लोक सेवाएं

कंपनी शासन में लार्ड कार्नवालिस ने भारत में प्रशासनिक सेवा, जिसे प्रतिज्ञाबद्ध प्रशासनिक सेवा कहा जाता था, में ऊँचे पदों पर यूरोपियनों की नियुक्तियां करनी आरम्भ की थी। भारतीयों को कंपनी की उँची नौकरियों से अलग रखा। कंपनी के शासन के दौरान उच्च सेवा में नियुक्ति का दायित्व गृह सरकार के सदस्य वहन करते थे। जो अपने परिवार के नवयुवकों को संरक्षण के आधार पर नियुक्त करते थे। लोक सेवाओं के क्षेत्र में लार्ड विलियम बेंटिंक के समय में एक महत्वपूर्ण कार्य हुआ, वह था-1833 का चार्टर ऐक्ट। उसमें यह प्रावधान किया गया कि किसी भी व्यक्ति को धर्म, जन्म स्थान, वंश अथवा रंग के कारण कंपनी के अधीन सेवा से वंचित नहीं रखा जायेगा। 1853 ई० के चार्टर द्वारा अंग्रेजी संसद ने भारतीय सिविल सेवा I.C.S. में भर्ती होने के लिये लंदन में एक प्रतियोगी परीक्षा आरम्भ कर दी थी, जिसमें भारतीयों को भी बैठने की अनुमति थी परन्तु अनेक अवरोधों के कारण, इस अनुमति को कोई विशेष लाभ नहीं था। वास्तव में भारतीयों को सिविल सेवा में कभी भर्ती होने का अवसर नहीं मिल पाता था जिसके

अनेक कारण थे। जैसे-परीक्षा केन्द्र मात्र लंदन में था, पाठ्यक्रम केवल अंग्रेजी विद्यार्थियों के ही अनुकूल था, प्रवेश की आयु बहुत कम थी।

इस प्रकार 1858 के पूर्व यद्यपि भारतीय लोक सेवाओं में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये किन्तु भारतीयों की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया।

1.6.2 1858 के पश्चात लोकसेवा

1858 ई०के पश्चात विक्टोरिया की घोषणा के बाद भारतीय लोक सेवाओं में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। 1861 ई०के अधिनियम द्वारा भारत में की जाने वाली सभी नियुक्तियां प्रतिश्रुत राज्य सेवा (Covenanted civil service) के अधीन कर दी गईं। उच्च शिक्षा के विस्तार के साथ भारतीय इसमें सुधार की मांग करते रहे। सरकार प्रशासनिक सेवा के भारतीयकरण की मांग की अनदेखी नहीं कर सकती थी। लोकसेवाओं से संबंधित तीन महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न हुए-

- (अ) भर्ती करने की आयु निर्धारित करना
- (ब) प्रशासनिक एवं न्यायिक सेवाओं को अलग करना
- (स) भारतीयों को नौकरी के अधिक अवसर देना

पहली समस्या के समाधान में, परीक्षाओं की अधिकतम आयु सीमा 23 वर्ष से घटाकर 1860 में 22 फिर 19 कर दी गई। इस आयु के विद्यार्थियों को भारतीय माता-पिता प्रायः विदेश भेजने के लिये उद्यत नहीं होते थे। बहुत आन्दोलन के उपरांत 1906 में यह आयु सीमा पुनः 22 से 24 के बीच कर दी गई, जो अब भी भारतीयों के अनुकूल नहीं थी। '19वीं सदी के उत्तरार्ध में इंडियन सिविल सर्विस की भर्ती के लिये अधिकतम आयु घटाने का प्रश्न भारतीय समाचार-पत्रों में सबसे अधिक चर्चा का विषय बना रहा।' आयु घटाने का परिणाम यह हुआ कि व्यावहारिक रूप से भारतीयों के लिये सेवाओं के प्रवेश द्वार प्रायः बंद हो गये। इससे भारतीयों का अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास समाप्त हो गया।

दूसरे, अंग्रेजों के हितों को ध्यान में रखते हुए प्रशासनिक एवं न्यायिक सेवाएं पृथक नहीं की गईं क्योंकि अंग्रेजों को यह प्रतीत हुआ कि भारतीय वकील भाषा और विधि ज्ञान में अंग्रेज जजों से बहुत आगे बढ़े हुए थे।

तीसरे, 1870 ई० के पूर्व यहां दो प्रकार की सेवाएं थीं-कोवेनेंटेड तथा अनकोवेनेंटेड। कोवेनेंटेड सेवाओं में भारतीयों का चयन अनुबंध के आधार पर होता था। अनकोवेनेंटेड सेवाओं की भर्ती भारत में की जाती थी। ये अधिकांशतः लगान तथा न्याय विभाग में निम्न पदों से संबंधित होती थीं। 1870के पश्चात तीसरी प्रकार की सेवाओं की स्थापना की गई जिसे 'स्टेड्यूटरी सिविल सर्विस' कहा जाता था। इसमें केवल भारतवासी ही भर्ती किये जाते थे। इस सेवा में भर्ती योग्यता की अपेक्षा सामाजिक प्रतिष्ठा, अच्छे कुल के आधार पर होती थी। 1886 ई०में 'सर चार्ल्स एचिसन' की अध्यक्षता में 'लोक सेवा आयोग' का गठन किया गया तथा इन सेवाओं में सुधार हेतु सुझाव मांगे गये। उनके सुझावों के आधार पर इन्हें दो भागों में विभक्त

किया गया-‘इंडियन सिविल सर्विस’ तथा ‘प्रांतीय सिविल सर्विस’। प्रांतीय सिविल सर्विस में दो प्रकार-उच्च तथा निम्न स्थापित की गई। 1891 ई० में स्टेच्यूटरी सिविल सर्विस को समाप्त कर दिया गया।

सेवाओं के इस वर्गीकरण से भारतीयों के लिये प्रांतीय सेवाओं में ही अधिक अवसर मिल सके। किन्तु भारतीयों की स्थिति में कोई अंतर नहीं आया। न केवल उच्च पद भारतीयों के लिये लगभग बंद थे, अपितु निम्न पदों पर भी भारतीयों के विरुद्ध भेदभावपूर्ण नीति अपनायी जाती थी। इनमें कम शिक्षा वाले एंग्लो-इंडियन अथवा यूरोपीय जाति के लोगों को अधिक शिक्षित तथा योग्य भारतीयों के ऊपर नियुक्त कर दिया जाता था। भारतीय सर्वेक्षण विभाग, नमक विभाग, आबकारी तथा डाक तार विभाग में, यूरोपीय वंशजों के लिये भारतीय मूल के प्रार्थियों के अनुपात में शिक्षा संबन्धी योग्यतायें कम निश्चित की जाती थीं। बहुत समय तक सार्वजनिक निर्माण विभाग, रेल तथा तार की इन्जीनियरी शाखाओं, रेल के भंडार विभाग इत्यादि ऐसे विभाग थे जिनमें भारतीयों के विरुद्ध भेदभाव पूर्ण नीति अपनायी जाती थी।

1.6.3 1918 से 1947 तक लोक सेवायें

1919 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा लोक सेवाओं में भारतीयों की संख्या बढ़ाने तथा उनके वेतन में वृद्धि करने की व्यवस्था लागू की गई। इस निर्णय के बाद उच्च प्रशासनिक सेवा में भारतीयों को अधिक अवसर मिलने लगे।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. लघु उत्तरीय प्रश्न

a. सर चार्ल्स एचिसन की अध्यक्षता में किस आयोग का गठन किया गया?

2. लिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये:

a. भारतीयों को सिविल सेवा में प्रवेश क्यों मुश्किल था?

3. निम्न लिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिये।

a. 1858 पश्चात् भारतीय लोक सेवाओं में क्या व्यवस्था की गई?

1.7 भारतीय रियासतों से संबन्ध

भारत में क्राउन की सर्वोच्च सत्ता स्थापित होने के बाद देशी रियासतों के अधिकार सीमित हो गये। इंग्लैंड तथा भारत सरकारों ने इन भारतीय रियासतों तथा जमींदारों को ऐसा निहित स्वार्थ वाला दल मान लिया जिन्हें भारत में अंग्रेजी सरकार के बने रहने से लाभ था। अतएव वह ऐसा तत्व बन गया जो अंग्रेजी क्राउन का प्रमुख सहारा बन गया।

विस्तृत विवरण के लिये देखें- इकाई 2- ‘ब्रिटिश सत्ता का रजवाड़ों के साथ सम्बन्ध’।

1.8 सारांश

उक्त अध्ययन के बाद आप समझ गये होंगे कि ब्रिटिश क्राउन के नियंत्रण में किस प्रकार केन्द्रीय तथा प्रान्तीय प्रशासन के ढाँचे को सुधारने और सँवारने के प्रयत्न किये गये, कानूनों को अपनाया गया,

सांविधानिक परिवर्तनों पर विचार हुआ और प्रशासनिक सेवा को सशक्त बनाया गया। 1861 के अधिनियम के बाद प्रशासन में भारतीयों का सहयोग लिया जाने लगा, भारतीय सेना का पुनर्गठन किया गया, देशी रियासतों के प्रति नीति में परिवर्तन किया गया। भारतीयों में भी यह उम्मीद जगी कि कंपनी के अत्याचारी शासन से मुक्ति मिलेगी। किन्तु ये सुधार भारतीयों की उम्मीदों पर खरे नहीं उतर सके। वास्तव में कंपनी के हाथों से क्राउन के हाथों में सत्ता का परिवर्तन, सिर्फ नियंत्रण का परिवर्तन था, वस्तुतः नीतियों में परिवर्तन नहीं था। सेना के पुनर्गठन के फलस्वरूप बढ़े हुए रक्षा व्यय के कारण भारतीय राजस्व पर बहुत बड़ा बोझ था। रिपन के सदाशयतापूर्ण प्रयासों के बावजूद 1947 ई० तक स्थानीय संस्थाओं पर सरकारी नियंत्रण बना रहा और पश्चिम के देशों के समान स्थानीय संस्थाएं प्रशासन की आधारशिला नहीं बन सकीं। ब्रिटिश क्राउन के अधीन भारत की आर्थिक नीति पूर्णतया इंग्लैंड के हितों के लिये कार्य करती थी। अपने राजनीतिक नियंत्रण द्वारा ब्रिटेन भारत के आर्थिक भण्डारों का शोषण कर रहा था फर्क इतना था कि समय के साथ शोषण के ढंग परिवर्तित होते गये। आपको यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि जहाँ तक संभव हो सका, सिविल सेवाओं से भारतीयों को दूर रखा गया और जब भारतीयों के लिये दरवाजा बंद रखना संभव नहीं हो सका तो दिखावे के लिये उनमें से कुछ को इसमें स्थान दिया गया। 20वीं शताब्दी के प्रथम दशक तक यह स्थिति बनी रही।

1.9 तकनीकी शब्दावली

- क्राउन-विधिक रूप से ब्रिटिश संप्रभुता का प्रतीक। ब्रिटेन तथा राष्ट्रमंडल देशों में इस शब्दावली को शासन तथा सरकार के लिये एक उपशब्द के रूप में प्रयोग किया जाता है।
- जनपद सेवा-लोक सेवा या (Civil Service)

1.10 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 1.3 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1-i 1858 ई०

ii-जिससे कि सेना फिर से संगठित हो कर विप्लव न कर सके।

iii-45000 से 65000 कर दी गई

2-(क) देखिये-1.3.1

(ख) देखिये-1.3.2

(ग) देखिये-1.3.6

(घ) देखिये-1.3.5

3- A, B, C हेतु इकाई 1.3 देखें।

इकाई 1.4 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1-a. लार्ड मेयो

b. लार्ड रिपन

2-i देखिये-1.4.2

ii देखिये-1.4.3

3-देखिये- इकाई-1.4

इकाई 1.5 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1-a. दादा भाई नौरोजी

2- A. देखिये-1.5.

B. देखिये- 1.5

इकाई 1.6 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1-a. लोक सेवा आयोग

2- देखिये इकाई-1.6.1

3-a.देखिये इकाई1.6.2

1.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

- मिश्र, जगन्नाथ प्रसाद, आधुनिक भारत का इतिहास, लखनऊ, 1979
 - ग्रोवर, बी०एल०एवं यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 2000
 - जैन, एम० एस०, आधुनिक भारत का इतिहास, चतुर्थ संस्करण, नई दिल्ली, 1993
 - शुक्ल, आर०एल०, (संपादक), आधुनिक भारत का इतिहास, दिल्ली, 1994
 - https://en.wikipedia.org/wiki/Queen_Victoria
-

1.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- मिश्र, जगन्नाथ प्रसाद, आधुनिक भारत का इतिहास, लखनऊ, 1979
 - ग्रोवर, बी०एल०एवं यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 2000
 - जैन, एम० एस०, आधुनिक भारत का इतिहास, चतुर्थ संस्करण, नई दिल्ली, 1993
 - मित्तल, ए०के०, आधुनिक भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, आगरा, 2012
 - शुक्ल, आर०एल०, (संपादक), आधुनिक भारत का इतिहास, दिल्ली, 1994
 - https://en.wikipedia.org/wiki/Queen_Victoria
-

1.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. ब्रिटिश क्राउन के प्रशासकीय नियंत्रण के अंतर्गत केन्द्रीय प्रशासन पर प्रकाश डालिये।
2. भारत में प्रशासकीय विकेन्द्रीकरण पर एक निबन्ध लिखिये।
3. क्राउन के प्रशासकीय नियंत्रण में प्रांतीय प्रशासन की प्रगति का वर्णन कीजिये।
4. 1858 के पश्चात ब्रिटिश प्रशासन की आर्थिक नीतियों पर प्रकाश डालिये
5. भारत में लोक सेवाओं के इतिहास पर एक संक्षिप्त निबंध लिखिये।
6. 1858 ई० से 1947 ई० तक भारत में लोक सेवाओं का विकास किस प्रकार हुआ?

ब्रिटिश सत्ता का रजवाड़ों के साथ सम्बन्ध

2.1. प्रस्तावना

2.2. उद्देश्य

2.3 'रजवाड़े' या 'देशी रियासतों' से तात्पर्य

2.4 रजवाड़ों के प्रति ब्रिटिश नीति के विभिन्न सोपान

2.5 ईस्ट इंडिया कंपनी का भारतीय रियासतों से समानता प्राप्त करने के लिये संघर्ष 1740-1765 ई०

2.6 अपने सुरक्षित घेरे में सीमित रहने की नीति 1765-1813 ई०

2.6.1 सहायक संधि प्रथा

2.7 अधीनस्थ पृथक्करण की नीति 1813-1857 ई०

2.7.1 लार्ड हेस्टिन्ज एवं ब्रिटिश सर्वोच्चता की भावना का विकास

2.7.2 लार्ड विलियम बेंटिंक का काल

2.7.3 लार्ड डलहौज़ी एवं उसकी राज्य हड़प नीति

2.8 अधीनस्थ सहयोग/एकीकरण की नीति 1857-1935 ई०

2.8.1 1858 से 1906 तक ब्रिटिश नीति

2.8.2 अधीनस्थ संधीय/सहयोग की नीति

2.8.3 मिंटो और हार्डिंज द्वारा ब्रिटिश नीति में संशोधन

2.8.4 नरेन्द्र मंडल की स्थापना

2.8.5 बटलर कमेटी की रिपोर्ट

2.9 बराबर के संघ की नीति 1935-47 ई०

2.10 सारांश

2.11 तकनीकी शब्दावली

2.12 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

2.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

2.14 सहायक / उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.15 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

ब्रिटिश सरकार के साथ रजवाड़ों के संबन्ध आधुनिक इतिहास के बहुत रोचक विषयों में से एक है। इस इकाई के अंतर्गत आप देखेंगे कि किस प्रकार धीरे-धीरे स्वतन्त्र या अर्ध-स्वतन्त्र राज्य तथा सामन्तों ने भारतीय ब्रिटिश सरकार की अधीनता स्वीकार की तथा उसे प्रमुख सत्ता माना। भारतीय रियासतों (रजवाड़ों) का जबसे अंग्रेजों के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ तभी से और विशेषकर पिछली शताब्दी से रियासतें अपनी सत्ता खोती गईं। अब वे केवल उसी शक्ति का प्रयोग कर सकती थीं जो उन्हें ब्रिटिश सरकार से प्राप्त हुई थी। इस राजनैतिक संबन्ध को सर्वोच्चता (Paramountacy) शब्द से संबोधित किया गया। सर्वोच्चता शब्द का अभिप्राय है- एक शक्ति का नियन्त्रण एवं दूसरी शक्ति की पराधीनता। इसी शक्ति का प्रयोग भारत सरकार ने देशी रियासतों तथा नरेशों के प्रति किया।

इस इकाई में आपको ब्रिटिश सत्ता के साथ रजवाड़ों के बनते बिगड़ते संबन्धों का क्रमिक इतिहास बताया जायेगा। आप रजवाड़ों के उत्थान-पतन के बारे में जानेंगे।

इस इकाई में आप यह भी जानेंगे कि सहायक संधि प्रथा एवं व्यपगत सिद्धांतों की आड़ में किस प्रकार ब्रिटिश सरकार ने भारतीय रियासतों पर अपनी सर्वोच्च सत्ता स्थापित कर संपूर्ण भारत को अपने प्रशासकीय नियंत्रण में रखा जिसकी अंतिम परिणति 1947 ई० में हुई।

2.2 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित विषयों के बारे में जानने योग्य हो जायेंगे-

- देशी रियासतें किस प्रकार अस्तित्व में आयीं। रजवाड़े कौन थे।
 - स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व तक भारत में कुल कितनी बड़ी-छोटी रियासतें थीं।
 - ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने किस प्रकार अपने व्यापारिक उद्देश्यों को पूरा करते-करते संपूर्ण भारत पर अपनी सर्वोच्चता स्थापित कर ली।
 - किस प्रकार अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये देशी नरेश ब्रिटिश साम्राज्य के रक्षा स्तम्भ बन गये।
 - स्वतंत्रता प्राप्ति के क्रम में अंततः भारत या पाकिस्तान में विलय के बाद ही इनकी समाप्ति हुई।
-

2.3 'रजवाड़े' या 'देशी रियासतों' से तात्पर्य

1947 ई० तक भारत भौगोलिक दृष्टि से एक होते हुए भी राजनीतिक कारणों से मुख्य रूप से दो भागों में बँटा हुआ था। विभाजन सुनियोजित न था, अपितु ऐतिहासिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप अव्यवस्थित था। एक भाग को 'ब्रिटिश भारत' कहा जाता था और दूसरे को कोई सही नाम न होने की स्थिति में 'भारतीय भारत', 'रियासती भारत' या 'देशी रियासत' या 'रजवाड़े' कहा गया। ब्रिटिश भारत पर अंग्रेजों का प्रशासन था। पहले ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से तथा 1857 ई० के बाद में ब्रिटिश 'क्राउन' की ओर से इसका प्रशासन चलता था। दूसरा भाग अर्थात् देशी रियासतें स्थानीय नरेशों के अधीन थीं। अधिकतर रियासतों में प्रशासन निरंकुश था, जहाँ राजा सभी प्रशासकीय क्षेत्रों में मनमाने ढंग से प्रशासन

करता था। वास्तव में अधिकतर रियासतें राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक पिछड़ेपन के गढ़ थे। डा० रघुवीर सिंह का मत है कि- “वस्तुतः ब्रिटिश भारत एक राजनीतिक इकाई था। उसमें एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार शासन-सूत्र सँभाले हुए थी। जबकि देशी रियासतें एक राजनीतिक इकाई न होकर भिन्न-भिन्न राजनीतिक सत्ता थीं, जिनका प्रशासन एक दूसरे से भिन्न था।” स्वतंत्रता के पूर्व तक इनकी संख्या 562 थी। ये देशी रियासतें न तो एक समान थीं न ही एक क्षेत्र में थीं, अपितु देश के विभिन्न भागों में बिखरी हुई थीं। इनके आस-पास अथवा बीच में सामान्यतया ब्रिटिश सरकार के अधीन भू-भाग थे। कुछ देशी रियासतें बहुत बड़ी थीं किन्तु अधिकतर बहुत छोटी। जैसे-जम्मू-कश्मीर और हैदराबाद ऐसी रियासतें थी जो हजारों वर्गमील भू-भाग में फैली हुई थीं जबकि ऐसी रियासतें भी थीं जिनमें मात्र 100 लोगों की आबादी थी। क्षेत्रीय असमानता के कारण इनकी आर्थिक स्थिति में भी असमानताएँ थीं। इस इकाई में विचार करेंगे कि किस प्रकार ऐसी स्थिति आयी तथा इन देशी रियासतों के साथ ब्रिटिश सरकार के संबंध किस प्रकार के रहे।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. अति लघु उत्तरीय प्रश्न

- a) स्वतंत्रता के पूर्व तक देशी रियासतों की संख्या कितनी थी?
- b) सबसे बड़ी रियासतें कौन कौन सी थीं?

2.4 रजवाड़ों के प्रति ब्रिटिश नीति के विभिन्न सोपान

देशी राज्यों की स्थापना मुगलकाल में विशेषतया औरंगजेब की मृत्यु (1707) के बाद शुरू हुई थी, जब से मुगल साम्राज्य का पतन शुरू हुआ। केन्द्रीय शासन के कमजोर हो जाने से स्थानीय प्रान्तपतियों और नवाबों की बन आयी और वे एक-एक कर के अपने को स्वतंत्र घोषित करने लगे। इसी क्रम में भारत में कई राज्यों का उदय हुआ। भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना का क्रम इन्हीं राज्यों को विजित करने के साथ शुरू हुआ। 1757 ई० में पलासी युद्ध के पश्चात् ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार आरम्भ हुआ तथा भारत के राजनैतिक नक्शे में बहुत से परिवर्तन हुए। कंपनी ने इन्हीं शासकों की दुर्बलता से लाभ उठाया। हैदराबाद, अवध और राजपूत रियासतों को कंपनी में विलय नहीं किया गया अपितु उन्होंने मात्र कंपनी की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली। कुछ रियासतों की अंग्रेजों ने हस्तक्षेप करके मुगलों एवं मराठों से रक्षा की। 19वीं शताब्दी के मध्य तक अंग्रेजों की प्रभुसत्ता लगभग सभी भारतीय रियासतों पर स्थापित हो चुकी थी। यद्यपि ब्रिटिश सरकार की रियासतों के प्रति कोई निश्चित नीति नहीं थी तथापि उन्होंने देश, कारक एवं परिस्थिति के अनुसार राजनैतिक सर्वोच्चता को प्राप्त करने के लिये विभिन्न प्रकार की नीतियों का अनुसरण किया। सर विलियम ली वार्नर ने भारतीय राज्यों के साथ अंग्रेजों के विषय में विशेष अध्ययन किया। उन्होंने अपनी पुस्तक ‘दि नेटिव स्टेट्स ऑफ़ इंडिया’ जो 1910 में लंदन से प्रकाशित हुई, (यह पुस्तक 1910

तक की घटनाओं के लिये ही उपयोगी है) में अंग्रेजों के साथ भारतीय रियासतों के सम्बन्धों को अध्ययन की सुविधा हेतु तीन चरणों में विभाजित किया और सामान्यतः उन्हें अपना लिया गया है।

1-1757-1813 तक घरे की नीति

2- 1813-1857 तक अधीनस्थ पार्थक्य नीति

3- 1857 के पश्चात चलने वाली अधीनस्थ एकीकरण की नीति

वर्तमान में अधिकांश इतिहासकारों ने ब्रिटिश सत्ता के साथ रजवाड़ों के संबन्धों को अध्ययन की सुविधा हेतु पाँच चरणों में बाँटा है, प्रत्येक भाग की कुछ विशेषताएं थीं तथा कुछ अपवाद भी थे। जिनका अध्ययन आप इस इकाई में करेंगे।

1-कंपनी का भारतीय रियासतों से समानता प्राप्त करने के लिये संघर्ष 1740-1765 ई०

2-अपने सुरक्षित घरे में सीमित रहने की नीति (The Ring Fence Policy) 1765-1813 ई०

3-अधीनस्थ पृथक्करण की नीति (The Policy of subordinate Isolation) 1813-1857 ई०

4-अधीनस्थ सहयोग या एकीकरण की नीति (The Policy of Subordinate Union) 1857-1935 ई०

5-बराबर के संघ की नीति (The Policy of Equal Federation) 1935-47 ई०

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न:

1. अति लघु उत्तरीय:

I.सर विलियम ली वार्नर की पुस्तक का नाम बताइये।

2. निम्न लिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये:

I. ली वार्नर ने रजवाड़ों के साथ अंग्रेजों के संबन्धों को किन किन भागों में बाँटा है?

II. देशी रियासतों के अभ्युदय किन परिस्थितियों का परिणाम है?

अब आप प्रत्येक चरण में ब्रिटिश शासकों द्वारा अपनायी गयी नीतियों का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

2.5 ईस्ट इंडिया कंपनी का भारतीय रियासतों से समानता प्राप्त करने के लिये संघर्ष 1740-1765 ई०

1740 ई० से पूर्व ईस्ट इंडिया कंपनी एक व्यापारिक कंपनी थी तथा इसकी कुछ राजनीतिक आकांक्षाएं भी थीं। किन्तु जब अन्य कंपनियों (जैसे फ्रांसीसी एवं डच ईस्ट इंडिया कंपनी) के साथ व्यापारिक प्रतिस्पर्धा में दिक्कतें आने लगीं तो ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भी व्यापारिक हितों की रक्षा के लिये अपने राजनीतिक प्रभावों को बढ़ाना प्रारम्भ किया। इसी क्रम में 1757 ई० में पलासी के युद्ध के पश्चात ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार प्रारम्भ हुआ। पलासी युद्ध विजित कर अंग्रेजों ने बंगाल के नवाबों को

अपने हाथ की कठपुतली बनाये रखा। क्लाइव भविष्य के भारत में ब्रिटिश शासन का संस्थापक एवं अगुआ बन गया। तत्पश्चात बक्सर के युद्ध के बाद 1765 ई० में इलाहाबाद की संधि द्वारा कंपनी ने मुगल सम्राट शाहआलम से बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा की 'दीवानी' प्राप्त कर ली। इस प्रकार भारत की अन्य रियासतों के समान कंपनी को भी कर वसूल करने वाले गवर्नर का पद प्राप्त हो गया और कंपनी को भारतीय रियासतों के समान बराबर का अस्तित्व मिल गया।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न:

1. अति लघु उत्तरीय प्रश्न:
 - I. पलासी का युद्ध कब हुआ?
 - II. इलाहाबाद की संधि कब हुई?
 - III. 'दीवानी' का तात्पर्य क्या है?

2.6 अपने सुरक्षित घेरे में सीमित रहने की नीति (The Ring Fence Policy) 1765-1813

बराबरी की स्थिति में आने के पश्चात कंपनी को अपने अधीनस्थ प्रदेशों की सुरक्षा की चिन्ता थी। अतः यह स्वाभाविक था कि उस समय कंपनी ने अन्य राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति अपनायी। कंपनी ने अपने राज्य के चारों ओर मध्य राज्य (Buffer state) बनाने का प्रयत्न किया। इसका तात्पर्य यह है कि कंपनी का उद्देश्य था कि अपने पड़ोसी राज्यों की सीमाओं की रक्षा करो, जिससे अपने राज्य की सीमाएँ स्वतः सुरक्षित रहें। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कंपनी ने इन राज्यों के आंतरिक मामलों में फिलहाल हस्तक्षेप नहीं किया किन्तु कंपनी ने यह कोशिश अवश्य की कि इन भारतीय रियासतों का आपस में मेलजोल न हो पाये।

तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए घेरा डालने की नीति अपनाना अंग्रेजों के लिये फायदेमंद साबित हुआ। उनका प्रयत्न था कि वे सुरक्षित घेरे में ही सीमित रहें। घेरा डालने की नीति का सबसे अच्छा उदाहरण अवध के साथ अंग्रेजों के संबन्ध से दिया जा सकता है। बंगाल सूबे को मराठों के हमले से बचाने के लिये कंपनी ने अवध का उपयोग घेरे के रूप में किया। इस समय तक अंग्रेज बहुत शक्तिशाली नहीं थे। वे भारत की अन्य महत्वपूर्ण शक्तियों जैसे- मराठा, फ्रांसीसी, हैदराबाद के निज़ाम एवं मैसूर के सुल्तान के समान ही महत्वपूर्ण शक्ति थे। अतः वे भारत के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने में सक्षम नहीं थे।

आप यह जान लें कि अंग्रेजों द्वारा हस्तक्षेप न करने की नीति नैतिकता पर आधारित नहीं थी। यह लचीली व्यवस्था थी जो कि विभिन्न गवर्नर जनरलों के अधीन बदली जा सकती थी। कुछ मामलों में कंपनी ने भारतीय रियासतों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप भी किया। उदाहरण के तौर पर वारेन हेस्टिंग्स के समय प्रथम मराठा युद्ध (1776-82 ई०) में तथा द्वितीय मैसूर युद्ध (1780-84 ई०) अन्य भारतीय रियासतों के

साथ बराबरी की पदवी प्राप्त करने की भावना से लड़ा गया। लार्ड कार्नवालिस के काल में मैसूर के तृतीय युद्ध (टीपू के साथ) द्वारा उसके लगभग आधे राज्य को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया।

इतिहासकार के० एम० पनिक्कर ने अपनी पुस्तक 'ब्रिटिश पालिसी टूवर्ड्स इंडियन स्टेट्स' में स्पष्ट किया कि इस काल की दो मुख्य विशेषताएँ थीं। पहली, यह कि (मैसूर को छोड़कर) समस्त संधियाँ समानता के आधार पर की गईं। कंपनी ने अपनी प्रमुखता स्थापित करने की चेष्टा नहीं की। दूसरे, इन संधियों द्वारा इस बात पर विशेष ध्यान दिया गया कि शासक का अपनी प्रजा पर पूर्ण अधिकार बना रहे तथा उसके भीतरी मामलों में हस्तक्षेप न किया जाये।”

लार्ड रिचर्ड वेलेजली (1795-1805ई०) के बंगाल का गवर्नर जनरल बनकर आने के पश्चात कंपनी के भारतीय रियासतों के साथ संबन्धों में परिवर्तन आया। उसने हस्तक्षेप की नीति का अनुसरण करने तथा भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार तथा कंपनी की सर्वोच्चता स्थापित करने का दृढ़ संकल्प किया। इस समय भारत में कंपनी की स्थिति डाँवाडोल थी। देशी राज्यों का पारस्परिक संघर्ष बढ़ता जा रहा था। अतः रियासतें अपनी रक्षा एवं शक्ति बढ़ाने के उपायों के बारे में सोच रही थीं। वेलेजली ने इसी अवसर का लाभ उठाया। अपनी नीति के अनुकूल उसने दो प्रमुख लक्ष्य निर्धारित किये-

1-भारत में कंपनी की सत्ता को सर्वोपरि बनाना तथा भारतीय रियासतों को अपनी रक्षा के लिये कंपनी पर निर्भर रहने के लिये बाध्य करना।

2-भारत को फ्रांसीसी प्रभाव से मुक्त करना

इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये वेलेजली ने जिस नीति का अनुसरण किया उसे 'सहायक संधि प्रथा' (Subsidiary Alliance System) कहते हैं। उसने भारतीय रियासतों के साथ एक विशेष प्रकार की संधि करके ब्रिटिश कंपनी के साम्राज्य का विस्तार किया, भारतीय राजाओं के दरबार और उनकी राजनीति में अंग्रेजों के प्रभाव को बढ़ाया तथा भारत में फ्रांसीसी प्रभाव को समाप्त किया।

2.6.1 सहायक संधि प्रथा

यहाँ आप यह जान लें कि वास्तव में सहायक संधि प्रथा का स्वरूप क्या था-

1-सहायक संधि ब्रिटिश कंपनी और भारतीय रियासतों के बीच होती थी।

2-सहायक संधि के अनुसार

-कंपनी देशी राज्यों को सैनिक सहायता देने का वचन देती थी तथा उसके बदले में निश्चित आर्थिक सहायता लेती थी।

-देशी रियासतों को कंपनी का आधिपत्य मानना पड़ता था। अब कंपनी की अनुमति के बिना वे किसी राज्य से मैत्री या युद्ध नहीं कर सकते थे।

-अंग्रेजों को छोड़कर किसी यूरोपीय को अपने यहाँ नौकरी पर नहीं रख सकते थे।

-उन्हें अपनी रियासतों में अंग्रेजी फौज रखनी पड़ती थी। उस फौज का खर्च उठाना पड़ता था।

-अपनी रियासत में एक अंग्रेज रेजीडेंट रखना पड़ता था जो देशी नरेशों एवं कंपनी के बीच मध्यस्थ की भूमिका में रहता था।

-अन्य राज्यों से झगड़े में कंपनी 'पंच' की भूमिका निभाती थी।

-कंपनी आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का वचन देती थी।

3-पहले मित्र राज्यों पर सहायक संधि थोपी गई तत्पश्चात कुछ राज्यों पर युद्ध एवं विजय प्राप्त करके बलपूर्वक सहायक संधि लागू कि गई।

हैदराबाद के निज़ाम एवं अवध के नवाब के साथ बिना युद्ध के दबाव डालकर तथा मराठों एवं मैसूर को युद्ध में परास्त करके सहायक संधि की गई। कुछ छोटी रियासतों पूना एवं बड़ौदा को भी सहायक संधि के अन्तर्गत लाया गया।

वेलेजली जब भारत से लौटा तो वह लगभग सभी प्रमुख शक्तिशाली राज्यों को सहायक संधि के दायरे में ला चुका था। भारतीय रियासतों की स्थिति में बड़ा परिवर्तन आ चुका था यहाँ आपको यह बताना आवश्यक है कि जिन राज्यों ने सहायक संधि को मान्यता नहीं दी थी वे राज्य भी ब्रिटिश सरकार के प्रभाव से अछूते नहीं रहे।

विभिन्न फायदों के साथ-साथ रिंग फेंस नीति अंग्रेजों के लिये दो प्रकार से हानिकारक थी। पहला, तो यह कि कंपनी को अपने मित्र शक्तियों की चाहे उनमें युद्ध करने की क्षमता न हो, सहायता करनी पड़ती थी। दूसरे, दो मित्र शक्तियों के बीच युद्ध की स्थिति में असमंजस की स्थिति आ जाती थी।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1-अति लघु उत्तरीय प्रश्न

i के० एम० पनिकर की पुस्तक का क्या नाम है?

ii सहायक संधि किसके-किसके बीच होती थी?

2-लघु उत्तरीय प्रश्न

i लार्ड वेलेजली की नीतियों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

ii सहायक संधि प्रथा पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

2.7 अधीनस्थ पृथक्करण की नीति 1813-1857 (The Policy of Subordinate Isolation)

इस समय तक देश के शक्ति संतुलन में एक बहुत बड़ा अंतर आ गया था। अंग्रेजों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। उन्होंने अन्य यूरोपीय शक्तियों पर विजय पा ली थी और कंपनी की सेना किसी भी भारतीय शक्ति को दबाने के लिये तैयार खड़ी थी। इस अवधि में कंपनी को किसी भारतीय राज्य से सहायता लेने की आवश्यकता नहीं थी।

2.7.1 लार्ड हेस्टिन्ज एवं ब्रिटिश सर्वोच्चता की भावना का विकास

इस काल की खास बात यह है कि कंपनी ने लगभग सभी भारतीय राज्यों को अधीन बनाया तथा उन्हें सहायक संधि मानने के लिये बाध्य किया। लार्ड हेस्टिन्ज (1813-1823ई०)के युद्धों ने कंपनी के साथ

भारतीय रियासतों के संबंधों में एक नया मोड़ दिया। साम्राज्यवाद की भावना जाग उठी और सर्वश्रेष्ठता के सिद्धान्त का विकास होना आरम्भ हुआ। उसने सहायक संधि को विस्तार देते हुए मध्य भारत के 145 राज्यों, काठियावाड़ के 145 राज्यों तथा राजपूताने के 20 राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में विलय किया। कूटनीति का सहारा लेकर लार्ड हेस्टिंग्स ने 'मराठा संघ' की विभिन्न शक्तियों पेशवा, भोंसले, सिन्धिया एवं होल्कर की शक्तियों को छिन्न-भिन्न करके कंपनी के अधीन करने का दृढ़ निश्चय किया। लार्ड हेस्टिंग्स के प्रयासों से पंजाब एवं सिन्ध को छोड़कर समस्त भारत पर ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष आधिपत्य स्थापित हो चुका था।

अब इन राज्यों के साथ जो संधियां की जाती थीं, उनमें मैत्री संबंधों के स्थान पर कंपनी की सर्वश्रेष्ठता को स्वीकार करने की बात थी। यद्यपि इन संधियों में उन राज्यों की आंतरिक स्वतंत्रता स्वीकार की गई परन्तु वास्तविकता इससे भिन्न थी। ब्रिटिश सरकार ने किसी राज्य के विषय में तभी रुचि दिखायी जब उसका निजी स्वार्थ था। ब्रिटिश नीति अस्पष्ट एवं परस्पर विरोधी थी। कभी कंपनी किसी देशी राज्य के प्रशासन की छोटी से छोटी बात में रुचि लेने लगती थी तो कभी राज्यों को प्रशासन चलाने की पूरी छूट दे देती थी। लार्ड हेस्टिंग्स देशी रियासतों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने के पक्ष में नहीं था। लार्ड हेस्टिंग्स के पश्चात् कंपनी का रियासतों के आंतरिक प्रशासन में प्रभाव बढ़ना आरम्भ हो गया। जो रेजीडेंट प्रारम्भ में कंपनी और रियासतों के मध्य संपर्क साधन थे, अब नियंत्रण अधिकारी (controlling agent) के रूप में तानाशाह बन गये।

1833 ई० के चार्टर द्वारा कंपनी के व्यापारिक अधिकार समाप्त हो गये। रियासतों के प्रति नीति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ कि उत्तराधिकार के प्रश्न पर उन्हें कंपनी की पूर्व अनुमति लेनी पड़ती थी।

2.7.2 लार्ड विलियम बेंटिंक का काल

बेंटिंक के समय से रियासतों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लेने का सिलसिला तेज हो गया। विस्तारवादी गवर्नर जनरल 'कुप्रशासन' एवं 'वास्तविक उत्तराधिकारियों' के संबन्ध के झगड़े का बहाना बनाकर रियासतों में हस्तक्षेप करने लगे और राज्यों को कंपनी में मिलाने लगे। इस संबंध में 1848 ई० में सर हेनरी लारेन्स ने कहा था-“कंपनी की योजना थी कि महाराजा और उसके मंत्री विदेशी तलवारों पर निर्भर रहें और रेजीडेंट द्वारा निर्देशन प्राप्त करें”। इसी प्रकार कार्ल मार्क्स ने कहा-“स्थानीय राज्यों के विषय में यह हुआ कि जिस दिन से वे कंपनी द्वारा रक्षित हुए या उसके सहायक बन गये उसी दिन से राज्यों का अस्तित्व समाप्त हो गया”। कालान्तर में बेंटिंक ने 1831 में मैसूर, 1832 में कचार, 1834 में कुर्ग, 1835 में जैतिया रियासतें तथा आकलैंड ने करनूल मांडवी, कोलाबा और जालौन अंग्रेजी राज्य में विलय कर लीं।

2.7.3 लार्ड डलहौज़ी एवं उसकी राज्य हड़प नीति

लार्ड डलहौज़ी (1848-56 ई०) जब गवर्नर जनरल बनकर आया, उस समय तक सर्वोच्चता अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। ऐसा मालूम पड़ने लगा कि छोटे बड़े सभी राज्यों का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। देशी नरेश आशंकित और आतंकित हो उठे। जनमानस पर भी इसका प्रभाव पड़ा। उत्तराधिकार का

निर्णय, कुशासन का आरोप लगाकर कंपनी द्वारा हस्तक्षेप करना सब मान्यता पा चुका था। गोंद लेने की प्रथा का निषेध करके कई स्वतन्त्र राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया। डलहौजी का काल ब्रिटिश सर्वोच्चता के विस्तार के कारण महत्वपूर्ण समझा जाता था। अपनी साम्राज्यवादी नीति को कार्यान्वित करने के लिये डलहौजी ने तीन उपायों का आश्रय लिया।

- युद्ध द्वारा पराजित करके- जैसे पंजाब एवं बर्मा
- कुशासन एवं भ्रष्टाचार का आरोप लगाकर- जैसे बरार एवं अवध
- गोंद लेने की प्रथा का निषेध एवं विलय करके-सतारा, नागपुर, झांसी उदयपुर इत्यादि।

डलहौजी का विचार था कि देशी राज्यों के पास नियमपूर्वक उत्तराधिकारी के न होने पर वह रियासत स्वतः ब्रिटिश साम्राज्य में विलय हो जायेगी। अपनी साम्राज्यवादी नीति को प्राप्त करने के लिये डलहौजी ने भारतीय राज्यों को तीन श्रेणियों में बाँटा।

- वे भारतीय राज्य जो प्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजों द्वारा स्थापित किये गये थे।
- वे राज्य जो अंग्रेजों के अधीनस्थ थे।
- वे जो स्वतन्त्र थे।

उक्त तीन श्रेणियों में विभाजित करके डलहौजी ने यह आदेश निकाला कि-

- प्रथम श्रेणी के नरेशों को बच्चा गोंद लेने का अधिकार नहीं रहेगा।
- द्वितीय श्रेणी के नरेशों के लिये यह आवश्यक था कि वे बच्चा गोंद लेने से पहले अंग्रेजों की स्वीकृति लें।
- तृतीय श्रेणी के नरेश किसी भी बच्चे को गोंद लेने के लिये स्वतन्त्र थे।

संतानहीन नरेश अंग्रेजों की अपार सैनिक शक्ति का विरोध न कर सके तथा उनकी इच्छा के विरुद्ध डलहौजी ने अनैतिक रूप से उनके राज्य छीन लिये। इस नीति के शिकार बने सतारा, नागपुर, झांसी, संभलपुर, जैतपुर, बघात तथा उदयपुर। कुशासन का आरोप लगाकर हैदराबाद के निजाम से बरार का प्रांत तथा अवध को अंग्रेजी शासन में मिला लिया।

भारत में कुछ ऐसे देशी राज्य थे जिन्हें कंपनी ने अपने राज्य में मिला लिया था लेकिन उनके शासकों को पेंशन मिलती थी। डलहौजी ने इस आधार पर उनके पदों एवं पेंशनों को समाप्त कर दिया कि पद अथवा पेंशन परम्परागत नहीं होते तथा पेंशनभोक्ता के उत्तराधिकारी को वे नहीं मिलने चाहिये। इसके उदाहरण हैं-पेशवा बाजीराव द्वितीय की मृत्यु के बाद उनके दत्तक पुत्र नाना साहब की पेंशन बंद करना, कर्नाटक एवं तंजौर के नरेशों की मृत्यु के बाद उनके वंशजों को पदवी से वंचित कर दिया, मुगल सम्राट के साथ भी बुरा बर्ताव करके पेंशन की धनराशि कम कर दी गई तथा किला खाली करने को बाध्य किया गया। उक्त विश्लेषण के पश्चात आप यह समझ गये होंगे कि 1818 ई० में कंपनी की सर्वश्रेष्ठता स्थापित हो जाने के बाद भी कंपनी की रियासतों के प्रति नीति पूर्णतया “अव्यवस्थित, अस्पष्ट और प्रायः परस्पर विरोधी” ही थी। जैसा कि के० एम० पतिङ्कर ने लिखा है-“कंपनी के अधिकारी इस विषय में शासकों को ज़मींदार, सामन्त, कर देने वाले सहायक अथवा स्वतंत्र शासक के रूप में स्वीकार करते थे”। एक ओर कई रियासतें विलय कर ली गईं तो दूसरी ओर कुछ रियासतों को विश्वास दिलाया गया कि उनके आंतरिक मामलों में

हस्तक्षेप नहीं किया जायेगा। इन सभी स्थितियों का जनमानस पर विपरीत प्रभाव पड़ा। देशी राज्यों के प्रति नीति 1857ई० के विद्रोह का प्रमुख कारण बनी।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न:

1-अति लघु उत्तरीय प्रश्न:

- i-विस्तारवादी गवर्नर जनरल किन बहानों से रियासतों में हस्तक्षेप करने लगे?
- ii-किस गवर्नर जनरल के काल में सर्वोच्चता अपनी चरमसीमा पर पहुँच गई?

2-लघु उत्तरीय प्रश्न:

- i-रियासतों में रेजीडेंट की भूमिका पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।
- ii-लार्ड हेस्टिंग्स द्वारा रजवाड़ों के प्रति अपनाई गई नीतियों पर टिप्पणी लिखिये।
- iii-लार्ड डलहौजी की राज्य हड़प नीति पर प्रकाश डालिये।

2.8 अधीनस्थ सहयोग/एकीकरण की नीति 1857-1935(The Policy of Subordinate Union)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है 1857 ई० की क्रान्ति के बाद 1858 ई० में ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन समाप्त कर दिया गया और भारत के प्रशासन का दायित्व 'क्राउन' ने स्वयं संभाल लिया। इस बड़े संवैधानिक परिवर्तन के कारण और 1857 के विद्रोह की समाप्ति के बाद, अंग्रेजों ने देशी रियासतों के प्रति अपनायी गई नीति पर नये सिरे से विचार किया। विद्रोह के तुरन्त बाद जिस नीति का सूत्रपात किया गया उसी नीति को ब्रिटिश सरकार 1947 तक अपनाये रही। इस नीति को 'अधीनस्थ एकीकरण' की नीति कहा गया है। जिसके दो रूप दिखायी देते हैं। 1858 ई० से 1906 ई० तक ब्रिटिश सरकार देशी राज्यों को शंका की दृष्टि से देखती थी। इन राज्यों के नरेशों को एक दूसरे से अलग रखा गया तथा नरेशों पर नियंत्रण बनाये रखना आवश्यक समझा। किन्तु 1906 ई० से मिन्टो ने देशी नरेशों से संपर्क बढ़ाना शुरू कर दिया तथा राष्ट्रीय आंदोलन का विरोध करने के लिये इन नरेशों से मिलकर कार्य करने की नीति अपनायी गई। जब संवैधानिक परिवर्तनों का प्रश्न महत्वपूर्ण हो गया तो देशी राज्यों के भविष्य का प्रश्न सभी पक्षों के लिये चिंता का विषय बन गया। ब्रिटिश भारत और देशी राजाओं के अधीनस्थ प्रदेशों को मिलाकर देश की एकता की पुनर्स्थापना करने का प्रश्न देश की आजादी के समय एक पेचीदा प्रश्न बन गया। इस संक्षिप्त विश्लेषण के पश्चात आप इकाई के इस खण्ड का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

2.8.1 1858 से 1906 तक ब्रिटिश नीति

1857 ई० की क्रान्ति के फलस्वरूप भारत में अधीनस्थ एकता की नयी नीति का सूत्रपात हुआ। सबसे पहले हमें यह विचार करना है कि विद्रोह ने ब्रिटिश सरकार को किस प्रकार प्रभावित किया। विद्रोह

के दो प्रभाव स्पष्ट दिखाई दिये। पहला, यह कि ब्रिटिश सरकार की समझ में आ गया कि देशी राजाओं की भावनाओं की परवाह न करने से देश में कभी भी उनके विरुद्ध विस्फोट फिर हो सकता है। दूसरा, प्रभाव यह पड़ा कि विद्रोह के दौरान ब्रिटिश सरकार ने देखा कि देशी राजाओं का सहयोग भी विदेशी साम्राज्य को बनाये रखने में कितना मूल्यवान हो सकता है। विद्रोह के समय अनेक देशी राजाओं ने ब्रिटिश सरकार का साथ दिया था। यदि इन नरेशों ने अंग्रेजों का विरोध करने का निश्चय कर लिया होता तो ब्रिटिश सरकार को विद्रोह का मुकाबला करना कठिन हो जाता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ब्रिटिश सरकार ने देशी राज्यों के सहयोग के महत्व को समझा। इस कारण 1857 ई० के पूर्व की नीतियों को बदलना आवश्यक समझा।

1857 ई० की क्रान्ति के समाप्त होते ही ब्रिटिश साम्राज्यी विक्टोरिया की घोषणा द्वारा देशी नरेशों को सन्तुष्ट करने का प्रयास किया गया। साफ-साफ शब्दों में इस घोषणा में कहा गया कि-“हम अपने अधीन वर्तमान सीमाओं का विस्तार करने का कोई इरादा नहीं रखते और हम देशी नरेशों के अधिकारों, प्रतिष्ठा और मान मर्यादा का उसी प्रकार सम्मान करेंगे जिस प्रकार हम अपने अधिकारों के लिये सम्मान देते हैं”।

इस घोषणा के बाद के वर्षों में भारत सरकार और भारतीय रियासतों के संबंधों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये। विलय की नीति का परित्याग कर व्यपगत सिद्धांत गहरे में दबा दिया गया। स्वामिभक्त देशी नरेशों को अनेक अधिकार लौटा दिये गये। गोंद लेने के अधिकार हेतु लिखित ‘सनदें’ दी गयीं। इसका देशी नरेशों पर बहुत अच्छा असर पड़ा और वे बड़े उत्साह से ब्रिटिश सरकार की हर आज्ञा मानने को तैयार हो गये। ब्रिटिश सरकार ने 160 सनदें जारी कीं। सनदों के द्वारा भारतीय नरेशों को आश्वासन दिया गया कि जब तक वे ब्रिटिश सरकार के प्रति स्वामिभक्त रहेंगे एवं संधियों का पालन करेंगे, उन्हें कोई हानि नहीं पहुँचायी जायेगी। प्रोफेसर डाडवेल के मतानुसार- “सनदों के द्वारा ये राज्य ब्रिटिश सरकार के अंग बन गये। देशी नरेशों ने ब्रिटिश साम्राज्य की सदस्यता बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार की। इन नरेशों के सहयोग से ब्रिटिश सरकार अपने साम्राज्य में विद्रोहों को शांत करना चाहती थी”। विलय न होने के अधिकार के लिये रियासतों को भारी मूल्य चुकाना पड़ा। भारतीय राजाओं की स्थिति गिर गई।

1858 ई० के बाद स्पष्ट रूप से ब्रिटिश प्रशासकों ने सर्वोच्च सत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। मुगल सम्राट के प्रभुत्व का ढोंग समाप्त हो गया। 1858 पूर्व तक यह दिखावा बना रहा था कि देशी राज्यों और कंपनी के बीच समानता थी। विद्रोह के उपरांत यह बनावटी स्थिति समाप्त कर दी गयी। अब ब्रिटिश ‘ताज़’ (क्राउन) भारत में सर्वश्रेष्ठ शक्ति एवं असंदिग्ध शासक के रूप में उपस्थित था। अतः सभी उत्तराधिकारियों को ताज़ की अनुमति लेनी पड़ती थी। अब गद्दी पर देशी शासक का पैतृक अधिकार नहीं रह गया था अपितु अब यह ब्रिटिश क्राउन से उपहार के रूप में मिलती थी। भारतीय राजा को राज्य के उपभोग और प्रशासन का अधिकार था, न कि प्रभुत्व का अधिकार। उसका शासक बने रहना इस बात पर निर्भर था कि वह क्राउन के प्रति राजभक्त रहे। सामान्यतः प्रत्येक राजा ब्रिटिश रेजीडेंट द्वारा राजगद्दी पर बैठाया जाता था। राजा के अल्पवयस्क होने की स्थिति में ब्रिटिश रेजीडेंट उसका संरक्षक होता था। इस प्रकार विलय की नीति के स्थान पर अब ब्रिटिश प्रतिनिधि अपने प्रशासकीय नियंत्रण के जाल को समस्त देशी रियासतों में फैलाने लगे। यह अधिकतर उधार लिये हुए अफसरों, मनोनीत दीवान तथा ब्रिटिश रेजीडेंट

की सहायता से किया जाता था। यद्यपि सर्वोच्चता के सिद्धांत की कभी स्पष्ट व्याख्या नहीं की गयी और यह अस्पष्टता ही ब्रिटिश सरकार के लिये उपयोगी थी।

केनिंग ने पहली बार ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता का सिद्धांत प्रतिपादित किया। 1862 ई० में की गई महत्वपूर्ण घोषणा की व्याख्या करते हुए के०एम०पनिक्कर कहते हैं-‘सर्वोच्च सत्ता’ और ‘सामंतों’ शब्दों का प्रयोग करके एक नयी विचारधारा का सूत्रपात किया गया। शांतिपूर्ण ढंग से एक संवैधानिक क्रान्ति हुई जिससे ब्रिटिश सत्ता सार्वभौम बन गई। बाद में महारानी विक्टोरिया को ‘भारत की साम्राज्ञी’ घोषित किया गया।

अब देशी शासकों के अधिकार, पद, प्रतिष्ठा इत्यादि सभी क्राउन की इच्छा पर निर्भर थे तथा उनका ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ की गई संधियों से कोई संबंध नहीं था। कहने का तात्पर्य यह है कि भारत सरकार ने देशी राज्यों पर अंकुश लगाते समय संधि की व्यवस्थाओं की जैसी चाही व्याख्या की और देशी नरेश उनके कार्यों के विरुद्ध कोई आवाज उठा नहीं सके।

इस अवधि में प्रशासनिक दृष्टि से तथा आर्थिक प्रगति का निर्णय करते समय भारत सरकार ने समूचे भारत को एक ही माना। रेलवे लाइन, अन्य संचार के साधन, कर संबंधी व्यवस्था, मुद्रा व्यवस्था, शिक्षा व्यवस्था, न्याय व्यवस्था की प्रगति संपूर्ण भारत में एक समान लागू की गई। जिससे यदि रियासतों को कोई नुकसान हो रहा था तो उनकी कोई सुनवायी नहीं हुई।

धीरे-धीरे रियासतों में नियुक्त रेजीडेंट इतने शक्तिशाली होते गये कि ये नरेशों के भाग्य का फैसला करने लगे। इनकी शक्ति का अंदाजा के०एम०पनिक्कर की इस बात से लग सकता है कि “देशी नरेश रेजीडेंट की सलाह को आज्ञा के रूप में स्वीकार करते थे। रेजीडेंसी में होने वाली फुसफुसाहट राज्य के लिये गरज हो जाती थी”।

भारत सरकार इन रियासतों के बाह्य और विदेशी संबंधों पर भी पूरा-पूरा नियंत्रण रखती थी। वह इनकी ओर से युद्ध की घोषणा, तटस्थता और शांति संधि स्वयं कर सकती थी। इन रियासतों के लोगों को विदेश जाने के लिये भारत सरकार से पासपोर्ट लेना पड़ता था।

1858 ई०के पश्चात देशी राज्यों को विलीन होने का खतरा नहीं रहा किन्तु उनकी शक्तियां पहले से कहीं अधिक घट गयीं। विद्रोह के उपरांत भारत सरकार ने खुले आम देशी राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप के सिद्धांत पर जोर दिया। केन्द्रीय सरकार यह निर्धारित करने के लिये स्वतन्त्र थी कि यह हस्तक्षेप किस प्रकार का हो, किस समय इसका निर्णय लिया जाय और इसका वास्तविक स्वरूप क्या हो। भारत सरकार ने हस्तक्षेप करने के कई माध्यम अपनाये। जैसे-देशी राज्यों में रेजीडेंटों की नियुक्तियाँ और उनको अधिकार देना, दीवानों के चुनाव में आज्ञा जारी करना तथा अल्पवयस्क शासक होने पर राज्य के प्रशासन चलाने की जिम्मेदारी लेना। उत्तरधिकार के प्रश्न पर निर्णय देना, रियासतों के शासकों को पदच्युत करना, उन्हें दंडित करना इत्यादि।

ली वार्नर ने 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ऐसे कई मामलों पर प्रकाश डाला है जिनके द्वारा सार्वभौम सत्ता की नीति के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है। इनमें सबसे प्रमुख मामला रेजीडेंट की शिकायत

पर 'मनमाने' ढंग से बड़ौदा के गायकवाड़ पर अभियोग लगाना तथा गद्दी से उतारना। इसी प्रकार के 'मनमाने' हस्तक्षेप मणिपुर पटियाला, हैदराबाद तथा कश्मीर के मामले में हुए।

लार्ड कर्जन के काल में और उसके बाद देशी रियासतों पर ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण बढ़ता ही गया। कर्जन ने ऐसा कोई मौका नहीं छोड़ा जब उसने रियासतों के शासकों को उनकी अधीनता न महसूस करवाई हो। इस नवीन प्रवृत्ति के फलस्वरूप सभी रियासतें लगभग एक जैसी ही हो गईं चाहे वे संधि रियासतें थीं अथवा भिन्न-भिन्न अधिकार प्राप्तकर्ता। सभी रियासतें ब्रिटिश सरकार पर निर्भर थीं और भारतीय राजनैतिक पद्धति का अभिन्न अंग समझी जाती थीं।

2.8.2 अधीनस्थ संघीय/सहयोग की नीति- नरेन्द्र मंडल (1906-1947ई०) Policy of Subordinate Union-The Chamber of Princes

कर्जन के जाने के पश्चात् देशी राज्यों के साथ ब्रिटिश सरकार के संबंधों में सुधार होने आरम्भ हुए। इसका प्रमुख कारण था-भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की तीव्रता। भारतवासी ब्रिटिश सत्ता को चुनौती दे रहे थे। भारतीयों द्वारा यह पूछा जाने लगा कि अंग्रेजों को भारत पर शासन करने का क्या अधिकार है। भारत में बढ़ती हुई राजनैतिक व्यग्रता के कारण भारत सरकार ने प्रतिरक्षा की नीति अपनायी तथा रियासतों के प्रति सौहार्दपूर्ण सहकारिता की नीति अपनाई। अतः 1906 ई० के पश्चात् देशी नरेशों के प्रति 'अधीनस्थ सहयोग' की नीति अपनायी गई।

यहां यह समझ लेना आवश्यक है कि देशी नरेशों का रुख भी बदल रहा था। उन्होंने देख लिया था कि भारत सरकार ने देशी राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने की नीति छोड़ दी थी। किन्तु इसके साथ-साथ सर्वोच्च सत्ता की शक्ति जिस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ी उससे देशी नरेशों को चिन्ता हो रही थी और उन्होंने सर्वोच्च सत्ता के सिद्धांत का विरोध करने का विचार किया। इस प्रकार 20वीं शताब्दी के आरम्भिक दशक में देशी राज्यों और भारत सरकार के बीच संबंधों में परिवर्तन आया।

2.8.3 मिंटो और हार्डिंज द्वारा ब्रिटिश नीति में संशोधन

कर्जन के शासनकाल की तूफानी उत्तेजना के बाद जब लार्ड मिंटो ने वायसराय के पद पर 1905 से 1911ई० तक कार्य किया तो देशी राज्यों पर दबाव कम करने की नीति अपनायी गयी। मिंटो के समान ही उसके उत्तराधिकारी लार्ड हार्डिंज ने भी देशी रियासतों के साथ मित्रतापूर्ण संबंधों को आगे बढ़ाया। धीरे-धीरे ये नरेश ब्रिटिश साम्राज्य के सहयोगी के रूप में अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भारत की समस्याओं पर वे महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे।

2.8.4 नरेन्द्र मंडल की स्थापना

यह बात अंग्रेजी सरकार के वाइसरायों ने कई बार रखी कि देशी रियासतों के नरेशों की एक परिषद बना दी जाय जिससे कि सामूहिक हितों के मामलों पर विचार-विमर्श किया जा सके। अंततः मांटैग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों में 'नरेन्द्र मंडल या (The Chamber of Princes) का गठन हो सका। फरवरी

1921ई० में इसका विधिवत उदघाटन हुआ। देशी नरेशों के इस मंडल की स्थापना से भारत सरकार और देशी राज्यों के बीच एक नया अध्याय शुरू हुआ। इसकी स्थापना से दो उल्लेखनीय सिद्धांत स्वीकार कर लिये गये-

- देशी नरेश मिलकर उन सभी प्रश्नों पर विचार कर सकते थे जिसका प्रभाव उनके राज्यों पर पड़ता था और
- देशी नरेशों को यह अधिकार मिल गया कि वे ऐसे सभी विषयों पर मत दे सकते थे जिसका असर सारे देश पर पड़ता हो।

इस मंडल की स्थापना से देशी नरेश संगठित होने लगे और देश की राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं को प्रभावित करने लगे। देशी नरेशों के इस मंडल में 120 सदस्य थे।

2.8.5 बटलर कमेटी की रिपोर्ट

देशी नरेशों के मन में भारत सरकार की हस्तक्षेप की नीति के प्रति असन्तोष था। जब वे संगठित हुए तो एक बार फिर उन्होंने देशी राज्यों की स्वतन्त्रता की आवाज बुलन्द की। देशी नरेशों को ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता का सिद्धांत कतई पसन्द नहीं था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद देशी नरेशों ने लार्ड इर्विन से यह मांग की कि भारत सरकार से उनके राजनीतिक संबन्ध किस प्रकार हैं यह स्थिति स्पष्ट की जाय।

अंततः सरकार ने 1927ई० में देशी राज्यों और भारत सरकार के संबन्धों पर विचार करने हेतु (Indian states committee) 'भारतीय रियासतों की समिति' जिसे बटलर कमेटी कहा जाता है, की नियुक्ति की। वकीलों एवं दलीलों की लम्बी प्रक्रिया के बाद भी देशी नरेशों को विशेष लाभ नहीं हुआ। अंततः बटलर कमेटी ने निम्नलिखित सिफारिशें प्रस्तुत कीं-

- 1-रियासतों के साथ व्यवहार करने के लिये वायसराय ब्रिटिश क्राउन का एजेंट बने, कौंसिल सहित गवर्नर जनरल नहीं।
- 2-नरेशों की राय के बिना ब्रिटिश राज और देशी राजाओं के बीच का संबन्ध एक नई सरकार के साथ न किया जाय।
- 3-राज्यों और ब्रिटिश भारत के बीच जो झगड़े उठ खड़े हों उनकी जांच के लिये विशेष समितियां नियुक्त हों।
- 4-ब्रिटिश भारत एवं रियासतों के बीच आर्थिक संबन्धों की जांच हेतु एक समिति की नियुक्त की जाय।
- 5-राजनैतिक अफसरों की भर्ती एवं शिक्षा का प्रबन्ध अलग से हो।

भारतीय नरेश इस बात पर बहुत चकित हुए कि बटलर कमेटी की सिफारिशों में सर्वश्रेष्ठता की परिभाषा स्पष्ट नहीं की गई।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न:

1-अति लघु उत्तरीय प्रश्न:

1. किस गवर्नर जनरल ने पहली बार ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता का सिद्धांत प्रतिपादित किया?

II. नरेन्द्र मंडल में कितने सदस्य थे?

2- निम्न लिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिये:

- I. रियासतों में रेजीडेंट की भूमिका पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।
- II. 1858 से 1906 तक रियासतों के प्रति ब्रिटिश नीति की समीक्षा कीजिये।
- III. 1906 ई० के पश्चात देशी रियासतों के प्रति ब्रिटिश नीतियों में क्या परिवर्तन आये?
- IV. नरेन्द्र मंडल का गठन किस उद्देश्य से किया गया?
- V. बटलर कमेटी की सिफारिशों पर प्रकाश डालिये।

2.9 बराबर के संघ की नीति 1935-47ई० (Policy of Equal Federation)

साइमन कमीशन 1930ई० की रिपोर्ट में अखिल भारतीय संघ के विषय में सुझाव पेश किया गया था। उससे यह स्पष्ट था कि यदि भविष्य में भारत एक संयुक्त देश बनेगा तो वह संघ के आधार पर ही बन सकता है जिसमें देशी रियासतें भी सम्मिलित होंगी। इसी कारण भारतीय नरेशों को लंदन में हुए प्रथम गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने हेतु आमंत्रित किया गया था।

नरेशों ने 'अखिल भारतीय-संघ' व्यवस्था के प्रस्ताव को स्वीकार किया था। इसमें भारतीय रियासतों एवं अंग्रेजों के अधीन प्रान्तों को मिलाकर भारतीय संघ बनाने की बात की गई थी।

सन 1935ई० के अधिनियम के अनुसार भारत में संघ शासन की व्यवस्था की गई। इसमें ब्रिटिश सत्ता के अधीन सभी प्रान्तों का मिलना आवश्यक था, पर भारतीय राज्यों का उसमें सम्मिलित होना या न होना राजाओं की इच्छा पर छोड़ दिया गया था।

ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीय रियासतों को संघ में शामिल किया जाना उनके अपने स्वार्थ पर आधारित था। भारतीय रियासतों को संघीय विधानसभा में 375 में से 125 स्थान दिये गये और राज्य विधान परिषद में 260 में से 104 स्थान। संघ केवल इसी स्थिति में अस्तित्व में आता जब कम से कम आधी जनसंख्या और परिषद में आधे स्थानों वाली रियासतें संघ में सम्मिलित हो जायं।

इसी प्रकार ली वार्नर ने भी यही तर्क दिया था कि ऐसे वातावरण में जहां जनसंख्या का एक बड़ा भाग अंग्रेजों से संबंध विच्छेद करने का आग्रह करता हो, रियासतें अंग्रेजों की मित्र बनी रहेंगी। नीचे के सदन में 33 प्रतिशत और उच्च सदन में 40 प्रतिशत स्थान इनके होंगे और ऐसी अवस्था में कांग्रेस अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकेगी।

चूंकि पर्याप्त रियासतों ने संघ में सम्मिलित होना स्वीकार नहीं किया अतएव संघ अस्तित्व में नहीं आ सका।

1937 ई० के चुनावों में कांग्रेस की सफलता का प्रभाव रियासतों पर भी पड़ा। वहाँ उत्तरदायी सरकारों और नागरिक स्वतंत्रताओं के लिये आंदोलन होने लगा। 3 दिसम्बर 1938 ई० को गाँधी ने घोषणा कर दी कि रियासतों में जागृति समय की पुकार है और पूर्ण उत्तरदायी सरकार में रियासतों का लुप्त हो

जाना निहित है। इसमें बीच का मार्ग नहीं हो सकता। परन्तु द्वितीय युद्ध के छिड़ जाने से संघीय योजना स्थगित कर दी गई।

2.9.1 रियासतों का एकीकरण एवं विलय (Integration and Merger of States)

द्वितीय विश्व युद्ध 1939-1945 ई० के दौरान भारत ने अति तीव्र गतिविधियाँ देखीं। राष्ट्रीय कांग्रेस ने असहयोग की नीति अपनायी। भारतीयों को अधिकाधिक शासन-सत्ता देने के प्रस्तुत की गई सभी योजनाओं में यह स्पष्ट किया गया कि भारत के स्वतंत्र होने पर भारत से अंग्रेज चले जायेंगे। इससे भारत के विभिन्न राज्यों में बँट जाने की नवीन समस्या प्रारम्भ हो गयी। 20 फरवरी को एटली की घोषणा और 3 जून की माउन्टबेटन योजना ने यह स्पष्ट कर दिया कि ब्रिटिश सर्वश्रेष्ठता समाप्त हो जायेगी और रियासतों को अधिकार होगा कि वे पाकिस्तान अथवा भारत में सम्मिलित हो सकती हैं। माउन्टबेटन ने किसी एक रियासत अथवा अनेक रियासतों के संघ को एक तीसरी इकाई के रूप में मान्यता देने से इन्कार कर दिया। राष्ट्रीय अस्थायी सरकार में सरदार बल्लभ भाई पटेल रियासती विभाग के कार्यवाहक थे। उन्होंने अपनी समझदारी से भारत को छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटने से बचा लिया। 15 अगस्त 1947 ई० तक 136 रियासतें भारत में सम्मिलित हो गयीं। बाद में जूनागढ़ तथा हैदराबाद तथा कश्मीर रियासतें भी भारत में सम्मिलित हो गईं।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न:

1-अति लघु उत्तरीय प्रश्न:

- I. किस अधिनियम के अनुसार भारत में संघ शासन की व्यवस्था की गई?
- II. स्वतंत्र भारत में रियासतों का एकीकरण किसने किया?

2-निम्न लिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिये:

1935 ई० के पश्चात रियासतों की स्थिति पर प्रकाश डालिये।

2.10 सारांश

उक्त अध्ययन के बाद आप समझ गये होंगे कि 1857 ई० के पूर्व और पश्चात देशी रियासतों के प्रति ब्रिटिश नीति का स्वरूप भिन्न था। पलासी के युद्ध के बाद भारत में कंपनी का विस्तार प्रारम्भ हुआ। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने व्यापारिक उद्देश्यों को पूरा करते-करते संपूर्ण भारत पर अपना प्रभाव जमा लिया। सहायक संधि प्रथा एवं व्यपगत सिद्धांतों की आड़ में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय रियासतों पर अपनी सर्वोच्च सत्ता स्थापित कर संपूर्ण भारत को अपने प्रशासकीय नियंत्रण में जकड़ लिया। यद्यपि ब्रिटिश सरकार की रियासतों के प्रति कोई निश्चित नीति नहीं थी तथापि उन्होंने देश, कारक एवं परिस्थिति के अनुसार राजनैतिक सर्वोच्चता को प्राप्त करने के लिये विभिन्न प्रकार की नीतियों का अनुसरण किया। 1858 के पश्चात ब्रिटिश सम्राट ने मुगल बादशाह का स्थान ले लिया और समूचे भारत पर उसकी अधिसत्ता

(Paramountcy of British crown) स्थापित हो गई। देशी नरेशों के प्रति ब्रिटिश नीति एकदम बदल गई। इस नीति-परिवर्तन के मूल में जो बात काम कर रही थी वह स्पष्ट थी। अब देशी नरेश अंग्रेजी राज्य के प्रतिद्वन्द्वी नहीं अपितु प्रबल समर्थक माने जाने लगे और भारत के जन-जागरण की प्रगति में उनका इस्तेमाल होने लगा। अंग्रेजों से असंतुष्ट होते हुए भी अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये विवश ये देशी नरेश ब्रिटिश साम्राज्य के रक्षा स्तम्भ बन गये। इस प्रकार की व्यवस्था ने भारत को जबरदस्त राजनीतिक और आर्थिक धक्का पहुँचाया। स्वतंत्रता प्राप्ति के क्रम में अंततः भारत या पाकिस्तान में विलय के बाद ही देशी रियासतों की समाप्ति हुई।

2.11 तकनीकी शब्दावली

- रजवाड़ों-देशी रियासतों के नरेशों और नवाबों को रजवाड़े कहा जाता था।
- क्राउन-विधिक रूप से ब्रिटिश संप्रभुता का प्रतीक। ब्रिटेन तथा राष्ट्रमंडल देशों में इस शब्दावली को शासन तथा सरकार के लिये एक उपशब्द के रूप में प्रयोग किया जाता है।
- दीवानी-राजस्व एकत्र करने का अधिकार
- सनद-प्रमाण-पत्र
- बफर स्टेट-शत्रु राज्य और अपने राज्य के मध्य एक मित्र राज्य
- रेजीडेंट- देशी रियासतों में अंग्रेजों द्वारा रखा गया अपनी प्रतिनिधि जो नरेशों और गवर्नर जनरल के बीच प्रशासन की कड़ी था।

2.12 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 2.3 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1-a) 562

b) जम्मू कश्मीर एवं हैदराबाद

इकाई 2.4 के स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1-दि नेटिव स्टेट्स ऑफ़ इंडिया'

2- देखिये-2.4

देखिये-2.4

इकाई 2.5 के स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1-i) 1740 ई०

ii) 1765 ई०

iii) राजस्व एकत्र करने का अधिकार

इकाई 2.6 के स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1-i ब्रिटिश पालिसी टूवर्ड्स इंडियन स्टेट्स

ii गवर्नर जनरल एवं देशी नरेशों के बीच

2-I देखिये 2.6

li देखिये 2.6.1

इकाई 2.7के स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1-‘कुप्रशासन’का आरोप लगाकर एवं ‘वास्तविक उत्तराधिकारियों’ के संबन्ध के झगड़े का बहाना बनाकर

ii लार्ड डलहौजी

2-i देखिये- 2.7.1

ii देखिये- 2.7.3

iii देखिये- 2.7.3

इकाई 2.8के स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1- I केनिंग

li 120

2-i देखिये-2.8.1

li देखिये-2.8.1

lii देखिये-2.8.2

iv-देखिये-2.8.4

v-देखिये-2.8.5

इकाई 2.9 के स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1-i 1935

li सरदार वल्लभ भाई पटेल

2-देखिये-2.9 और 2.9.1

2.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

- मिश्र, जगन्नाथ प्रसाद, आधुनिक भारत का इतिहास, लखनऊ, 1979
 - ग्रोवर, बी०एल०एवं यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 2000
 - जैन, एम० एस०, आधुनिक भारत का इतिहास, चतुर्थ संस्करण, नई दिल्ली, 1993
 - शुक्ल, आर०एल०, (संपादक), आधुनिक भारत का इतिहास, दिल्ली, 1994
-

2.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- मिश्र, जगन्नाथ प्रसाद, आधुनिक भारत का इतिहास, लखनऊ, 1979
- गोवर, बी०एल०एवं यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 2000
- जैन, एम० एस०, आधुनिक भारत का इतिहास, चतुर्थ संस्करण, नई दिल्ली, 1993
- मित्तल, ए०के०, आधुनिक भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, आगरा, 2012
- शुक्ल, आर०एल०, (संपादक), आधुनिक भारत का इतिहास, दिल्ली, 1994

2.16 निबन्धात्मक प्रश्न

- 1- 'रिंगफेंस नीति' से आप क्या समझते हैं? ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा अपनायी गयी इस नीति का वर्णन कीजिये।
- 2- भारतीय रियासतों के प्रति ब्रिटिश नीति का वर्णन कीजिये।
- 3- सहायक संधि प्रथा पर निबन्ध लिखिये।
- 4- 1858 ई० के महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र का वर्णन कीजिये। उसके महत्व पर प्रकाश डालिये।
- 5- ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनायी गई अधीनस्थ सहयोग की नीति का वर्णन कीजिये।
- 6- अधीनस्थ पृथक्करण नीति का विश्लेषण कीजिये।

भारत एवं पड़ोसी देश: तिब्बत, नेपाल, बर्मा, फारस एवं फारस की खाड़ी

- 3.1. प्रस्तावना
- 3.2. उद्देश्य
 - 3.3.1. तिब्बत
 - 3.3.2. कर्जन की तिब्बत नीति
 - 3.3.2.1 फ्रांसिस यंगहस्बैन्ड मिशन
 - 3.3.2.2 ल्हासा की संधि
- 3.4. नेपाल
- 3.5. बर्मा
 - 3.5.1. प्रथम आंग्ल-बर्मा युद्ध (1824)
 - 3.5.1.1 युद्ध का प्रारम्भ और प्रमुख घटनाएँ
 - 3.5.1.2 यान्डूब की संधि
 - 3.5.2. आंग्ल-बर्मा द्वितीय युद्ध (1852)
 - 3.5.3. तृतीय आंग्ल-बर्मा युद्ध (1885)
- 3.6. फारस एवं फारस की खाड़ी
 - 3.6.1. भारत-फारस सम्बन्ध
 - 3.6.1.1 ईरानी-आक्रमण
 - 3.6.2. मुगलकालीन भारत-फारस सम्बन्ध
 - 3.6.3. बाबर और फारस
 - 3.6.3.1 फारस से सम्बन्ध और कन्दहार का प्रश्न
 - 3.6.3.2 जहाँगीर का कन्दहार संबंध
 - 3.6.3.3 शाहजहाँ का कन्दहार की प्राप्ति
 - 3.6.3.4 औरंगजेब के समय फारसी संबंध
- 3.7. नादिरशाह
 - 3.7.1. करनाल का युद्ध
 - 3.7.2. ब्रिटिश नीति
 - 3.7.3. फारस की खाड़ी
- 3.8. सारांश
- 3.9. संदर्भ – ग्रंथ
- 3.10. अभ्यासार्थ प्रश्न

3.1. प्रस्तावना

18 वीं शताब्दी के दौरान मुगल साम्राज्य के पतन के बाद भारत साम्राज्यवादी अंग्रेजी शासन का उदय हुआ जिसे हम कम्पनी शासन अर्थात् ईस्ट इंडिया कम्पनी के नाम से जानते हैं। प्रारम्भिक काल में भारत को जीतने में अंग्रेजों ने बंगाल के संसाधनों का उपयोग किया। इसी प्रकार अंग्रेजों ने अपनी साम्राज्यवादी लालसा की पूर्ति हेतु हम इस तथ्य से भलीभांति परिचित हो जाएंगे कि उपनिवेशवाद का अपनी विशेषता के अनुरूप सतत् प्रसार होता रहा और एक उपनिवेश की सम्पदा का उपयोग दूसरे उपनिवेश के प्रसार एवं नियंत्रण को सुदृढीकरण करने में किया गया। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत के संसाधनों का उपयोग भारत के पड़ोसी देश

तिब्बत, नेपाल, बर्मा, फारस एवं फारस की खाड़ी की भूमि पर अपनी स्थित के सुदृढीकरण में किया तथा कालान्तर में हम पाते हैं कि इन सभी देशों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तौर पर अंग्रेजों का नियंत्रण स्थापित हो गया। इसलिए कम्पनी के इतिहास के कुछ सुसंगत भागों का यहाँ से संक्षिप्त विवरण करना उपयोगी हो सकता है।

3.2. उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य भारत एवं उसके पड़ोसी देशों के बारे में जानकारी देना है साथ ही

- इस बात की जानकारी भी देना है कि किस प्रकार अंग्रेजों ने भारत की सीमाओं से बाहर भी अपनी साम्राज्यवादी सीमाओं का विस्तार किया।
- इस कारणवश भारत के संबंधों पर पड़ने वाले प्रतिकूल कारकों की जानकारी देना है।
- भारत से बाहर अंग्रेजी व्यापार और प्रसार के सामान्य कारणों पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- उन क्षेत्रों की जानकारी दे सकेंगे जिन पर अंग्रेजों ने प्रत्यक्ष अधिकार तो नहीं किया फिर भी उन पर अपना पर्याप्त प्रभाव कायम रख सके।

3.3.1. तिब्बत

आधुनिक भारत में लार्ड कर्जन के समय की एक महत्वपूर्ण घटना है तिब्बत के साथ संबंध। तिब्बत चीन के अधीन एक राज्य था ; परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से तिब्बत के धर्मगुरु दलाई लामा के अधीन यह एक स्वायत्ता प्राप्त स्वतंत्र राज्य था। अंग्रेजों की तिब्बत में दिलचस्पी बहुत पुरानी थी। 1774-75 में ही वारेन हेस्टिंग्स ने जार्ज बागले को तिब्बत के साथ व्यापारिक संबंध बढ़ाने को तिब्बत भेजा था। 1783 में कंपनी ने पुनः इस दिशा में प्रयत्न किया, लेकिन वह असफल रही। तिब्बत में अंग्रेजों का राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थ था। आर्थिक दृष्टिकोण से अंग्रेजी सरकार भारत-तिब्बत व्यापार को विकसित करना चाहती थी। इसके अतिरिक्त अंग्रेज तिब्बत के प्राकृतिक एवं खनिज साधनों का भी लाभ उठाना चाहती थी। राजनीतिक दृष्टिकोण से तिब्बत पर नियंत्रण भारत की उत्तरी सीमा की सुरक्षा के लिए आवश्यक था। अतः अंग्रेज तिब्बत के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित रखना चाहती थी। 19 वीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक तिब्बत के साथ भारत की सरकार कोई घनिष्ठ संबंध कायम नहीं कर सकी।

3.3.2 कर्जन की तिब्बत नीति

जिस समय लार्ड कर्जन भारत आया उस समय तिब्बत में रूसी प्रभाव बढ़ रहा था। दलाई लामा पर डोरजीफ नामक व्यक्ति का काफी प्रभाव था। उसके संबंध रूस के जार से भी अच्छे थे। वह तिब्बत में रूस से अस्त्र-शस्त्र लाकर जमा भी कर रहा था। रूसी समाचार-पत्र भी डोरजीफ और दलाई लामा के घनिष्ठ संबंधों को विशेष महत्व दे रहे थे। ऐसी स्थिति में अंग्रेजों का आशंकित होना स्वाभाविक ही था। इसी बीच 1902 में कर्जन को चीन और रूस के एक गुप्त समझौते की जानकारी मिली, जिसके अनुसार चीन सरकार ने तिब्बत पर रूस का नियंत्रण स्वीकार कर लिया था। कर्जन ने एक शिष्टमण्डल तिब्बत भेजने का निश्चय किया। इस पर लंदन स्थित रूसी दूत ने अपना विरोध प्रगट किया। इस घटना ने रूसी चीनी गुप्त समझौते को पुष्ट कर दिया। फलतः गृह सरकार की अनुमति प्राप्त कर कर्जन ने ब्रिटिश शिष्टमण्डल तिब्बत भेजने का निश्चय कर लिया।

3.3.2.1 फ्रांसिस यंगहस्बैन्ड मिशन

मार्च, 1904 में कर्जन ने फ्रांसिस यंगहस्बैन्ड के नेतृत्व में एक सैनिक अभियान दल तिब्बत की राजधानी ल्हासा के लिए भेजा। इसका मुख्य उद्देश्य तिब्बतियों को समझौता करने के लिए बाध्य करना था। तिब्बतियों के पास हथियारों की कमी थी, फिर भी उन्होंने सैनिक दल का वीरतापूर्वक सामना किया। गरू नामक जगह पर हुए संघर्ष में 7000 तिब्बती मारे गए, फिर भी उन्होंने प्रतिरोध नहीं छोड़ा। अंग्रेजों की सेना तिब्बतियों को परास्त करती हुई, अगस्त 1904 में

ल्हासा पहुँची। दलाई लामा प्रशासन की जिम्मेदारी वरिष्ठ अधिकारियों पर छोड़कर राजधानी से बाहर चले गए। लंबी वार्ता के पश्चात् ल्हासा की संधि हुई।

3.3.2.2 ल्हासा की संधि

7 सितम्बर, 1904 को दलाई लामा ने यंगहस्बैंड के साथ ल्हासा की संधि की। इसके अनुसार तिब्बत पर युद्ध के हर्जाने के रूप में 75 लाख रुपए की राशि थोप दी गई। यह राशि तिब्बत को प्रतिवर्ष एक लाख रुपए की दर से अदा करनी थी। हर्जाना चुकाए जाने की अवधि तक चुम्बी घाटी पर अंग्रेजों का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। व्यापारिक सुविधा के लिए यांतुंग, ज्ञानत्से और गरकाट में ब्रिटिश व्यापारिक केन्द्र खोलने की बात तय हुई। अंग्रेजों ने तिब्बत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। इसके साथ-साथ यह भी तय हुआ कि तिब्बत इंग्लैण्ड के अलावा अन्य किसी भी विदेशी शक्ति को अपने देश में रेल, सड़क, तार इत्यादि बनाने की सुविधा प्रदान नहीं करेगी। तिब्बत की विदेश नीति पर अंग्रेजों का नियंत्रण कायम हो गया।

3.4 नेपाल

दक्षिण एशिया में इस काल में अंग्रेजों का मुख्य भूमि पर भारत से बाहर होने वाला प्रसार केवल नेपाल एवं अफगानिस्तान तक ही सीमित था।

ईस्ट इंडिया कंपनी का नेपाल में प्रथम हस्तक्षेप 1767 में उस समय हुआ जब कि कम्पनी की कौंसिल ने कलकत्ता में पटना नेपाल घाटी पर आक्रमण करने का आदेश दिया। घाटी में पहले से ही कुछ अव्यवस्था फैली थी। गोरखा सरदार राजा पृथ्वी नारायण शाह ने नेपाल का राजा बनने की इच्छा से नेपाल पर आक्रमण किया। इससे पटना और नेपाल के बीच होने वाले व्यापार में विघ्न पड़ा और इसलिए कम्पनी ने पटना स्थित कैप्टन किनलोक को पृथ्वी नारायण शाह पर आक्रमण करने का आदेश दिया। परन्तु गोरखों ने आक्रमण को रोक दिया।

आगामी वर्षों में गोरखों ने नेपाल के मल्ल शासकों को पराजित कर दिया और पृथ्वी नारायण शाह नेपाल का राजा हो गया। उसके उत्तराधिकारियों 1792 में पटना में ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रतिनिधि के साथ एक सुदृढ़ व्यापारिक संधि पर हस्ताक्षर किए।

शताब्दी के अंत तक अंग्रेजों को दक्षिण एशिया की एक निर्णायक शक्ति के रूप में माना जाने लगा। गवर्नर-जनरल वैलेजली ने भारत में कम्पनी का क्षेत्रीय प्रसार एवं सुदृढीकरण करने के लिए सहायक संधियों की व्यवस्थाओं का प्रचलन किया। इसी समय 1801 में अंग्रेजों ने नेपाल के साथ संधि करने का प्रयास किया (संधि पर अक्टूबर 1801 में हस्ताक्षर हुए) और इस संधि के अनुसार नेपाल सरकार ने ब्रिटिश रेजीडेन्ट को काठमाँडू में रखने की सहमति प्रदान कर दी। रेजीडेन्ट के पास पहले से ही ये आदेश थे कि वह नेपाल अर्थव्यवस्था का अध्ययन करे तथा विशेषकर तिब्बत से सोने की आपूर्ति एवं नेपाल के जंगलों से प्राप्त होने वाली समृद्ध इमारती लकड़ी एवं देवदार का पता लगाए। परन्तु नेपाल के साथ शत्रुता के कारण अंग्रेज रेजीडेन्ट को मार्च 1803 में भारत वापस बुला लिया गया। भारत के साथ लगी 1,100 किलोमीटर लम्बी सीमा पर कुछ गाँवों पर अधिकार को लेकर दोनों के बीच बहुत सी समस्याएं पैदा होती रहीं।

गवर्नर-जनरल हेस्टिंग्स के समय में अक्टूबर 1814 में नेपाल एवं अंग्रेजों के बीच युद्ध हुआ। कम्पनी की सेना का नेतृत्व मालें, ओश्टेर लोनी, वूड एवं कर्नल निकोल्स के द्वारा नेपाली सेना पर एक कड़ा हमला इस आशा के साथ किया गया कि वे सम्पूर्ण सीमा पर उनका सामना करेगी। परन्तु उन्होंने पहाड़ के लोगों के संघर्ष करने की क्षमता को कम करके आंका था। नेपाल को पराजित करने में एक वर्ष से अधिक का समय लग गया तथा सगौल की संधि (दिसंबर 1815) के द्वारा नेपाल सतलुज की पहाड़ियों, गढ़वाल और कूमायूँ के क्षेत्रों को अंग्रेजों को सौंपने

के लिए सहमत हो गया तथा पुनः एक अंग्रेज को रेजीडेंट के रूप में रखने के लिए भी तैयार हो गया।

तराई के समृद्ध क्षेत्रों को प्राप्त करने के बाद अंग्रेजों ने यह निश्चय किया कि नेपाल की अधिक भूमि को प्राप्त करने से अब कोई विशेष आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होगी। इसलिए वे नेपाल के मामलों में कम रुचि लेने लगे।

3.5. बर्मा

भारत में अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी की सत्ता का प्रारम्भ जिस समय हुआ लगभग उसी समय बर्मा में अलोम्रा की शक्ति का उदय भी हुआ। बर्मा का राज्य भारत के उत्तर पूर्व में स्थित था। भारत की पूर्वी सीमा पर चीनी तिब्बती मिश्रित एक जाति अलोम्रा के नेतृत्व में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर रही थी। अलोम्रा ने इरावदी नदी का मुहाना, पेगू, तनासरम और अराकान का प्रदेश जीतकर विशाल राज्य की स्थापना की। इसके बाद उसने अपने राज्य का विस्तार करते हुए असम और मणिपुर के राज्यों को भी जीत लिया जिससे बर्मा राज्य की सीमाएँ भारत के कंपनी शासित राज्य की सीमाओं से टकराने लगीं। अंग्रेजों के लिए बंगाल की सीमा पर एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना खतरे की घंटी थी। यहीं से इनके संबंधों का प्रारम्भ हुआ। यँ तो अंग्रेजों के बर्मा से व्यापारिक संबंध बहुत पहले से थे परन्तु वे बहुत उथले थे। जबकि बर्मा ने अराकान पर अधिकार कर लिया और दोनों के राज्यों की सीमायें आपस में मिलने लगीं तो उनके संबंधों में तनाव बढ़ने लगा। इस स्थिति में अंग्रेजों ने बर्मा से राजनैतिक संबंध स्थापित करने का प्रयत्न किया, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। अंग्रेजों ने 1797 से 1811 के बीच कई बार दूत भेजे, परन्तु इसका कोई लाभ नहीं हुआ और दोनों के बीच तनाव बढ़ता गया।

3.5.1. प्रथम आंग्ल-बर्मा युद्ध (1824)

आंग्ल-बर्मा युद्ध की परिस्थितियाँ 1784 के बाद उस समय से बनने लगीं थी जबकि बर्मा ने अराकान के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। लार्ड हेस्टिंग्स के समय में भारत के सीमावर्ती राजा सहायक संधि से बँधे थे अतः वे कुछ कर न सके। उसके समय में जब अराकान के प्रदेश के लोग भागकर भारत में कंपनी की सीमा में आये तो बर्मा के सैनिकों ने उन्हें वापस माँगा परन्तु हेस्टिंग्स से उन्हें देने से इंकार कर दिया। इस घटना से अंग्रेजों और बर्मा के संबंधों में तनाव और अधिक बढ़ गया। इसके बाद बर्मा ने असम पर भी अधिकार कर लिया तो कंपनी के साथ उसके सीमा संबंधी झगड़े और बढ़ने लगे।

प्रथम युद्ध का तात्कालिक कारण था शाहपुरी के छोटे और निर्जन द्वीप पर अधिकार का प्रश्न। लार्ड एम्हर्स्ट के समय में युद्ध की स्थितियाँ निर्मित होने लगी थी। इसके पीछे बर्मा के राजदरबार में सत्ता परिवर्तन भी माना जाता है। 1819 में बर्मा में बागीदाऊ गद्दी पर बैठा। उसके सत्तासीन होने पर बर्मा में विस्तारवादी प्रवृत्तियाँ और अधिक बढ़ने लगीं। उसका भाई एवं दरबार के अन्य लोग पूर्वोत्तर भारत की ओर साम्राज्य का विस्तार चाहते थे। उनका सैनिक कमांडर महाबुन्देला तो असम की आसान जीत से भारत की जीत को भी आसान समझने लगा था। सम्पूर्ण बर्मा में युद्ध की माँग की जा रही थी। क्रेफर्ड ने लिखा है कि “बर्मा में राज्य से लेकर भिखारी तक अंग्रेजों से युद्ध की माँग कर रहा था।” दूसरी ओर अंग्रेज भी अपनी साम्राज्यवादी नीति के कारण बर्मा के उपजाऊ क्षेत्र को आने साम्राज्य में मिलाने के लिए उत्सुक थे। दोनों ओर से युद्ध की माँग थी। इसलिए युद्ध हो इसके लिए छोटी से छोटी बातों को तूल दिया और युद्ध के लिए परिस्थितियाँ निर्मित की गईं।

इसी समय शाहपुरी के द्वीप पर पुनः झगड़ा हो गया। बर्मियों ने इस द्वीप पर आक्रमण करके उस पर कब्जा कर लिया। इस बीच एम्हर्स्ट ने युद्ध की पूरी तैयारियाँ कर ली थीं और उसने 24 फरवरी, 1824 को युद्ध की घोषणा कर दी।

3.5.1.1 युद्ध का प्रारम्भ और प्रमुख घटनाएँ

युद्ध की प्रमुख घटनाएँ असम, अराकान और रंगून के मोर्चे पर हुईं। बर्मा की भौगोलिक परिस्थितियाँ भी अंग्रेजों को कठिनाइयाँ पैदा करने वाली थी जबकि वे बर्मियों को सहायक थीं। अंग्रेजों ने दो ओर से अपनी सेनाएँ युद्ध के लिए भेजी। एक सेना स्थल मार्ग से भेजी गई जो उत्तर पूर्व से बर्मा की ओर आगे बढ़ी। दूसरी सेना समुद्री मार्ग से रंगून की ओर बढ़ी। इसका नेतृत्व मेजर जनरल आर्चीबाल्ड कैम्पबेल कर रहा था। अराकान में रामू नामक स्थान पर अंग्रेज सेना और महाबुन्देला के बीच भीषण युद्ध हुआ यहाँ बर्मा सेनापति ने अंग्रेजी सेना को हरा दिया। दूसरी ओर अंग्रेजी सेना ने मई में रंगून को जीत लिया। इसके बाद वर्षा प्रारम्भ हो गई और अंग्रेजों का आगे का अभियान रुक गया और उनके सैनिकों में बीमारियाँ फैलने लगी। वर्षा के बाद दिसम्बर में बर्मा के राजा ने महाबुन्देला को दक्षिण में अपनी सहायता के लिए बुलाया परन्तु उसकी पराजय हुई और उसे पीछे हटना पड़ा। 1825 में अंग्रेजों ने असम पर अधिकार कर लिया और दूसरी ओर कैम्पबेल ने रंगून से आगे बढ़ना प्रारम्भ किया। बर्मा के सेनापति महाबुन्देला ने बहुत समय तक उन्हें रोके रखा, परन्तु वह अप्रैल के प्रारम्भ में युद्ध में मारा गया और बर्मा की सेना भाग खड़ी हुई। अंग्रेज सेनापति ने दक्षिणी बर्मा की राजधानी प्राम पर कब्जा कर लिया। इसके बाद कुछ समय तक युद्ध चलता रहा परन्तु संधि वार्ता भी चलती रही और 24 फरवरी, 1826 को यान्डूब की संधि हो गई।

3.5.1.2 यान्डूब की संधि

इस संधि में निम्न निर्णय लिए गए –

- इस संधि के द्वारा बर्मा ने तनासरम, अराकान, तवाय और येह तथा मर्गी अंग्रेजों को दे दिए।
- इस संधि के द्वारा मणिपुर के राज्य को स्वतंत्र मान लिया गया।
- बर्मा ने कछार, असम और जैन्तिया के राज्यों में कोई भी हस्तक्षेप न करने का वादा किया।
- दोनों राज्यों ने एक दूसरे के राज्य में राजदूत रखने की स्वीकृति दी।
- बर्मा ने युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में एक करोड़ रुपया देने का वचन भी दिया।
- इसके अलावा बर्मा और अंग्रेजों के बीच एक व्यापारिक संधि होने पर भी सहमति हुई।

इस युद्ध का वास्तविक लाभ अंग्रेजों को हुआ। बर्मा पर पूर्ण अधिकार करने का प्रारम्भ था यह युद्ध, क्योंकि इसके बाद बर्मा में अंग्रेजों को पैर जमाने का अवसर मिल गया और उत्तर पूर्वी क्षेत्र में उन्हें बहुत सी भूमि प्राप्त हो गई जिससे उन्हें बाद में आगे बढ़ने में लाभ हुआ।

3.5.2. आंग्ल-बर्मा द्वितीय युद्ध (1852)

प्रथम युद्ध के बाद हुई यान्डूब की संधि दोनों ही पक्षों को संतुष्ट नहीं कर सकी थी। इस संधि के बाद कुछ अंग्रेज व्यापारी बर्मा के दक्षिणी तट पर रहने लगे और व्यापारिक संधि के अनुसार व्यापार करने लगे। यहाँ से व्यापार के माध्यम से इन्होंने बहुत पैसा कमाया। ये व्यापारी यहाँ से व्यापार करते थे और आराम से रहते थे, परन्तु ये अपनी सरकार से समय-समय पर यह शिकायत करते थे कि यहाँ उनके साथ बर्मा के लोग अच्छा व्यवहार नहीं करते हैं। इधर बर्मा सरकार भी इनके व्यवहार से तथा इनके द्वारा की जाने वाली चुंगी की चोरी की शिकायतों से परेशान रहती थी। इसका कारण यह था कि 1826 में हुई व्यापारिक संधि की जो शर्तें थी वे विवादास्पद थी और दोनों पक्षों के लोग इनकी व्याख्या अपने हितों के अनुकूल करते थे। इस स्थिति में अंग्रेज और बर्मा सरकार के संबंध बिगड़ने लगे। इसके अलावा यान्डूब की संधि के

बाद बर्मा का राजा बदल गया। नया राजा थारावादी बना उसने यान्द्रुब की संधि को मानने से इंकार कर दिया और कहा कि "अंग्रेजों ने मेरे बड़े भाई को हराया था मुझे नहीं।

इन व्यापारिक झगड़ों के अलावा एक और समस्या थी कि 1826 की संधि के अनुसार एक ब्रिटिश रेजीडेन्ट बर्मा में रहने लगा था। बर्मा के दरबार में ब्रिटिश रेजीडेन्ट के साथ अच्छा व्यवहार नहीं होता था। बर्मा की सरकार उसके साथ अपमानजनक व्यवहार करती थी। इसके कारण 1840 में उसे वापस बुला लिया गया था। अंग्रेजों के प्रति घृणा का माहौल सम्पूर्ण बर्मा में व्याप्त था और वे उनकी कोई परवाह नहीं करते थे। इसी बीच बर्मा सरकार ने दो अंग्रेज अधिकारियों पर कुछ आरोप लगाए और उन पर बहुत अधिक आर्थिक दण्ड लगाए। इन लोगों ने लार्ड डलहौजी से इसकी शिकायत की। डलहौजी के लिए तो यह शिकायत युद्ध के लिए बहाना थी। वास्तव में युद्ध का कारण यह घटनाएँ नहीं थी। ये तो बहाना मात्र थी। युद्ध का वास्तविक कारण तो अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति जिसके तहत बर्मा को अपने अधीन करना उनका लक्ष्य था। इसके लिए उन्हें कोई भी बहाना कार्यकारी हो सकता था।

लार्ड डलहौजी ने लैम्बर्ट को रंगून सरकार के साथ बात करने, व्यापारियों की शिकायतों को दूर करने तथा क्षतिपूर्ति की माँग करने उद्देश्य से भेजा। वह नवम्बर, 1851 में रंगून पहुँच गया। वहाँ उसने रंगून के गवर्नर पर अत्याचार करने का आरोप लगाया। इसकी शिकायत करने के लिए उसने एक पत्र बर्मा की सरकार को लिखा और साथ में एक पत्र रंगून के गवर्नर को भी लिखा। उसने दोनों पत्रों का उत्तर तीन से पाँच सप्ताह के बीच में माँगा। बर्मा के राजा ने अंग्रेजों की इन गतिविधियों से आशंकित होकर रंगून का गवर्नर बदल दिया। जब नए गवर्नर से मिलने के लिए अंग्रेज अधिकारी गए तो उनकी मुलाकात गवर्नर से नहीं हो सकी। अंग्रेज अधिकारी ने इसे अपना अपमान समझा और बर्मा की सरकार और गवर्नर से माफी माँगने की माँग की। क्षमा माँगने के अलावा उसने क्षतिपूर्ति की राशि की तुरन्त अदायगी की भी माँग की। कुछ समय बाद उसने क्षतिपूर्ति की राशि बढ़ा दी और बर्मा के एक शाही जहाज पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया। इससे दोनों के बीच युद्ध की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं। अब अंग्रेजों ने बर्मा सरकार से रंगून के गवर्नर को हटाने, क्षतिपूर्ति की राशि के रूप में 1,00,000 पौण्ड देने और बर्मा के राजा द्वारा क्षमा माँगने की शर्त रखी और इनके लिए अप्रैल 1852 तक समय दिया।

लार्ड डलहौजी ने इस बीच में युद्ध की पूरी तैयारी कर ली। बर्मा सरकार ने तय समय सीमा में जब जवाब नहीं भेजा तो डलहौजी ने सेनापति गोडबिन के नेतृत्व में एक विशाल सेना रंगून के लिए भेजी। इस तरह द्वितीय बर्मा युद्ध प्रारम्भ हुआ।

अंग्रेज सेनापति ने रंगून, प्रोम और पेगू पर अधिकार कर लिया। इसके बाद सम्पूर्ण दक्षिणी बर्मा पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो गया। इसके बाद डलहौजी ने 20 दिसम्बर, 1852 को एक घोषणा द्वारा पेगू को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। पेगू को अंग्रेजी साम्राज्य में मिलाने का अर्थ था कि सम्पूर्ण निचला बर्मा ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल हो गया। यह विलय बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। पेगू के विलय का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि अब बंगाल की खाड़ी का सम्पूर्ण तट अंग्रेजी साम्राज्य के अधीन हो गया। अब अंग्रेज मलय प्रायः द्वीप से कन्याकुमारी तक के उपजाऊ क्षेत्र के स्वामी हो गये थे। इससे एक फायदा यह भी हुआ कि समुद्री रास्ते से अमेरिका और फ्रांस के बर्मा तक आने का भय समाप्त हो गया। इसके अलावा बर्मा के चावल और चाय के क्षेत्रों पर भी अंग्रेजों का एकक्षत्र राज्य हो गया।

इस तरह डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति के तहत बर्मा पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। यह युद्ध एकदम अनुचित था, परन्तु डलहौजी के लिए विस्तार ही महत्वपूर्ण था। इसके लिए उचित अनुचित कोई प्रश्न नहीं था।

3.5.3. तृतीय आंग्ल-बर्मा युद्ध (1885)

द्वितीय युद्ध के बाद बर्मा का शासक मिण्डन बना। इसके समय में यद्यपि युद्ध नहीं हुआ परन्तु युद्ध के लिए परिस्थितियाँ निर्मित होने लगी थी। मिण्डन ने अपने समय में अंग्रेजों के साथ मित्रतापूर्वक संबंध बनाए रखने की भरसक कोशिश की थी। उसने बर्मा शासकों द्वारा अपनायी गई पृथकतावादी नीति को छोड़ दिया और यूरोपीय लोगों को अपने दरबार में रखना प्रारम्भ किया। उसने यूरोप के देशों में शिष्टमण्डल भेजे। उसने अपने दरबार में अंग्रेजी रेजीडेन्सी को पुनः प्रारम्भ किया और 1857 में इसका दर्जा दूसरे स्तर का कर दिया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि मिण्डन ने अंग्रेजों से भरसक अच्छे संबंध बनाए रखने की कोशिश की, परन्तु कुछ बातों को लेकर उनके संबंधों में तनाव आने लगा था।

इसके बाद भारत के वायसराय ने बर्मा की सरकार के सामने निम्नलिखित माँगें प्रस्तुत की –

- बर्मा दरबार एक अंग्रेज प्रतिनिधि को अपने दरबार में बुलाए जो कि परंपरागत रस्में नहीं निभाएगा। उसके द्वारा निगम को विवाद सुलझाया जाए।
- जब तक अंग्रेज प्रतिनिधि वहाँ न पहुँचे तब तक निगम के खिलाफ कोई कार्यवाही न की जाए।
- बर्मा विदेशों से अपने संबंध भारत के वायसराय की सलाह से स्थापित करें।
- अंग्रेजों को चीन से व्यापार करने की पूर्ण छूट दी जाए।

लार्ड डफरिन ने माँगें भेजने के साथ ही युद्ध की तैयारियाँ कर ली थीं। जैसे ही वहाँ से जवाब आया उसने अपनी सेना को बर्मा की राजधानी मॉडले की ओर रवाना कर दिया। उधर थीबा ने भी युद्ध की घोषणा कर दी।

तृतीय युद्ध अधिक समय तक नहीं चला। लगभग 15 दिन में ही युद्ध का निर्णय हो गया। अंग्रेजी सेना अचानक ही मॉडले के पास पहुँच गई। बर्मा का राजा ब्रिटिश सेना को देखकर आश्चर्य चकित हो गया। अंग्रेजों ने आसानी से राजधानी मॉडले पर अधिकार कर लिया और 28 नवम्बर को राजा थीबा को कैद कर लिया गया। उसने बिना शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया। इसके बाद जनवरी 1886 में उत्तरी बर्मा को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। बर्मा पर अधिकार की घोषणा जितनी सरलता से की गई थी उतनी ही कठिनाई से उस पर अधिकार किया जा सका।

● तृतीय युद्ध के परिणाम

- बर्मा के अधिग्रहण के बाद ब्रिटिश साम्राज्य के क्षेत्रफल में वृद्धि हुई।
 - अंग्रेजों को व्यापारिक विकास के लिए एशिया में एक नए क्षेत्र की प्राप्ति हुई।
 - अब बर्मा में फ्रांसीसियों के प्रभाव के बढ़ने की संभावना समाप्त हो गई।
-

3.6. फारस एवं फारस की खाड़ी

3.6.1 भारत—फारस सम्बन्ध

ईरान (फारस) से भारत के अत्यन्त प्राचीनकाल से सम्बन्ध थे। संस्कृत के अनेक शब्द प्राचीन फारस की भाषा से मिलते हैं। प्राचीन ईरान की पुस्तक अवेस्ता तथा भारतीय ग्रन्थ ऋग्वेद से भी भारत व ईरान के मध्य सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है। जातकों में भी भारत व ईरान के मध्य व्यापारिक सम्बन्धों का उल्लेख है।

3.6.1.1 ईरानी—आक्रमण

ई0पू0 छठी शताब्दी में ईरान के राजनीतिक पटल पर महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। साथ ही भारत पर कई फारसी शासकों ने आक्रमण किए। जिनमें साइरस प्रथम, केम्बीसिस, डेरियस प्रथम, क्षयार्थ आदि नाम प्रमुख हैं।

3.6.2. मुगलकालीन भारत—फारस सम्बन्ध

तीन शक्तिशाली साम्राज्यों (उज़बेक, फारस और तुर्की) के उदय के साथ और काबुल एवं कंदहार पर मुगलों के नियंत्रण में विस्तार के बाद किस तरह मुगल फारस और फारस की खाड़ी के राजनीतिक और कूटनीतिक संघर्षों में और भी गहरा दखल देने लगे। व्यापार के लिए सीमाओं के खुल जाने के बाद मुगल इस क्षेत्र में भारत के व्यापार को बढ़ाने में भी दिलचस्पी लेने लगे।

अभी तक कायदा रहा है कि मुगल साम्राज्य को शेष एशिया से लगभग रखकर प्रस्तुत किया जाता था। मुगलों के काल में एक सुस्पष्ट विदेश नीति के विकास से पता चलता है कि भारत में एक मजबूत केंद्रीय सत्ता की स्थापना के बाद राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों से फारस और फारस की खाड़ी की शक्तियों के साथ उसका संपर्क में आना स्वाभाविक था।

3.6.3 बाबर और फारस

समरकंद और खुरासान समेत उसके आसपास के क्षेत्रों से बाबर और दूसरे तैमूरी शहजादों के निष्कासन के लिए जिम्मेदार होने के कारण उज़बेक मुगलों के स्वाभाविक शत्रु थे। साथ ही उज़बेकों को सफवियों की बढ़ती शक्ति से भी टकराना पड़ा जो खुरासन के दावेदार थे।

खुरासन का पठार ईरान और मध्य एशिया को जोड़ता है तथा चीन और भारत जाने वाले मार्ग इसी से गुजरते हैं। इसलिए उज़बेकों के खिलाफ सफवियों और मुगलों का आपस में हाथ मिलाना स्वाभाविक था विशेषकर इसलिए कि कंदहार छोड़कर उनके बीच कोई सीमा-विवाद नहीं था।

“पश्चिम से अस्मानी खतरे ने फारस को मुगलों से मित्रता के लिए मजबूर कर दिया जबकि पूरब में उनका सामना एक हमलावर उज़बेक शक्ति से हुआ।” मुगलों ने फारस के खिलाफ एक त्रिपक्षीय उस्मानी-मुगल-उज़बेक गठजोड़ के उज़बेक प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया क्योंकि एशिया में शक्ति संतुलन बिगड़ता और उज़बेक शक्ति का सामना करने के लिए वे अकेले रह जाते।

फारस के साथ गँठजोड़ मध्य एशिया से व्यापार को बढ़ावा देने में भी सहायक था।

उज़बेकों के हाथों फारस की करारी शिकस्त के बाद बाबर को समरकंद छोड़ना पड़ा पर शाह फारस से उसे मिली सहायता ने मुगलों और सफवियों के बीच दोस्ती की एक परंपरा कायम की।

3.6.3.1 फारस से सम्बन्ध और कंदहार का प्रश्न

फारस के खिलाफ शिया-विरोधी भावनाएँ भड़काने की उज़बेक कोशिशों और सफवी शासकों की निर्मम नीतियों के प्रति मुगलों की नापसंदगी के बावजूद उज़बेक शक्ति का डर सफवियों और मुगलों को साथ लाने वाला सबसे शक्तिशाली कारण था। दोनों के बीच परेशानी की अकेली जड़ कंदहार था जिस पर अधिकार के दावे रणनीतिक और आर्थिक आधारों पर भी किए जाते थे तथा भावना और प्रतिष्ठा के आधार पर भी।

3.6.3.2 जहाँगीर का कन्दहार संबंध

“कन्दहार भारत और फारस का मेरुदण्ड था।” यह भारत का प्रवेश-द्वारा और मध्य एशिया और फारस से आने वाले आक्रमणकारियों को रोकने का प्राकृतिक युद्ध मोर्चा था।

1605 ई० में जब अकबर की मृत्यु हुई और शाहजादा खुसरो ने विद्रोह किया। फारस के शासक शाह अब्बास ने खुरासान के सरदार को कन्दहार पर आक्रमण करने के लिए उकसाया। खुरासान के सरदारों का कन्दहार पर आक्रमण विफल रहा। शाह अब्बास ने इस विषय में पूर्ण अज्ञान प्रकट किया।

जहाँगीर की खुशामद (बहुत सारी भेंट, खुशामदी पत्र) करके उसका ध्यान कन्दहार की ओर से हटा दिया गया। 1621 ई० में शाह अब्बास ने एक बड़ी सेना कन्दहार विजय करने के लिए भेजी।

कन्दहार को बचाने के लिए जल्दी में तैयारियों की गई पर कूच करने से पहले राजकुमार शाहजहाँ ने असंभव माँगे रख दी। इस कारण कन्दहार 1622 ई० में ईरानियों के हाथों में चला गया।

3.6.3.3 शाहजहाँ का कन्दहार की प्राप्ति

कन्दहार जहाँगीर के शासन-काल के समय 1622 ई० में हाथ से निकल गया था और 1628 ई० तक उसे पुनः प्राप्त करने के कोई प्रयत्न नहीं किया गया। उसी वर्ष शाहजहाँ ने अपना ध्यान कन्दहार की ओर किया। फारस सरकार की ओर से अलीमदीनख़ाँ कन्दहार का राज्यपाल था। जब अलीमदीनख़ाँ को मुगल सम्राट की इच्छा का पता चला तो उसने रक्षा के लिए तैयारियाँ प्रारंभ कर दी फारस के शाह से सहायता माँगी।

दुर्भाग्यवश फारस के शाह को भ्रम हो गया और उसने अलीमदीनख़ाँ बन्दी बनाने का प्रयत्न किया। यह बहुत अपमानजनक था। उसने कन्दहार को मुगलों को सौंप कर दिल्ली में आकर शरण ली।

यद्यपि कन्दहार हाथ से निकल गया था फारसियों ने उस पर पुनः विजय की आशा कभी नहीं छोड़ी।

3.6.3.4 औरंगजेब के समय फारसी संबन्ध

औरंगजेब के काल में मुगल साम्राज्य शक्ति और प्रतिष्ठा के चरम शिखर पर था। यहाँ तक अभिमानी उस्मानी सुल्तान तक ने 1680 ई० में सहायता माँगने के लिए औरंगजेब के पास एक दूत भेजा। औरंगजेब ने कन्दहार के व्यर्थ के विवाद को जारी न रखने का फैसला किया और खामोशी से ईरान के साथ कूटनीतिक संबंध फिर जोड़ लिया।

लेकिन 1668 में ईरान के सुल्तान शाह अब्बास II ने मुगल दूत को अपमानित किया और औरंगजेब के खिलाफ क्षुद्र बातें की। पर कोई कारवाही हो उससे पहले शाह अब्बास चल बसा। उसके उत्तराधिकारी निकम्मे और ईरान की ओर से भारतीय सीमा के लिए सभी खतरे तब तक के लिए टल गये जब तक 50 वर्ष से अधिक समय बाद “नादिरशाह” नाम का एक नया शाह ईरान के तख्त पर नहीं बैठा।

3.7 नादिरशाह

नादिरशाह फारस का शासक था। उसे “ईरान का नेपोलियन” कहा जाता था। भारत पर नादिरशाह का आक्रमण 16 फरवरी 1739 ई० को हुआ था। वह बहुत ही महत्वाकांक्षी चरित्र का व्यक्ति था और भारत की अपार धन-सम्पदा के कारण ही इस ओर आकर्षित हुआ। मुगल सेना के साथ हुए नादिरशाह के युद्ध को “करनाल का युद्ध” कहते हैं।

3.7.1 करनाल का युद्ध

24 फरवरी 1739 ई० को नादिरशाह और मुहम्मदशाह के मध्य लड़ा गया। नादिरशाह के आक्रमण से भयभीत होकर मुहम्मदशाह 80 हजार सेना लेकर ‘निजामुलमुल्क’, ‘कमरुद्दीन’ तथा खान-ए-दौराँ के साथ आक्रमणकारी का मुकाबला करने के लिए चल पड़ा था। शीघ्र ही अवध का नवाब सआदत ख़ाँ भी उससे आ मिला। करनाल युद्ध तीन घण्टे तक चला था।

इस युद्ध में खान-ए-दौराँ लड़ते हुए मारा गया, जबकि सआदत ख़ाँ बन्दी बना लिया गया। इस दौरान निजामुलमुल्क ने शान्ति की भूमिा निभाई। “निजामुलमुल्क” को सम्राट मुहम्मद शाह ने ‘मीर बक्शी’ नियुक्त किया। सआदत ख़ाँ इस पद से वंचित हो गया तो उसने नादिरशाह को धन का लालच लेकर दिल्ली पर आक्रमण करने का कहा।

नादिरशाह ने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया तथा 20 मार्च 1739 ई० को दिल्ली पहुँचा। दिल्ली में उसके नाम का "खुतबा" (प्रशंसात्मक रचना) पढ़ा गया तथा सिक्के जारी किए गए। सैनिक की हत्या की अफवाह के कारण नादिरशाह ने दिल्ली में कत्लेआम को आदेश दे दिया। दिल्ली को खूब लूटा उसने 'बादशाह खॉँ' से 20 करोड़ रुपये की माँग की। माँग पूरी न कर पाने के कारण बादशाह ने विष खाकर आत्महत्या कर ली। नादिरशाह 57 दिन तक दिल्ली रहा और वापस जाते समय अपार धन तथा "कोहिनूर हीरा" भी ले गया। मुगल सम्राट ने पुत्री का विवाह नादिरशाह के पुत्र "नासिरुल्लाह मिर्जा" से कर दिया। कश्मीर तथा सिन्धु घाटी के पश्चिम प्रदेश, थट्टा और अधीनस्थ बंदरगाह भी उसे दे दिए गये।

3.7.2. ब्रिटिश नीति

रूस का उद्देश्य मध्य एशिया में विस्तार करना था लेकिन उसका एक उद्देश्य यह भी था कि फारस पर रूसी प्रभाव स्थापित किया जाये। 1811 में जार ने फारस पर आक्रमण किया। इस समय तेहरान की संधि (1809) के अनुसार इंग्लैण्ड ने शाह की सहायता नहीं की क्योंकि उसे यूरोप में नेपोलियन के विरुद्ध जार की सहायता की आवश्यकता थी। पराजित होकर फारस ने 1813 में रूस के साथ संधि की जिसके अनुसार उसे कैस्पियन सागर के तटवर्ती प्रदेश रूस को देने पड़े।

1814 के बाद इंग्लैण्ड की नीति रूसी विस्तार को रोकना हो गयी थी। अतः फारस को रूस के प्रभाव से मुक्त रखने के लिए इंग्लैण्ड ने 1814 में तेहरान की संधि की जिसमें उसने वायदा किया कि रूस के आक्रमण होने की दशा में वह या तो सैनिक भेजेगा या धन देगा। इसके बदले में शाह ने वचन दिया कि वह अफगानों को भारत पर आक्रमण करने से रोकेंगा लेकिन 1826 में भी इंग्लैण्ड ने अपना वचन पूरा नहीं किया जब रूस ने फारस पर आक्रमण किया। इसका कारण यह था कि यूरोप में मेटरनिख की चतुर्मुखी संधि का यूरोप में प्रभाव था और इस संधि का रूस सदस्य था। इंग्लैण्ड इस गुट से झगड़ा नहीं कर सकता था। इसका परिणाम यह हुआ कि शाह इंग्लैण्ड से भरोसा उठ गया। 1828 में तुर्कमंचाई संधि करके फारस ने रूस को इरीवान और तर्बार्ज का क्षेत्र दे दिया।

रूस और फारस के मध्य तुर्कमंचाई की संधि (1828) से इंग्लैण्ड में घबड़ाहट फैल गयी। इंग्लैण्ड के राजनीतिज्ञों का कहना था कि संधि से उनके भारतीय राज्य के लिए गम्भीर संकट उत्पन्न हो गया है। इस आसन्न रूसी संकट का सामना किस प्रकार किया इस समस्या पर इंग्लैण्ड में विचार आरम्भ हुआ। इंग्लैण्ड के राजनीतिज्ञों का विचार था कि अगर हेरात पर फारस का अधिकार हो गया तो भारत पर आक्रमण के लिए मार्ग खुल जायेगा। उन्होंने यह भी देखा कि काबुल का शासक दोस्त मुहम्मद हेरात की रक्षा के लिए कोई प्रयत्न नहीं कर रहा था।

ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का विचार था कि अगर उन दरों पर कब्जा कर लिया जाये जिनसे होकर पहले भारत पर आक्रमण होते रहे थे तो भारतीय राज्य की रक्षा की जा सकती थी। अतः "वैज्ञानिक सीमा" की अवधारणा का विकास हुआ। यह भी विचार किया कि अगर अफगानिस्तान में अंग्रेजों का मित्र शासक हो तो उस ओर से रूसी आक्रमण की आशंका को समाप्त किया जा सकता था।

3.7.3. फारस की खाड़ी

कर्जन के काल में फ्रान्स, रूस, जर्मनी, फारस की खाड़ी में युद्ध के आधार प्राप्त करना चाहते थे लेकिन कर्जन की सतर्क नीति के कारण वे इसमें सफल नहीं हो सके।

भारत की सुरक्षा के लिए ब्रिटिश नीति आरम्भ से यह थी कि अदन से सिन्ध तक समस्त तट ब्रिटिश के नियन्त्रण में रहे। यद्यपि यह सुमद्र तट उन देशों की सार्वभौमिक सत्ता के अन्तर्गत था; किन्तु वास्तविक नियन्त्रण अंग्रेजों के पास था। इसी नीति के अन्तर्गत ब्रिटिश नीति

थी इस समस्त तट पर ब्रिटिश विरोधी किसी देश को कोई अड्डा न बनाने दिया जाये। 1858 में ओमान के सुल्तान ने मस्कट के समीप जिस्सेह बन्दरगाह में फ्रांस को कोलिंग स्टेशन का अधिकार दे दिया। कर्जन ने सुल्तान पर दबाव डाला और इसे रद्द करवा दिया। 1900 में रूस ने फारस के बन्दर अब्बास में कोयले का स्टेशन बनाने का प्रयत्न किया, कर्जन ने इस प्रयत्न को भी सफल नहीं होने दिया। 1899 में कुवैत के शेख से समझौता किया गया कि वह किसी अन्य देश को कोई रियायत न दे। 1900 में शेख ने जर्मनी को बर्लिन-बगदाद रेलवे के लिए स्थान देना अस्वीकार कर दिया। इन सब गतिविधियों को देख कर 1903 में ब्रिटिश विदेश मन्त्री को यह चेतावनी देनी पड़ी कि फारस की खाड़ी में किसी देश को किलेबन्दी नहीं करने दी जायेगी। 1903 में कर्जन ने फारस की खाड़ी के देशों का भ्रमण किया तथा इंग्लैण्ड की शक्ति का प्रदर्शन भी किया।

3.8. सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि अंग्रेजों ने किस प्रकार तिब्बत, नेपाल, बर्मा पर अपना अधिकार स्थापित करने और अपने व्यापार का प्रसार करने तथा भारतीय साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए फारस एवं फारस की खाड़ी पर भी अपनी दक-दत्ता बनाये रखने की कोशिश की। उपरोक्त पड़ोसी राष्ट्रों पर अपना नियंत्रण स्थापित करके अंग्रेजों ने अपने भारतीय साम्राज्य तथा व्यापारिक भागों को सुरक्षित किया। कुछ मामलातों में अंग्रेजों ने स्वयं को दुस्साहसिक कूटनीति एवं युद्ध में उलझाया। इन सभी गतिविधियों पर भारतीय कोष से रुपया खर्च किया गया। और भारत को काफी जन एवं धन की भी हानि हुई।

3.9 संदर्भ ग्रंथ

(1)	बी. डी. महाजन	—	आधुनिक भारत का इतिहास
(2)	वी. एल. गोवर	—	आधुनिक भारत का इतिहास
(3)	डॉ. संजीव जैन	—	आधुनिक भारत का आर्थिक एवं राजनैतिक इतिहास
(4)	डॉ. एस. आर. वर्मा	—	भारत का इतिहास
(5)	डॉ. ए. के. मित्तल	—	आधुनिक भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास
(6)	आर. एल. शुक्ल	—	आधुनिक भारत का इतिहास
(7)	हरीश कुमार खत्री	—	आधुनिक भारत का इतिहास
(8)	पी. एल. गौतम	—	आधुनिक भारत
(9)	एल. पी. शर्मा	—	आधुनिक भारत
(10)	सूमित सरकार	—	आधुनिक भारत
(11)	पुखराज जैन	—	स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास
(12)	इग्नू	—	पाठ्य पुस्तिका

3.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

- (1) भारत-तिब्बत संबंधों पर एक निबन्ध लिखिए।
- (2) भारत-नेपाल संबंधों पर एक निबन्ध लिखिए।
- (3) भारत-बर्मा संबंधों की विवेचना करें।
- (4) भारत-फारस संबंधों की विवेचना करें।

भारत पर ब्रिटिश शासन का आर्थिक प्रभाव

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 ब्रिटिश शासन का भारत पर प्रभाव: एक विमर्श
 - 1.3.1 क्या ब्रिटिश राज भारतीयों के भले के लिए था: ब्रिटिश पक्ष
 - 1.8.2 क्या ब्रिटिश राज भारतीयों के भले के लिए था: भारतीय पक्ष
 - 1.8.2.1 ड्रेन ऑफ़ वेल्थ
 - 1.8.2.2 विऔद्योगीकरण
- 1.4 ईस्ट इंडिया कंपनी और ब्रिटिश क्राउन: औपनिवेशिक शोषण का कुचक्र
 - 1.4.1 कृषि अर्थव्यवस्था पर औपनिवेशिक शासन का दुष्प्रभाव
 - 1.4.2 परम्परागत उद्योग धंधों का विनाश और विऔद्योगीकरण
 - 1.4.3 शहरी और ग्रामीण जनता: बदलता जनसंख्या अनुपात
 - 1.4.4 यातायात और संचार क्षेत्र पर प्रभाव
- 1.5 भारतीय पूँजीपति वर्ग का विकास: औपनिवेशिक आधिपत्य को चुनौती
- 1.6 औपनिवेशिक शोषण का राजनीतिक ढांचा
- 1.7 सारांश
 - 1.8संदर्भ ग्रंथ सूची
 - 1.9सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
 - 1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

उपनिवेशवाद का मूल चरित्र ही गुलाम अर्थव्यवस्था का शोषण होता है. गुलाम बनाने वाला देश गुलाम बने देश के संसाधनों को अपने आर्थिक फायदे के लिए इस्तेमाल कर लेता है. भारत में ब्रिटिश राज इस मामले में शायद दुनिया का सबसे उपयुक्त उदाहरण है. लगभग 200 साल लम्बे औपनिवेशिक राज ने भारतीय अर्थव्यवस्था को पूरी तरह खोखला कर दिया था. अपने औपनिवेशिक हितों की पूर्ति के लिए ब्रिटिश राज ने भारत के परंपरागत आर्थिक ढाँचे का विनाश कर दिया था. उसकी जगह एक जिस व्यवस्था ने ली वो किसी भी प्रकार से भारतीय लोगों के भले के लिए तैयार नहीं की गयी थी. शिक्षा और क़ानून हो या फिर आर्थिक प्रावधान— सबका उद्देश्य भारत में ब्रिटिश राज की पकड़ को और मजबूत बनाना था. भले ही इनमें से कुछ जैसे रेलवे आज लाभप्रद प्रतीत होते हों, मूल रूप से उन्होंने भारत के औपनिवेशिक शोषण को ही सुगम बनाया. इस तरह इन सभी परिवर्तनों ने भारतीय समाज के भीतर और भी जटिल अंतर्विरोधों को जन्म दिया.

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको भारत में औपनिवेशिक शोषण के विभिन्न आयामों से अवगत कराना है. 1757 में प्लासी और फिर 1764 के बक्सर युद्ध से शुरू हुयी भारत के उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया ने धीरे-धीरे

भारतीय उपमहाद्वीप के बड़े भूभाग को अपने कब्जे में ले लिया और फिर एक समेकित दृष्टि से भारतीय अर्थव्यवस्था और उसके संसाधनों का दोहन किया गया. इसी प्रक्रिया की चर्चा करना इस इकाई में अपेक्षित है.

1.3 ब्रिटिश शासन का भारत पर प्रभाव: एक विमर्श

1.3.1 क्या ब्रिटिश राज भारतीयों के भले के लिए था: ब्रिटिश पक्ष

भारतीय और साम्राज्यवादी इतिहासकारों के बीच यह हमेशा एक विवाद का विषय रहा है कि भारत पर ब्रिटिश शासन का प्रभाव सकारात्मक था या नकारात्मक. बहुतेरे पाश्चात्य विद्वानों के लिए यह भारत को राजनीतिक एकता के सूत्र में गूँथने वाला और उसे एक राजनीतिक स्थिरता प्रदान करने वाला कारक रहा. यह छद्म तर्क उनके लिए ब्रिटेन द्वारा भारत पर आधिपत्य को सही ठहराने के लिए गढ़ा जाता है. 'श्वेत व्यक्ति के भार (वाइट मैन्स बर्डन)' के तहत अंग्रेज जिस उद्देश्य से दुनिया को सभी बनाने निकले थे, मान लिया गया कि भारत में भी उनकी भूमिका सभ्यतागत और राजनीतिक अर्थों में भारत को देश बनाने की रही.

उनका मानना है कि भारत में अठारहवीं शताब्दी के दौरान बेहद कम वाणिज्य और पूंजी उपभोग बेहद कम रहा और भारत में खेती की उत्पादकता इसलिए बेहद कम थी क्योंकि यहाँ नयी तकनीकों को खेती के भीतर उपभोग नहीं किया जाता था जिसके चलते बहुत-सी जमीन कृषि के दायरे से बाहर थी. और तीसरा कि भारत विनिर्माण के क्षेत्र में बेहद पिछड़ा हुआ था क्योंकि आधुनिक तकनीक के बारे में अनभिज्ञ था.

दरअसल, पाश्चात्य इतिहासकार खुद को यूरो-केन्द्रीयता से ऊपर नहीं उठा पाते इसलिए उन्हें ब्रिटेन सहित यूरोप के अन्य देशों की उपलब्धियाँ पूरी दुनिया के लिए सर्वमान्य लगती हैं. जैसे कि जिन देशों में अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी तक औद्योगिक क्रान्ति की दस्तक नहीं हुयी थी, वो उनके लिहाज से पिछड़े हुए मुल्क थे. इस बात को कहते हुए वे इस बात को बिल्कुल नज़रन्दाज़ कर देते हैं कि जिस समय ब्रिटेन भारत को गुलाम बना रहा था, उस समय तीसरी दुनिया के देश जैसे भारत और चीन दुनिया की सबसे बड़ी और मजबूत अर्थव्यवस्थाएं माने जाते थे. एक आकलन के मुताबिक भारत तो जीडीपी के मामले में चीन से भी कई गुना आगे था. एंगस मेडिसन की किताब *द वर्ल्ड इकोनोमीज़* के अनुसार यह विश्व जीडीपी का लगभग 23% बैठता था.

तकनीक के आधार पर भारत की अर्थव्यवस्था को नापने का यह पैमाना यह भी भूल जाता है कि भारतीय हथकरघा उद्योग को नष्ट करने के पहले भारतीय कपड़े बिना किसी औपनिवेशिक संरचना के यूरोप के बाजारों तक लोकप्रिय थे. लेकिन मोरलैंड और मोरिस डी० मोरिस आदि के लिए यह किसी आधुनिक तकनीक के आधार पर नहीं बल्कि कठोर परिश्रम के बल पर उत्पादित माल था.

इन प्रवक्ताओं के अनुसार भारत पर ब्रिटिश आधिपत्य एक सकारात्मक पहलू था क्योंकि उसके पहले तक भारतीय अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति सभी कुछ पिछड़ी हुयी और ठहरी हुयी थीं. उनके अनुसार यह ब्रिटेन का योगदान था जो भारत को एकजुट करके उसे एक जैसी प्रशासनिक संरचना के अंतर्गत ला सका; देश में यातायात के साधनों का अभूतपूर्व विकास किया और रेलवे जैसी अत्याधुनिक तकनीक को भारत में

पदार्पण ब्रिटेन के बिना संभव न था. इसके अलावा सिंचाई व्यवस्था और अन्य लोकनिर्माण के कार्यों को बढ़ावा देने की वजह से कृषि के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व तरक्की देखी गयी.

1.3.2 क्या ब्रिटिश राज भारतीयों के भले के लिए था: भारतीय पक्ष

उपनिवेशवाद के शोषणकारी चरित्र को समझने और समझाने का सबसे प्रयास उन्नीसवीं सदी के मध्य से भारत में शुरू हो गया था. आरंभिक राष्ट्रवादियों जैसे दादाभाई नौरोजी, रोमेशचन्द्र दत्त, पृथ्वीशचन्द्र राय आदि ने जमीनी आंकड़े इकट्ठा करते हुए दुनिया में पहली बार उपनिवेशवाद को वैज्ञानिक ढंग से समझने का प्रयास किया. उसके बाद रजनी पाम दत्त, फिर अमिय बागची और बिपन चन्द्र आदि ने इस बहस में भारतीय पक्ष को तार्किक ढंग से और मजबूती के साथ रखा.

इस सम्बन्ध में पहला सिद्धांत जिसने ब्रिटिश शासन के भले पक्ष की कलाई खोली, वह था धन की निकासी का प्रसिद्ध सिद्धांत.

1.3.2.1 ड्रेन ऑफ़ वेल्थ

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इस सिद्धांत में प्रतिपादित किया गया था कि ब्रिटिश राज भारतीय अर्थव्यवस्था का एक बड़ा हिस्सा सोखकर हर वर्ष भारत से बाहर भेज देता था जिसका कोई भी लाभ भारत को नहीं मिलता था. एक तरह से यह भारत द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से ब्रिटेन को नजराना भेजने जैसा था जिसके बारे में आम भारतीय एकदम अनभिज्ञ रहते थे. इसे ही दादाभाई नौरोजी ने 1861 में अपनी किताब पावर्टी एंड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया में ड्रेन ऑफ़ वेल्थ कहा है.

यह धन भारत में तैनात ब्रिटिश अधिकारियों के वेतन-भत्ते के रूप में, गृह-कर, युद्ध खर्च और भारत में ब्रिटिश निवेश के मुनाफे के तौर पर बाहर जाता था. अमिय बागची की गणना के अनुसार सिर्फ बंगाल से ही सकल घरेलू उत्पाद का तकरीबन 3 से 4 प्रतिशत धन ब्रिटेन चला जाता था. अगर युद्ध खर्चों को भी इसमें जोड़ लिया जाए तो यह प्रतिशत 5 से 6 तक पहुँच जाता था.

इस तरह भारतीय अर्थव्यवस्था के दोहन का सबसे क्रूर आयाम यह था कि प्रति वर्ष उसका एक बड़ा हिस्सा औपनिवेशिक सत्ता द्वारा हड़पकर खुद के लाभ के लिए खर्च कर दिया जाता था. इतना ही नहीं देशी महाजन तथा जमींदार में इस काम में हरगिज पीछे न थे. आज़ादी के ठीक पहले किसानों द्वारा लगान व सूद के रूप में 1 अरब 40 करोड़ रुपये प्रतिवर्ष वसूलते थे. 1934 तक तो यह रकम 18 अरब रुपये तक पहुँच गयी थी. राष्ट्रीय आय का करीब 20% जमींदारों, महाजन व अन्य बिचौलियों द्वारा हड़प कर लिया जाता था. इनमें से नाममात्र रुपये खेती-किसानी पर खर्च किये जाने थे और बाकी सारा उनके रहन-सहन, शानो-शौकत पर खर्च होता था.

इसके अलावा सामाजिक अधिशेष जो पूँजी के रूप में निवेश किया जा सकता था वह ब्रिटिश सत्ता, उसके अधिकारियों और व्यापारियों का वेतन दिखाकर हड़प कर लिया जाता था और उसे ब्रिटेन भेज दिया जाता था. इसके बदले में किसी भी प्रकार का आर्थिक या व्यावसायिक लाभ भारत को नहीं मिलता था. आंकड़ों

के अनुसार कुल राष्ट्रीय आय का 5 से 10% भाग प्रतिवर्ष बाहर भेजा जाता था. इस हालत में भारतीय अर्थव्यवस्था की तरक्की कतई असंभव थी.

1.3.2.2 विऔद्योगीकरण

दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धांत जो ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विनाशकारी चरित्र को उजागर करता है वो है विऔद्योगीकरण का सिद्धांत. इस सिद्धांत का मूल तर्क यह है कि ब्रिटेन ने भारत में परम्परागत हस्तशिल्प उद्योग का विनाश कर दिया और उसकी जगह कोई वैकल्पिक औद्योगिक ढांचा खड़ा करने में रूचि नहीं दिखाई, इसलिए भारत का विऔद्योगीकरण हो गया. दुनिया का एक महत्वपूर्ण कपड़ा उद्योग ब्रिटेन के लंकाशायर और मैनचेस्टर की कपड़ा मिलों के मुनाफ़े लिए बलि चढ़ा दिया गया. जिसकी कीमत भारत को एक नहीं कई तरह से चुकानी पड़ी. भारतीय बुनकर, कारीगर, हस्तशिल्पियों सहित भारत के महत्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र जैसे ढाका, सूरत, मुर्शिदाबाद आदि इस प्रक्रिया में बर्बाद हो गए. उद्योगों की ओर से बेरोजगार हुए लोगों के पास गाँवों की ओर वापस लौटने के सिवा कोई विकल्प नहीं था इसलिए भारत की शहरी आबादी में कमी और ग्रामीण आबादी में वृद्धि देखी गयी. कृषि क्षेत्र जो कि पहले ही गंभीर संकट से जूझ रहा था इस बोझ के बाद और बुरी तरह चरमराने लगा. इसकी परिणति भीषण गरीबी और भुखमरी में देखी गयी जिसकी वजह से ब्रिटिश शासन के दौरान करोड़ों-करोड़ भारतीय काल के गाल में समा गए.

1.4 ईस्ट इंडिया कंपनी और ब्रिटिश क्राउन: औपनिवेशिक शोषण का कुचक्र

1772 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने सही अर्थों में बंगाल पर पूर्ण अधिकार स्थापित कर लिया था. यह एक व्यापारिक कंपनी थी जो धीरे-धीरे भारतीय राजनीतिक बँटवारे का फायदा उठाकर शासक बन बैठी. चूँकि व्यापारिक कंपनी होने के नाते उसका मुख्य ज्यादा से ज्यादा मुनाफ़ा बटोरना था, उसने इसी उद्देश्य से काम करना शुरू किया. लेकिन उसको मिले इस मौके ने ब्रिटेन के अन्य प्रतिस्पर्धियों के भीतर ईर्ष्या पैदा की.

ब्रिटिश सरकार इन विभिन्न व्यापारिक दबाव समूहों को अनसुना नहीं कर सकती थी इसलिए उसने समझौते का रास्ता निकाला. इसमें तय किया गया कि कंपनी के भारतीय प्रशासन की बुनियादी नीतियों पर ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण रहेगा ताकि भारत पर ब्रिटिश शासन को ब्रिटेन के विभिन्न उच्च वर्गीय हितों के अनुरूप सामान रूप से हितकारी ढंग से चलाया जा सके. 1773 का रेग्युलेटिंग एक्ट इसी के नीति के तहत पास हुआ और 1784 का पिट का इंडिया एक्ट भी इसी उद्देश्य से पारित किया गया था. पिट इंडिया एक्ट के अनुसार कंपनी के मसलों व भारतीय प्रशासन पर ब्रिटिश सरकार का पूरा नियंत्रण कायम हो गया.

एक बार ईस्ट इंडिया कंपनी के भारतीय उपनिवेश का ब्रिटिश सरकार के अधीन आने का सीधा सा अर्थ था कि अब भारत को ब्रिटिश उपनिवेशवादी नीतियों के अंतर्गत लाकर उसकी अर्थव्यवस्था का शोषण ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था के व्यापक हितों की दृष्टि से किया जायेगा. यह दौर था जब ब्रिटेन के भीतर औद्योगिक क्रान्ति का पहला चरण शुरू हो चुका था. लंकाशायर और मैनचेस्टर के उद्योगपतियों के साथ-साथ अब ब्रिटेन के विभिन्न व्यापारी और उद्योगपति भारत के मुनाफेदार उपनिवेश में अपना हिस्सा तलाशना चाहते थे.

यह ध्यान रखना चाहिए कि गुलाम बनाये जाने तक भारत दुनिया की सबसे मजबूत अर्थव्यवस्था थी और चीन को छोड़ अन्य देश उसकी तुलना में बहुत पिछड़े थे. इसलिए भारत पर सबकी साम्राज्यवादी शक्तियों की गिद्ध दृष्टि जमी हुई थी.

1793 के बाद लार्ड कार्नवालिस ने जिस तरह कम्पनी के बंगाल प्रशासन को स्वरूप देने की प्रक्रिया शुरू की, उसके दो मूलभूत लक्ष्य थे— एक था कंपनी के नवस्थापित उपनिवेश को सुरक्षित बनाना और दूसरा भारत पर अधिकार को कम्पनी के अलावा ब्रिटेन के प्रभावशाली तबकों के लिए अधिक से अधिक लाभप्रद बनाना.

अपने मूल स्वरूप में ईस्ट इंडिया कंपनी ब्रिटेन तथा अन्य देशों में भारतीय मालों के निर्यातक के रूप में नये बाजार तलाशती रहती थी. जिसके जरिये भारतीय माल का निर्यात बढ़ता था और यही वजह थी कि भारतीय राज्य इन फैक्टोरियों की स्थापना को न सिर्फ सहन कर लेते थे बल्कि उसे प्रोत्साहित भी करते थे. यह तब तक चलता रहा जब तक ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति की वजह से कपड़ा उत्पादन में अभूतपूर्व क्रान्ति नहीं हुयी थी. लेकिन उसके बाद ब्रिटिश उद्योगपति ब्रिटेन में भारतीय कपड़े की लोकप्रियता से ईर्ष्या करने लगे. यह इतना बड़ा और महत्वपूर्ण मुद्दा था कि ब्रिटिश अंग्रेजी साहित्य तक में भारतीय कपड़े के एकाधिकार की शिकायत होने लगी.

लिहाजा भारतीय माल को प्रतिबंधित करने या उसके आयात को ब्रिटेन में हतोत्साहित करने के लिए ब्रिटिश उद्योगपति सरकार पर दबाव बनाने लगे. हालाँकि 18वीं सदी के मध्य तक भारतीय वस्त्र विदेशी बाजारों में जमे रहे लेकिन तब तक नयी व विकसित प्रौद्योगिकी के आधार पर ब्रिटिश वस्त्र उद्योग को भी नए बाजारों की तलाश थी जिसके लिए उसके उपनिवेश सबसे स्वाभाविक बाजार थे.

1813 वो साल था जब समृद्ध भारतीय हस्तशिल्प को तगड़ा झटका लगा और सिर्फ विदेशी बाजार ही नहीं बल्कि खुद अपना भारतीय बाजार भी उनसे छीन लिया गया. इस तरह ब्रिटिश औद्योगिक क्रान्ति ने उपनिवेशवाद के चरित्र में आमूलचूल परिवर्तन कर दिए और भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश सरकार की दया और इच्छा के अधीन कर दिया.

इस परिघटना के बाद भारत एक तरह से ब्रिटेन का खेतिहर आर्थिक उपनिवेश बना गया और भारतीय हथकरघा दस्तकारों को ब्रिटेन की मिलों में बने माल के साथ एक असमान और अन्यायपूर्ण प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा. इस सस्ते माल का मुकाबला भारतीय दस्तकार न कर सके. ब्रिटिश राज ने विदेशी माल को भारत में प्रवेश की खुली छूट दे दी और भारतीय मालों पर ब्रिटेन में भारी आयात शुल्क लगा दिए. उदाहरण के तौर पर 1824 में भारत के मोटे सूती कपड़ों पर आयात शुल्क की दर 67.5 % तथा भारतीय मलमल पर 37.5 % थी.

कुल मिलाकर भारतीय उद्योग एक खास किस्म के राजनीतिक अन्याय का शिकार होते चले गए और कालान्तर में दस्तकारों ने अपने पुश्तैनी धंधों से तौबा कर ली. उद्योग धंधों के उजड़ने का सीधा असर खेती-

किसानी पर पड़ा जहाँ पहले ही मालगुजारी नीतियों ने भारतीय कृषि व्यवस्था की कमर तोड़ दी थी. इसके बावजूद अगर भारतीय अर्थव्यवस्था का कोई स्वरूप बचा भी तो तैयार औद्योगिक उत्पादन की जगह रेशम, कपास जैसे कच्चे मालों के निर्यातक-मात्र का रह गया.

1.4.1 कृषि अर्थव्यवस्था पर औपनिवेशिक शासन का दुष्प्रभाव

जब ईस्ट इंडिया कम्पनी ने बंगाल आदि क्षेत्रों पर अपना कब्जा जमाया तो कृषि उनके लिए लाभ का सबसे प्रत्यक्ष साधन था. कृषि से होने वाली राजस्व आय का दोहन करके कम्पनी अपने मुनाफे में कई गुना वृद्धि कर सकती थी. कई अन्य देशों में तो उपनिवेशवाद मूलतः कृषि आधारित ही था. स्पेन, पुर्तगाल और ब्रिटेन ने अमेरिकी महाद्वीप का आर्थिक शोषण करते हुए वहाँ गन्ना, तम्बाकू आदि उपजाए क्योंकि 15वीं-16वीं सदी के यूरोप में इन उत्पादों की जबरदस्त मांग थी.

यूरोपियन औपनिवेशिक देशों से महंगे कपड़े, धातुएं और अन्य कीमती माल भरकर जहाज अफ्रीका पहुंचते थे. जहाँ इस सामान के बदले बड़ी संख्या में दासों को खरीदा जाता था. फिर दासों से भरे जहाज वहाँ से अमेरिका पहुंचते थे जहाँ दासों को इन खेतों में काम करने के लिए लगाया जाता था. फिर अमेरिका में हुयी कृषि उपज को लेकर यही मालवाहक जहाज यूरोप पहुंचते थे. यह कृषि उपज यूरोप में मनचाहे दामों पर बेची जाती थीं.

इस तरह, औपनिवेशिक हितों के लिए कृषि अर्थव्यवस्था का दोहन उपनिवेशवाद की एक सामान्य प्रवृत्ति थी. लेकिन भारत में स्थितियाँ और भी भयावह थीं.

सबसे पहले भारतीय कृषि को नियंत्रित करने के लिए राजस्व या काश्तकारी कानूनों में मूलभूत परिवर्तन किये गए. इस नयी औपनिवेशिक व्यवस्था के पिरामिड में अंग्रेजी राज सर्वोच्च था जिसके अधीन जमींदारों, महाजनों, व्यापारियों, बिचालियों के बाद सबसे नीचे किसान और खेत मजदूर थे. एक तरह से कृषि अर्थव्यवस्था को सामंती चरित्र प्रदान किया गया जो हर तरह से खेती और किसान के लिए हानिकारक थी.

पहली बार इस नयी व्यवस्था में जमीन की नीलामी का चलन शुरू हुआ जिसकी वजह से बड़ी तादात में जमीन काश्तकार के हाथ से निकलकर दूरस्थ मालिकों के हाथ में चली गयी. इसने बंटाईदारी प्रथा और अधीनस्थ काश्तकारी जैसे नकारात्मक तत्वों को बढ़ावा दिया.

मालगुजारी की तीनों औपनिवेशिक पद्धतियों— इस्तमरारी या स्थायी बंदोबस्त, रैयतवारी और महालवारी— का एक सामान्य उद्देश्य भारतीय कृषि से ज्यादा से ज्यादा मालगुजारी वसूल करना था. इसके लिए काश्तकारों को जमींदारों और मालगुजारों को भूस्वामी के तौर पर स्थापित कर दिया गया और काश्तकारों का दर्जा घटकर बंटाईदार मात्र का हो गया जिनकी जमीन को निर्धारित लगान न चुकाने पर कभी भी नीलाम किया जा सकता था.

दरअसल, मालगुजारी की नीतियाँ बनाते समय अंग्रेजी शासकों के मन में बिचौलियों और लगान वसूलने वाले स्थानीय शक्तिशाली वर्गों को अपना समर्थक बनाना भी बड़ा उद्देश्य था इसलिए भी काश्तकारों के हितों और सहूलियतों की पूरी तरह अनदेखी की गयी। यहाँ तक कि रैयतवारी इलाकों में जहाँ जमींदारी तबका नहीं पैदा हुआ, राज्य खुद ही जमींदार की भूमिका में आ गया। इन इलाकों में भले ही सैद्धांतिक रूप से किसानों को ही जमीन का असली मालिक मान लिया गया था लेकिन वास्तव में उनकी बढ़ती मालगुजारी दरें और उनको चुकाने की अनिवार्यता ने किसानों को एकदम हाशिये पर धकेलने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी।

सबसे नकारात्मक पहलू यह था कि ज्यादा से ज्यादा लगान वसूलने के लिए काश्तकारी व्यवस्था को एक दमनकारी व्यवस्था में तब्दील कर दिया गया था। इस व्यवस्था में खेती का विकास करना किसी प्राथमिकता में ही नहीं था इसलिए बड़ी आसानी से किसान विरोधी कानूनों के माध्यम से इसका शोषण किया जा सका।

जमीनों की नीलामी की व्यवस्था ने समृद्ध किसानों के एक नए वर्ग को तैयार किया जो मूलतः जमींदार या महाजन होते थे। इन वर्गों का जमीन से कोई सीधा लगाव नहीं होता था और न ही ये वर्ग खेती से हुयी आय पर ही पूरी तरह निर्भर थे। दूसरी तरफ, छोटी काश्त के किसान के पास इतना पैसा नहीं था कि वो खेती की तकनीक, बीज या खाद को उन्नत बनाने का कोई प्रयास कर सके।

फिर 'सूर्यास्त क़ानून' जैसे नीलामी कानूनों ने छोटे काश्तकारों को भूमिहीनता की कगार पर खड़ा कर दिया था। यह भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था के लिए एकदम अनोखी बात थी। क्योंकि इससे पहले की सभी शासन प्रणालियों ने भूमि पर किसान के अधिकार के परंपरागत सिद्धांत को मान्यता दी थी। लेकिन कम्पनी राज के शुरूआती दिनों से ही औपनिवेशिक शोषणकर्ता लगान न चुकाने की दशा में जमीन की नीलामी के नए क़ानून को बेहद सख्ती के साथ लागू किया था।

अपनी जमीन से हाथ धोते जा रहे छोटे किसान धीरे-धीरे भूमिहीन मजदूर होते चले गए। 1871 में कुल किसान आबादी में खेतिहर मजदूरों की संख्या 13% थी। 1951 तक आते-आते यानी आज़ादी तक यह संख्या बढ़कर 28% हो गयी थी।

जमींदारियाँ नीलाम करने के डर से बाढ़ या सूखे की वजह से फसल खराब होने या फसल कम होने पर भी जमींदार पूरा लगान वसूल करने का प्रयास करता था। बेगार आदि की वजह से किसान एक तरह निर्मम शोषण और आर्थिक शोषण की दोहरी मार का शिकार होते थे।

खेती में उत्पादन की दशा यह थी कि 1901 से 1941 के बीच प्रति व्यक्ति उत्पादन में लगभग 14% की गिरावट दर्ज की गयी। जबकि प्रति व्यक्ति खाद्यान्न में तो 24% की अभूतपूर्व गिरावट आ गयी थी। यह ऐसी जटिल स्थिति थी जब औपनिवेशिक राज्य कृषि से अधिकतम राजस्व वसूलने में तो यकीन रखता था लेकिन कृषि की दिनों-दिन खराब होती हालत को सुधारने का कोई प्रोत्साहन नहीं उपलब्ध था।

इसकी वजह से छोटे किसानों और खेतिहर मजदूरों की बड़ी आबादी के लिए भूखों मरने जैसी हालत पैदा हो गयी थी। इसलिए अंग्रेजी राज के दौरान लगातार पड़ते अकाल भारतीय कृषि की दुर्दशा का सबसे बड़ा

आइना बन गए. इन अकालों में आश्चर्यजनक रूप से करोड़ों किसान और उनके परिवार मौत के मुंह में समा गए.

यह समझना जरूरी है कि औपनिवेशिक शासन भारतीय कृषि के साथ क्या अपेक्षा रखता था. उसकी पहली प्राथमिकता अंग्रेजी राज्य के लिए अधिकतम राजस्व जुटाना था जिसके लिए उसने बड़ी कठोरता और निष्ठुरता से जमींदारों और किसानों का दोहन करने की नीति अपनाई. दूसरी प्राथमिकता यह थी कि अंतर्राष्ट्रीय मांग के हिसाब से भारतीय किसानों को वाणिज्यिक खेती करने के लिए मजबूर किया जाए. यानी भारत को कृषि संबंधी कच्चे माल का निर्यातक बनाकर ब्रिटेन अफीम, नील और कपास नकदी आदि फसलों से लाभ कमाता था.

इसलिए पूरे देश में यातायात साधनों का विकास किया गया ताकि दूरदराज के गाँवों से कच्चा माल बंदरगाहों बंदरगाहों तक निर्यात करने के लिए पहुंचाया जा सके. बदले में ब्रिटेन में शुरू हुयी औद्योगिक क्रान्ति से बहुत बड़ी तादात में उत्पादित हुए कपड़े भारतीय बाजारों में खपाए गए.

अंतर्राष्ट्रीय बाजार से जुड़ने पर भारतीय कृषि को भी निश्चित तौर पर नयी तकनीक और संरचना का लाभ मिलना चाहिए था. लेकिन ऐसा करने में ब्रिटिश राज की कोई रूचि नहीं थी. इसलिए भारतीय कृषि पुरानी तौर-तरीकों पर ही निर्भर रही और 18वीं सदी में जो नयी खोजें हो रही थीं और तकनीक के क्षेत्र में जो उल्लेखनीय परिवर्तन हो रहे थे भारतीय कृषि उससे बिलकुल अछूती रही.

एक इकलौता ऐसा क्षेत्र सिंचाई का था जिसके लिए बाकायदा एक अलग विभाग बनाया गया. इसके पीछे सबसे बड़ी वजह यह थी कि बना सिंचाई सुविधा के मानसूनी जलवायु में खेती की शुरुआत करना भी असंभव था इसलिए इस व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाये रखना जरूरी था. इसके अलावा पहले से ही भारतीय शासकों ने सिंचाई की एक गहन व्यवस्था का निर्माण कर रखा था इसलिए इस पर कोई बड़ा राजस्व खर्च करने की जरूरत भी नहीं थी.

1.4.2 परम्परागत उद्योग धंधों का विनाश और विऔद्योगीकरण

ध्यान रखिये कि जिस समय अंग्रेजी राज भारत पर अपना शिकंजा मजबूत कर रहा था लगभग उसी समय ब्रिटेन में एक नयी क्रान्ति जन्म ले रही थी जिसे हम औद्योगिक क्रान्ति कहते हैं. औद्योगिक क्रान्ति का अर्थ है उद्योग के पुराने ढांचे का विनाश और उसकी जगह पूँजी आधारित बड़े उद्योगों का आरम्भ. इसके पहले भारत के अलावा यूरोप के भीतर भी उद्योगों का सामान्य अर्थ घरेलू या हथकरघा आदि छोटे उद्योगों से था. लेकिन औद्योगिक क्रान्ति के बाद अचानक बहुत बड़े स्तर पर मशीन आधारित उत्पादन ने उद्योग और बाजार दोनों के मायनों को नया आयाम दे दिया.

फैक्ट्री आधारित उत्पादन से उत्पादन की मात्रा में बहुत ज्यादा उछाल आया और इसीलिए इस उत्पादन को खपाने के लिए नए बाजारों की जरूरत पड़ी. उपनिवेशवाद की शुरुआत ही नए-नए क्षेत्रों के संसाधनों और

बाज़ार पर कब्जे से ही हुयी थी. औद्योगिक क्रान्ति की शुरुआत के बाद संसाधनों पर यही कब्जा बाज़ार को भी हथियाने के काम आया.

उपनिवेशों के भीतर इस माल को खपाने के लिए जरूरी था कि वहां के स्थानीय उद्योग-धंधों की लन्दन और मेनचेस्टर की मिलों के हितों के लिए बलि चढ़ा दिया जाए. इस तर्ज पर भारतीय उद्योग धंधों का विनाश ब्रिटेन के औपनिवेशिक हितों के लिए जरूरी था. सोची-समझी नीति से भारतीय हथकरघा और शिल्पकला जैसे उद्योगों को हतोत्साहित किया गया और बड़ी संख्या में इन कामों में लगे लोग बेरोजगार होते चले गए.

इसकी सबसे बड़ी वजह थी कि अब कोई भारतीय सरकार अपने उद्योग-धंधों को संरक्षण देने के लिए मौजूद न थी बल्कि एक विदेशी सरकार अपने उत्पादों से भारतीय बाज़ारों को भर देने की नीयत से भारतीय उद्योगों से शत्रुवत व्यवहार कर रही थी.

हालांकि 19वीं सदी के मध्य में कुछ भारतीय उद्योगों में आधुनिकीकरण के चिन्ह दिखाई दिए लेकिन निश्चित ही यह सरकारी नीयत के विरुद्ध ही हो सका. साथ ही ब्रिटेन और फिर यूरोप के बाकी हिस्सों की तुलना में कहें तो यह नगण्य ही कहा जा सकता है. पहले यह जूट तथा चाय के बागानों में दिखाई दिया लेकिन 1930 आते-आते यह चीनी, सीमेंट और कागज़ उद्योगों तक भी इस आधुनिकीकरण का विस्तार हुआ.

हालांकि यह निश्चित तौर से भारतीय पूंजीपतियों के अपने प्रयासों का नतीजा था जिन्होंने अपने उद्यम से ब्रिटिश राज की अनिच्छा के बावजूद ऐसा करने में सफलता प्राप्त की. यह भी महत्वपूर्ण है कि भारतीय पूंजीपति वर्ग को संरक्षण अंग्रेजी सरकार ने नहीं बल्कि उसके खिलाफ विकसित हो रहे स्वाधीनता संघर्ष से हासिल हुआ.

यही वजह थी कि भारतीय पूंजीपति वर्ग भारतीय स्वाधीनता संग्राम के साथ जुड़ सका. नेहरू तथा सुभाष चन्द्र बोस आदि स्वाधीनता संघर्ष के कई नेताओं का भी यही मानना था कि भारतीय राष्ट्र की उन्नति के लिए एक सशक्त राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग का खड़ा होना बहुत जरूरी है जो भारत पर ब्रिटिश पूंजीपतियों के वर्चस्व को चुनौती दे सके.

प्राथमिक अथवा भारी उद्योग भी भारतीय पूंजीपति द्वारा ही शुरू किये गए. अंग्रेजी राज ने भारत के हथकरघा उद्योग को चौपट करके जिस विऔद्योगिकीकरण की प्रक्रिया को जन्म दिया उसने उद्योग धंधों में एक भारी रिक्ति पैदा कर दिया. इसीलिए आजादी के पहले तक भी सकल राष्ट्रीय आय में उद्योगों का योगदान सिर्फ 7.5% ही था. भारी उद्योगों पर कोई ध्यान नहीं देने की वजह से ही 1950 तक भारत अपनी जरूरत की तकरीबन 90% मशीनों का विदेशों से आयात करने को मजबूर था.

इस्पात जैसे बुनियादी उद्योग की शुरुआत भारत में टाटा ने बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में की थी. लेकिन निजी भारतीय पूँजी से बहुत छोटे स्तर पर किये जा रहे इस्पात उत्पादन से देश का आर्थिक ढांचा खड़ा नहीं किया

जा सकता था. 1950 में भारत प्रति वर्ष सिर्फ 10 लाख टन इस्पात का उत्पादन करने में सक्षम था. वहीं एक अन्य बुनियादी उद्योग कोयला खनन उद्योग में सिर्फ 3 करोड़ 28 लाख टन उत्पादन संभव था.

विऔद्योगीकरण को सिद्ध करने का एक पैमाना रोजगार भी है. यानी किसी खास समय में कितने लोग उद्योग धंधों से अपना रोजगार हासिल करते थे, यह उद्योग-धंधों के स्वास्थ्य का पैमाना है. 1950 तक 35 करोड़ से ऊपर की आबादी वाले देश में महज 20 लाख 30 हजार लोग ही उद्योग धंधों से जुड़कर अपना पेट पाल रहे थे.

यही वजह है कि भारतीय अर्थव्यवस्था एक गहरे द्वैध से जूझ रही थी. परंपरागत उद्योग के चौपट हो जाने से कृषि कर्म के साथ-साथ उद्योग चलाने वाले लोगों की पूरी तरह खेती पर निर्भरता हो गयी. पेशेवर दस्तकार और मजदूर तो वापस खेती की ओर लौटने को मजबूर हुए. इससे खेती पर दबाव और बढ़ा जिसने पहले से ही गहराते जा रहे कृषि संकट को और गंभीर बना दिया.

उद्योगों और गैर-कृषि गतिविधियों में आयी इस गिरावट ने लोगों को शहरों से वापस गाँवों की ओर पलायन को अनिवार्य बना दिया. इस वजह से कृषि पर और अधिक दबाव आया जो पहले ही बुरे संकट के दौर से गुजर रही थी.

1.4.3 शहरी और ग्रामीण जनता: बदलता जनसंख्या अनुपात

भारत में ग्रामीण तथा शहरी जनसंख्या का अनुपात भी आर्थिक पिछड़ेपन के परिणामस्वरूप बदल गया. उद्योग धंधों के विनाश के कारण बड़ी संख्या में लोगों का गाँवों की ओर पलायन हुआ. खेती पर आश्रितों की संख्या में जबरदस्त इजाफा हुआ जिसने ग्रामीण जनसंख्या में तुलनात्मक दृष्टि से अभूतपूर्व बढ़ोत्तरी हुयी.

आंकड़े बताते हैं कि 1901 में खेती पर आश्रित लोगों की संख्या का प्रतिशत मात्र 63.7 % था वहीं यह 1941 में बढ़कर तकरीबन 70 % पहुँच गया. लगभग साधे छह प्रतिशत की यह बढ़ोत्तरी किसी खास सीधी तौर पर विऔद्योगीकरण का परिणाम थी जिसमें भारत के परंपरागत उद्योग को औपनिवेशिक हितों की बलि चढ़ा दिया गया था. अगले दस सालों में यानी 1951 तक पहुँचते-पहुँचते यह प्रतिशत 82.3 तक पहुँच गया.

अगर कृषि पर बढ़ी निर्भरता के इन आंकड़ों को उद्योगों पर निर्भर जनसंख्या प्रतिशत के सामने रखें तो स्थिति और स्पष्ट हो जाती है. 1901 में उद्योग धंधों पर निर्भर लोगों की संख्या थी 1 करोड़ 3 लाख जो कि 1951 में घटकर मात्र 83 लाख रह गयी यानी तकरीबन 20 लाख लोग अपने धंधों को छोड़कर गाँवों की ओर लौटने को मजबूर हुए. जबकि यह वो समय है जब जनसंख्या में 40 % की तीव्र वृद्धि देखी गयी. गैर-कृषि क्षेत्रों में जो भी नए रोजगार के अवसर उपलब्ध थे उन पर विदेशी पूँजी और तंत्र बुरी तरह हावी था. कोयला, जूट, बैंकिंग, चाय बागान और जहाजरानी जैसे उद्योग तो पूरी तरह ब्रिटिश कंपनियों के अधीन थे.

1.4.4 यातायात और संचार क्षेत्र: औपनिवेशिक शोषण के औजार

किसी भी सत्ता को अपने अधीन समाज को गुलाम बनाये रखने के लिए दो चीजों की अनिवार्य आवश्यकता होती है— वो है यातायात साधनों और संचार व्यवस्था का विकास. इनसे न सिर्फ दूरदराज के इलाकों तक किसी भी आपातकालीन स्थिति में सेना भेजना संभव होता है बल्कि समाज के गहरे तक प्रवेश करके स्थानीय संसाधनों का दोहन करना भी आसान हो जाता है.

इसीलिए भारत में अंग्रेजी राज के दौरान यातायात और संचार ही एक ऐसा क्षेत्र था जिसमें चाहे-अनचाहे कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिले. 1940 के दशक में भारत में लगभग 65,000 मील पक्की सड़क तथा लगभग 42,000 मील रेलवे लाइन मौजूद थी. नदियों पहले से मौजूद आवागमन का रास्ता मुहैया कराती थीं इसलिए उनमें स्टीमर चलाये गए. सड़कों के निर्माण का पहला बड़ा प्रयास 1839 में तब शुरू हुआ जब कलकत्ता से दिल्ली तक ग्रैंड ट्रंक रोड का निर्माण आरम्भ हुआ.

दरअसल, यातायात साधनों का विकास इसलिए जरूरी था क्योंकि इसके माध्यम से देश के प्रमुख नगरों, बंदरगाहों, बाजारों और कच्चा माल उत्पादक क्षेत्रों को एक-दूसरे के साथ जोड़ा जा सकता था. इन साधनों के विकास से न केवल आवागमन में सुविधा हुयी बल्कि देश को प्रशासनिक और सामरिक दृष्टि से एकजुट रखने में मदद मिली.

ब्रिटेन और अमेरिका आदि देशों में रेलवे का विकास पूँजीवाद और औद्योगिक क्रान्ति के विकास का पूरक था. वहाँ कच्चे माल की आपूर्ति और औद्योगिक क्रान्ति के बाद विकसित हुयी मिलों में बने उत्पाद को दूरदराज के इलाकों तक पहुंचाने के लिए रेलवे का सहज विकास किया गया था. इन देशों में रेलवे के विकास ने सीधे तौर पर दो प्राथमिक उद्योगों—इस्पात तथा मशीन उद्योग— को बढ़ावा दिया. जिनकी बुनियाद पर ही अन्य द्वितीयक क्षेत्र उद्योग भी पल्लवित हुए थे. इसलिए वहाँ रेलवे औद्योगिक क्रान्ति के समान प्रभावी क्रान्ति बना.

लेकिन भारत में यह औपनिवेशिक शोषण को और गहरा व प्रभावी बनाने की दृष्टि से किया जा रहा था. इसका मुख्य उद्देश्य अंदरूनी क्षेत्रों से कच्चा माल आसानी से बंदरगाहों तक पहुंचाने में किया जाता था. भारतीय उद्योगों के विकास में यह किसी तरह सहायक नहीं था बल्कि 19वीं सदी में तो यह भारतीय उद्योगों के विनाश की कीमत पर हुआ विकास था.

इसे ऐसे समझ सकते हैं कि ब्रिटेन में रेलवे के विकास से जिस इस्पात, कपड़ा और मशीन निर्माण क्षेत्रों को फायदा हुआ, भारतीय रेलवे के विकास भी उन्हीं को लाभ पहुंचाने की दृष्टि से किया गया था. इसी दौरान भारत में आधुनिक डाक व्यवस्था और टेलीग्राम की व्यवस्था भी शुरू की गयी जो कि प्रशासनिक सूचनाओं के तीव्र आदान-प्रदान में सहायक तकनीकें थीं.

भारत में रेलवे के विस्तार के पैरोकार डलहौजी को इस काम में इसलिए इतनी रूचि थी क्योंकि रेलवे के विस्तार से ब्रिटेन के इस्पात उत्पादकों को बड़ा मुनाफ़ा मिलने वाला था. 1880 के बाद तो यह प्रक्रिया इतनी बेसब्री से पूरी की गयी कि निजी और सरकारी दोनों कंपनियों ने भारत में रेल लाइनें बिछाने का काम किया.

लोहा और कोयला उद्योग आधारभूत उद्योगों में सबसे महत्वपूर्ण उद्योग थे. ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति के दूसरे चरण की सफलता इसी बात पर निर्भर थी कि प्रथम चरण में सूती कपड़ा उद्योग से मजबूत हुए और अब लोहा तथा कोयला उद्योग में उतरे पूंजीपतियों को इस व्यापार से कितना भारी मुनाफ़ा हासिल होता है. इसीलिए भारत में रेलवे का विकास ब्रिटिश औद्योगिक क्रान्ति के लिए एक भारी मुनाफे का कारोबार था. साथ ही उसका मुख्य उद्देश्य भारतीय अर्थव्यवस्था के शोषण को और तीव्र व सुचारू बनाना था.

1.5 भारतीय पूंजीपति वर्ग का विकास: औपनिवेशिक आधिपत्य को चुनौती

औपनिवेशिक राज की सभी नीतियाँ दरअसल उसके मातृदेश के आर्थिक व सैन्य हितों को ध्यान में रखकर तय की जाती थीं जिसके पीछे ब्रिटेन के व्यापारिक वर्ग का ज़बरदस्त दबाव भी काम करता था. भारत में कृषि तथा उद्योगों को राजकीय संरक्षण प्राप्त नहीं था जबकि खुद ब्रिटेन इसी राजकीय संरक्षण की नीति के बल पर अपने यहाँ औद्योगीकरण के पहले चरण को सफलतापूर्वक प्राप्त कर सका था. भारतीय उद्योगों को किसी तरह का टैरिफ संरक्षण प्रदान करने से औपनिवेशिक सत्ता से हमेशा परहेज रखा. वहीं अमेरिका और ब्रिटेन जैसे औद्योगिक देश अपने यहाँ उद्योगों को पूरी तरह राज्य का समर्थन मुहैया कराते थे.

हालांकि राष्ट्रीय आंदोलन के दबाव चलते 1918 के बाद यानी प्रथम विश्वयुद्ध की परिस्थितियों के दबाव में कुछ भारतीय उद्योगों को टैरिफ संरक्षण प्रदान किया गया लेकिन यह बेहद कम और लगभग बेअसर किस्म का संरक्षण था. यही वजह थी कि भारतीय अर्थव्यवस्था नेहरू के शब्दों में कहें तो कच्चे माल के आपूर्तिकर्ता के रूप में विकसित की गयी जो कि ब्रिटिश आर्थिक हितों के लिए जरूरी था. अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में टिकने लायक राजकीय मदद भारतीय पूंजीपतियों को कभी नहीं मिली और उसके लिए उन्हें आज़ादी मिलने तक इंतज़ार करना पड़ा.

20वीं सदी के शुरूआती दशकों में एक नया परिवर्तन देखने में आया. यह था भारतीय पूंजी आधारित और भारतीय स्वामित्व वाले कुछ उद्योगों का विकास. सूती कपड़ा, जूट, चीनी, जैसे बड़े उद्योगों और साथ ही साबुन, कागज़, दियासलाई जैसी छोटी सामग्रियों के उत्पादन वाले लघु उद्योगों में भारतीयों ने ब्रिटिश एकाधिकार को चुनौती देते हुए अपनी जगह बनायी.

देशी पूंजीपतियों का यह वर्ग आर्थिक रूप से स्वतंत्र था और उपनिवेशवादी पूंजीपतियों के विपरीत यह एक वृहत्तर औपनिवेशिक शोषक तंत्र का हिस्सा नहीं था. बल्कि इनके लिए तो आर्थिक नीतियों पर उपनिवेशवादी नियन्त्रण पीछे खींचने वाली ताकत का काम करता था. चूँकि ये लोग राष्ट्रीय चेतना के साथ खुद को जुड़ा हुआ महसूस करते थे इसीलिए विदेशी पूंजी के मुकाबले देशी पूंजीपतियों के निवेश में तेजी से बढ़ोत्तरी हुयी. 1945 में द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति तक भारतीय पूंजीपतियों के नियंत्रण में बड़ी औद्योगिक इकाइयों का लगभग 60% हिस्सा आ गया था.

भारत में बड़े उद्योगों में निवेश करने के प्रति ब्रिटिश पूंजीपतियों ने कोई खास दिलचस्पी नहीं दिखाई थी क्योंकि उन्हें भारत में किसी तरह के द्वितीयक उद्योगों का विकास नहीं करना था. इसलिए भारी उद्योग क्षेत्र में

विकास करना अपेक्षाकृत भारी पूँजी की मांग अवश्य करता था लेकिन यहाँ प्रतिस्पर्धा भी अपेक्षाकृत न के बराबर थी. छोटे उद्योगों के विकास में इस तथ्य ने बड़ी भूमिका निभायी कि अब भारतीय पूँजीपति उद्योगों के भीतर निवेश करने में दिलचस्पी रखते थे भले ही ब्रिटिश राज की ओर से उन्हें कोई सक्रिय प्रोत्साहन नहीं मिलता था.

1947 तो बैंकिंग और बीमा जैसे अत्यंत महत्वपूर्ण आर्थिक क्षेत्रों में भारतीय पूँजीपतियों ने अपना वर्चस्व जैसा कायम कर लिया था. इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि लगभग 75% बीमा क्षेत्र पर भारतीय कंपनियों का कब्जा था.

जिस तरह ब्रिटिश भारत में भारतीय पूँजीपति वर्ग का उदय और विकास होता है उसे कतई नजरन्दाज नहीं किया जा सकता लेकिन इस तथ्य को भी ठुकराना मुश्किल था कि इसे किसी तरह यूरोप की तरह किसी औद्योगिक क्रांति का समतुल्य नहीं माना जा सकता. अभी भी भारतीय उद्योग तथा पूँजीवाद का विकास सीमित और कुंठित था. सबसे महत्वपूर्ण तर्क यह है कि सभी परिवर्तन औपनिवेशिक ढाँचे के भीतर और कभी-कभी तो उसके बावजूद अस्तित्व में आये थे.

इसलिए इसका श्रेय औपनिवेशिक सत्ता को नहीं बल्कि उनकी विनाशकारी और विभेदकारी आर्थिक नीतियों के खिलाफ भारतीयों के संघर्ष को जाता है. इस प्रक्रिया को बढ़ावा देने में प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध और 1930 के दशक की विश्वव्यापी आर्थिक मंदी को जाता है जिसकी वजह से ब्रिटिश सत्ता को अपनी इच्छा के विरुद्ध भारतीयों को कुछ रियायत देनी पड़ी.

1947 तक भारत के पास विज्ञान व तकनीक में प्रशिक्षित लोगों का बेहद छोटा समूह था क्योंकि ब्रिटिश उद्योगों को तकनीकी विकास के लिए भारत पर निर्भरता न के बराबर थी. यही वजह थी कि ज्यादातर उद्योगों में तकनीकी व प्रबंधकीय विभाग विदेशियों के हाथों में ही केन्द्रित थे. 1939 तक देश में केवल 7 इंजीनियरिंग कॉलेज मौजूद थे जहाँ मात्र 2214 छात्र ही अध्ययनरत थे.

1.6 औपनिवेशिक शोषण का राजनीतिक ढांचा

औपनिवेशिक सत्ता मूल रूप से निरंकुश व तानाशाही प्रवृत्ति की थी परन्तु उदारवाद के कुछ तत्व भी मौजूद थे क्योंकि कुछ भी हो यह सत्ता आखिरकार कानून-व्यवस्था पर आधारित थी जो कि अपेक्षाकृत स्वतंत्र न्याय प्रणाली पर आधारित थी. प्रशासन कानून के प्रति जिम्मेदार रहता था और न्यायालयों के माध्यम से कानून का संचालन किया जाता था.

यह प्रणाली कुछ हद तक प्रशासन की निरंकुशता पर अंकुश भी लगाती थी और नागरिकों के सामान्य अधिकारों की रक्षा भी करती थी. हालाँकि वास्तविकता यह थी कि अधिकाँश कानून ही दमनकारी और अपूर्ण थे, न्याय व्यवस्था बेहद महँगी और जटिल थी और इसलिए इनका मनचाहे ढंग से दुरुपयोग भी किया जाता था.

प्रशासन तथा न्यायिक संस्थानों के बीच शक्ति व अधिकार के क्षेत्र का बँटवारा नहीं किया गया था. सिविल सेवा का एक ही सदस्य किसी भी जिले का प्रशासन भी चलाता था और जिला मजिस्ट्रेट की हैसियत से न्याय का काम भी देखता था. हालाँकि औपनिवेशिक न्याय प्रणाली प्रत्येक व्यक्ति की समानता के सिद्धांत पर आधारित थी जिसमें व्यक्ति की जाति, धर्म, वर्ग या सामाजिक हैसियत के अन्य मापदंड मायने नहीं रखते थे, लेकिन व्यावहारिक रूप से इसमें गंभीर खामियाँ थीं. साफ़ तौर पर यूरोपियों के प्रति लड़ाई के समय रंगभेद और नस्लभेद साफ़ दिखाई देता था और उनके पक्ष में पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया जाता था. इसके अलावा न्यायालय का काम का तरीका बेहद खर्चीला था जिससे गरीब लगभग इस प्रणाली के बाहर चले जाते थे.

इन सारी बातों के साथ यह महत्वपूर्ण है कि प्रेस की आज़ादी, साधारण मौकों पर बोलने व एकत्रित होने की आज़ादी भी सैधांतिक तौर पर मौजूद थी जिस पर समय-समय पर सरकार शिकंजा कसती रहती थी. खास तौर पर जन आन्दोलनों के समय इन अधिकारों का खुलेआम हनन किया जाता था. 1857 के बाद प्रेस और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अधिक हमले होने लगे. गौरतलब है कि नागरिक अधिकारों का हनन दमनकारी कानूनों के आधार पर किया जाता था न कि प्रशासन के मनमाने तरीके से.

1858 के बाद तक औपनिवेशिक सत्ता द्वारा थोड़ी बहुत संवैधानिक व आर्थिक रियायतें जारी रखी गयीं लेकिन मूलभूत राजनीतिक शक्तियाँ अपने हाथों में ही नियंत्रित रखीं. भारतीयों के प्रतिनिधिमूलक राजसत्ता के विचार का विदेशी शासकों और राजनेताओं ने सदैव खंडन किया जिसके पीछे तर्क गढ़ा गया कि भारत में जनवाद उचित नहीं है और यहाँ निरंकुश शासन व्यवस्था ही कारगर होगी. राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर करने के उद्देश्य से इसके कुछ नेताओं को अपने पक्ष में करने का प्रयास भी किया गया लेकिन अंग्रेज इस चाल में कामयाब न हो सके.

दूसरी तरफ भारतीयों के लगातार दबाव के चलते औपनिवेशिक सत्ता को चुनाव तथा विधान मंडलों की उनकी मांगों को केंद्र व प्रदेश दोनों स्तरों पर मानने के लिए बाध्य होना पड़ा. हालाँकि मताधिकार का दायरा बेहद संकीर्ण था. 1919 के बाद तक केवल 3% भारतीयों को ही वोट डालने का अधिकार प्राप्त हुआ और 1935 के बाद भी यह बढ़कर मात्र 13% ही पहुँचा था.

औपनिवेशिक सत्ता ने जितने बड़े स्तर पर भारत का प्रशासनिक व राजनीतिक एकीकरण किया जो इससे पहले कोई और सत्ता न कर सकी थी. मुगल शासन प्रणाली को आधार बनाकर एक क़ानून व्यवस्था बनाई गयी जिसने संयुक्त प्रशासनिक शक्ति का निर्माण किया. एक समरूप शिक्षा पद्धति पूरे देश में लागू हुयी जिसने भारतीय बुद्धिजीवी समुदाय का सृजन करने में निर्णायक भूमिका निभाई. यही समुदाय समाज को समझने व विचार करने की दृष्टि देने में सहायक बना.

इस प्रकार कहें तो संयुक्त अर्थव्यवस्था और आधुनिक संचार प्रणाली की पृष्ठभूमि में उपनिवेशवाद ने राष्ट्र के रूप में भारत के निर्माण की आधारशिला रखी. यह एकीकरण उपनिवेशवाद की मजबूरी थी क्योंकि इतने बड़े

क्षेत्र पर मुट्टी भर लोगों के साथ शासन कर पाना बिना एकीकरण के असंभव था. लेकिन अपने ही द्वारा निर्मित इस एकता से बाद में वे खुद ही डरने लगे और इस एकीकरण एक ठीक विपरीत प्रक्रिया आरंभ कर दी.

यही से साम्राज्यवादी सिद्धांत 'फूट डालो, राज करो' की नीति एक तहत भारतीय जनता को आपस में लड़ाने का काम शुरू हो गया. जाति के खिलाफ जाति, प्रांत के खिलाफ प्रांत, वर्ग के खिलाफ वर्ग, धर्म के खिलाफ धर्म और रजवाड़ों और जमींदारों को एक दूसरे के खिलाफ खड़ा किया जाने लगा. भारत की जिस भिन्नता पर नाज़ किया जाता था उसी को हथियार बनाकर लोगों के बीच दूरी पैदा की गयी और अंततः भारत छोड़ने से पहले वे देश के दो टुकड़े कराने में कामयाब हो गए.

भारत पर अंग्रेजी तंत्र आधुनिक अफसर प्रणाली के तहत काम करता था जिसकी कमान उच्च वेतनभोक्ता इंडियन सिविल सर्विसेज के सदस्यों के हाथों में थी. 1918 में भारतीय दबावों के चलते भारतीयों को इसमें प्रवेश मिलना शुरू हुआ और 1947 तक सिविल सेवा के 48% सदस्य भारतीय हो गए. हालाँकि नीतिगत मामलों में असल नियंत्रण अंग्रेजों के ही हाथों में रहा.

इसके अलावा इस क्षेत्र में कार्यरत भारतीय वास्तव में अंग्रेजों के एजेंट के रूप में ही काम करते थे. इस व्यवस्था ने एक ईमानदार, कर्तव्यनिष्ठ और पूर्ण समर्पण वाली नागरिक सेवा की परंपरा विकसित की. धीरे-धीरे इसमें बदलाव होता गया और इन प्रशासकों ने समाज में अपना अलग दायरा निर्धारित कर लिया जो की सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक तौर पर बेहद दकियानूसी था.

उच्च प्राश्निक क्षेत्र भले ही ईमानदार रहा हो लेकिन निचले स्तर पर भ्रष्टाचार जमकर फलफूल रहा था. लोकनिर्माण व सिंचाई विभाग, राजकीय सेवा आपूर्ति व पुलिस आदि विभागों में भ्रष्टाचार आम बात थी. द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान यह भ्रष्टाचार और कालाबाजारी प्रशासन के भीतर तेजी से घर कर गयी. आयकर व आबकारी करों में भारी बढ़ोत्तरी की गयी जिसने लोगों में करों की चोरी की प्रवृत्ति पैदा कर दी. प्रशासन भ्रष्ट हो गया और समानान्तर स्तर पर भ्रष्टाचार की काली अर्थव्यवस्था स्थापित होती चली गयी.

अंग्रेजों का सैन्य बल इसी का उदाहरण प्रस्तुत करता है. अंग्रेजी राज को भारत में स्थापित करने में सेना मजबूत स्तम्भ के रूप में कार्यरत रही. अंग्रेजों ने सेना को पूरी तरह से आम जनता व खास तौर से राष्ट्रीय आन्दोलन से काट कर रखने का प्रयास किया. राष्ट्रवादी अखबार, पत्रिकाएँ और एनी प्रकाशनों को सैनिकों तक जाने से रोका जाता था. इसका परिणाम यह हुआ कि सेना अंत तक पूरी तरह से अराजनीतिक बनी रही और औपनिवेशिक सत्ता के निर्देशों के तहत ही अनुशासित ढंग से काम करती रही. वहीं दूसरी तरफ अंग्रेजों की शिक्षा नीति ने भी शिश्नित वर्गों व आम जनता के बीच बड़ी खाई पैदा कर दी. हालाँकि इसी शिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग ने उपनिवेशवाद के विरुद्ध सोचने की चेतना पैदा की. राष्ट्रीय आन्दोलन ने इस खाई को पाटने की कोशिशों में कुछ हद तक सफलता प्राप्त की थी.

19वीं सदी के अंत तक शिक्षा अर्थव्यवस्था व संस्कृति के विकास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू बना गया था. लेकिन आमजन के लिए शिक्षा एक द्वार बंद रहे और 1951 में भारत की लगभग 84% जनता निरक्षर थी और महिलाओं की दशा तो और भी ज्यादा खराब थी जिनके बीच निरक्षरों की संख्या 92% थी.

भारत से वसूले गए राजस्व का एक बड़ा भाग सेना, प्रशासन और कानून-व्यवस्था बनाये रखने पर खर्च होता था. 1890 के बाद के वर्षों में केंद्र की कुल आमदनी का 50% सैनिकों पर खर्च होता था. 1947-8 के दौरान यह प्रतिशत 47% रहा. इसके साथ-साथ भारतीय कर ढांचा भी अन्त्याधिक असमानतापूर्ण था. गरीब किसानों पर करों का भारी बोझ था वहीं धनी जमींदारों, उच्च आय वर्ग के अफसरों, व्यापारियों पर शायद ही कोई कर लगाया गया था. 1946-7 के दौरान आयकर अदा करने वाले लोगों की संख्या मात्र 3,60,000 थी जबकि किसानों व गरीबों से नमक जैसी वस्तुओं के लिए भी कर वसूला जाता था. 20वीं सदी में आकर राष्ट्रीय तथा कृषक आन्दोलनों के दबाव में आकर ब्रितानी सरकार नमक और एनी लगाणों की दर में कुछ कटौती करनी पड़ी. आंकड़ों के अनुसार 1900-1901 तक कुल राजस्व का 53% भाग मालगुजारी व 16% नमक कर से प्राप्त होता था.

किसी भी अर्थव्यवस्था का विकास उसमें होने वाले पूँजीनिवेश पर निर्भर करता है. साथ ही उस पूँजी का चरित्र यह तय करता है कि वो देश की अर्थव्यवस्था में सकारात्मक या नकारात्मक कैसा प्रभाव उत्पन्न करेगा. दूसरा महत्वपूर्ण कारक अर्थव्यवस्था में बचत तथा उसके उपयोग का अनुपात होता है.

इस प्रकार 1914 से 1946 के बीच के आँकड़े देखें तो पता चलता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था में कुल बचत सकल राष्ट्रीय उत्पाद का मात्र 2.75% थी जो 1971 से 75 यानी आजादी के तकरीबन 25 सालों में ही बढ़कर 12.35% हो गयी थी. यानी गुलाम भारत में बचत का अनुपात इतना कम था कि अर्थव्यवस्था हमेशा ढहने के कगार पर खड़ी रहती थी.

परिणामस्वरूप 191-6 के दौरान सकल पूँजी निर्माण सकल राष्ट्रीय उत्पाद का मात्र 6.75% ही हुआ वहीं 1971 से 75 के दौर में यह 20.14% प्रतिशत तक पहुँच गया. 1914 से 46 के दौरान पूँजी निर्माण के निम्नतम स्तर में भी उद्योगों का हिस्सा कुल भाग का 1.78 % था जो कि 1971 से 75 के समय बढ़कर 6.33 % तक बढ़ गया.

1.7 सारांश

ब्रिटिश राज की आर्थिक-सामाजिक नीतियों का सबसे भीषण दुष्प्रभाव सामान्य भारतीयों के जनजीवन और स्वास्थ्य पर पड़ा. भीषण आर्थिक शोषण, कृषि की बदहाली, विऔद्योगीकरण आदि के चलते भयंकर गरीबी आयी और एक के बाद एक आये कई अकालों और महामारियों में करोड़ों लोग काल के गाल में समा गए. इनमें 1943 का बंगाल अकाल सबसे भीषण और कुख्यात था जिसमें लगभग 30 लाख लोग मौत के घाट उतर गए.

आर्थिक नीतियों की वजह से उपजी गरीबी और भुखमरी और खाद्यान्न वितरण की खामियों के अलावा स्वास्थ्य सुविधाओं का घोर अभाव इतनी बड़ी तादात में हुयी मौतों की एक बड़ी वजह रही. 1943 तक देश में सिर्फ 10 मेडिकल कॉलेज थे जहाँ से प्रतिवर्ष मात्र 700 डॉक्टर्स पढ़कर निकलते थे. 27 मेडिकल स्कूलों में प्रतिवर्ष 7,000 स्वास्थ्य कर्मचारी तैयार किये जाते थे जिनमें से अधिकांश शहरी क्षेत्रों में ही अपनी सेवाएं देते थे.

1951 यानी आज़ादी के चार साल बाद के आंकड़ों के हिसाब से देश भर में डॉक्टरों की संख्या 18,000 मात्र थी. कुल 1915 अस्पतालों में बिस्तरों की संख्या 1,16,731 थी. देश में मात्र 6,589 डिस्पेंसरी थीं जहां कुल 7,072 बिस्तर थे. शहरों में सफाई और जलनिकासी व्यवस्था सिविल लाइंस तक सीमित थी जहाँ अंग्रेज और अंग्रेजी व्यवस्था से जुड़े अधिकारी रहते थे. बाकी जगहों पर गंदगी और पानी के जमावड़े का बुरा हाल था जिसकी वजह से किसी भी आपदा के समय महामारी का फैलना भी एक बड़ी चुनौती बन जाता था. खासतौर पर अकालों की श्रृंखला के दौरान महामारियों का फैलना एकदम सामान्य बात थी.

इस तरह, औपनिवेशिक राज के अधीन दुनिया की सबसे बड़ी और मजबूत अर्थव्यवस्था—भारतीय अर्थव्यवस्था— का औपनिवेशिक हितों के लिए अंधाधुंध शोषण किया गया जिससे कि उसका परंपरागत ढांचा टूट गया. कोई भी हितकारी राज्य इसकी जगह नए वैकल्पिक ढाँचे का निर्माण करके अपने लोगों के लिए रोजगार और उत्पादन के नए रास्ते खोलता लेकिन ब्रिटिश राज तो एक शोषक पम्प की तरह भारतीय अर्थव्यवस्था के कंकाल पर खड़ा दुनिया का सबसे ताकतवर साम्राज्य बनने के उद्देश्य से संचालित था. हालांकि इस ढहती हुयी अर्थव्यवस्था में 1930-1940 के दशक में कुछ जान देखने में आयी और लगा कि कुछ सकारात्मक बदलाव आने वाले हैं. लेकिन इसकी वजहें ब्रिटिश राज की नीतियों में नहीं कुछ तो अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में छिपी थीं और कुछ भारतीय पूंजीपतियों के अपने प्रयासों में.

1.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

- 1 ईश्वर .रीधरन 2011, ओरियंट ब्लैकस्वॉन : नई दिल्ली, एक पाठ्यपुस्तक : लेख—इतिहास,
- 2 बिपिन चन्द्र 1998, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय : दिल्ली, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष,
- 3 सुमित सरकार 2002, राजकमल प्रकाशन : नई दिल्ली, 1947-1885 : आधुनिक भारत,
- 4 द्विजेन्द्रनारायण झाग्रंथ : दिल्ली, सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की पड़ताल : प्राचीन भारत, 2000, शिल्पी

* David Recharts: 'On the Principles of Political Economy and Taxation', John Murray, London, 1817.

* James Mill: 'The History of British India', Cradock and joy, Baldwin, London, (first edition), 1818.

* Ramkrishna Mukherjee: 'The Dynamics of a Rural Society : A study of the Economic Structure in Bengal Village', Akademic – Verlag, Berlin, 1957.

- * Ranajit Guha : 'A Rule of Property for Bengal : an essay on the idea of permanent settlement', Mouton & Co., Paris, 1963, New edition Duke University Press.
- * Robert Eric Frykenberg: 'Land control and Social Structure in Indian History,' Madison, 1969, New Delhi 1978 Madison: University of Wisconsin Press, 1969. 'Land Control and Social structure in Indian History' Manohar, New Delhi, 1978.
- * Rajat and Ratna Ray: 'Dynamics of Continuity in Rural Bengal under the British Emporium : A Study of Quasi-Stable Equilibrium in Underdeveloped Societies in a Changing world', Indian Economic & Social History Review, New Delhi, April, 1973.
- * Dharma Kumar: 'Land ownership and inequality in Madras Presidency', IESHR, 12(2), New Delhi, 1975.
- * David Arnold: 'Police, Power Colonial Rule in Madras', (1859-1947), Oxford University Press, New Delhi, 1986.

1.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

-1 सव्यासाची भट्टाचार्य "कोलोनियल हिस्टोरियोग्राफी एपरोचेज एंड ,संपादक ,सव्यासाची भट्टाचार्य " 19-यूनिट ,6-ब्लॉक ,03-एम एच आई ,इगनू ,1-थीम्स इन इंडियन हिस्टोरियोग्राफीमेंरा इंदि :नई दिल्ली , गॉधी नेशनल ओपन यूनीवर्सिटी 2005 ,

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. ब्रिटिश शासनकाल में कृषि के वाणिज्यीकरण का आलोचनात्मक परीक्षण करें?
2. ब्रिटिश औपनिवेशिक भारत में ऋणग्रस्तता के कारण एवं प्रभाव का मूल्यांकन करें?
3. ब्रिटिश शासनकाल में अंग्रेजों की अकाल नीति की समीक्षा करें?

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 परिचय व पृष्ठभूमि
- 2.4 रियासतों का विलय क्यों अनिवार्य था?
- 2.5 रियासतों के विलय की प्रक्रिया?
- 2.6 रियासतों के विलय का प्रथम चरण
 - 2.6.1 जूनागढ़
 - 2.6.2 कश्मीर
 - 2.6.3 कश्मीर विवाद और नेहरू
 - 2.6.4 हैदराबाद
- 2.7 रियासतों के विलय का दूसरा चरण
- 2.8 अंतिम चरण और गोवा का विलय
- 2.9 विलय की तीन नीतियाँ
- 2.10 सारांश
- 2.11 सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची
- 2.12 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

भारत को मिली स्वतंत्रता के पश्चात जो तात्कालिक समस्या सबसे जटिल बनकर उभरी थी, वह थी- देशी रियासतों के विलय की चुनौती. यह कोई आसान काम नहीं था. इनके पीछे एक लंबा इतिहास और उसकी प्रक्रियाएँ काम कर रही थीं. अपने लिए वफ़ादार भारतीय सहयोगी तलाशने के क्रम में ब्रिटिश सरकार ने देशी रियासतों को राजनीतिक संरक्षण दे रखा था. इसलिए भारतीय उपमहाद्वीप के भीतर दो तरह के राज्य काम कर रहे थे. पहला, ब्रिटिश क्राउन के अधीन अंग्रेज़ी साम्राज्य और दूसरा ब्रिटिश रेजिडेंट्स की निगरानी में देशी रजवाड़ों के राज्य.

जब स्वतंत्रता की घोषणा हुयी तो सिर्फ़ ब्रिटिश राज के अधीन इलाका ही भारतीय राज्य में शामिल था. रियासतों के लिए दुलमुल नीति के बाद अंततः उनको भारतीय या पाकिस्तानी गणराज्य में विलय अनिवार्य कर दिया गया था. भारतीय सीमाक्षेत्र में जहाँ-तहाँ फैली तमाम रियासतों को भारतीय राज्य में मिलाने का जटिल काम स्वतंत्र भारत की सरकार ने अपने हाथ में लिया और उसे बखूबी अंजाम तक पहुँचाया. खास बात यह थी कि इसमें से कई रियासतों के लिए अलग-अलग रणनीति बनानी पड़ीं. अंततः महज़ दो सालों के अंतराल में ही पाँच सौ से ज्यादा रियासतों का भारतीय राज्य में सफलतापूर्वक विलय कर दिया गया.

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व देशी रजवाड़ों के स्वरूप एवं स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात देशी रजवाड़ों के भारतीय राज्य में एकीकरण की प्रक्रिया को समझाना है? साथ ही रियासतों के विलय की प्रक्रिया में सरकार एवं उनके सहयोगी मंत्रिमंडल की भूमिकाओं को सामने लाना भी इस इकाई का उद्देश्य है.

2.3 परिचय व पृष्ठभूमि

ब्रिटिश काल में पूरा भारत दो स्पष्ट हिस्सों में बंटा हुआ था. एक था ब्रिटिश भारत जो अंग्रेज़ों के प्रत्यक्ष नियंत्रण में था. दूसरा हिस्सा सैकड़ों छोटी-बड़ी देशी रियासतों में बंटा हुआ था जो कुल भारतीय उपमहाद्वीप का तकरीबन 40 प्रतिशत था. यह रियासतें कहने को ब्रिटिश भारत से भिन्न थीं, लेकिन अपरोक्ष रूप से ब्रिटिश राज के लिए सुरक्षा कवच का काम करती थीं.

1857 के महाविद्रोह के समय इनमें से कई रियासतों ने अंग्रेज़ी साम्राज्य का साथ दिया था. इसलिए ब्रिटिश नीति-नियंता उनको अपने प्रति वफ़ादार राज्यों के तौर पर संरक्षण प्रदान करते थे. जब 15 अगस्त 1947 भारत औपचारिक तौर पर स्वतंत्र हुआ तो उसके सामने सबसे बड़ी चुनौती इन्हीं सैकड़ों रियासतों का एक संगठित राजनीतिक इकाई—भारतीय राष्ट्र— में विलय करना था.

भारतीय स्वतंत्रता अपने साथ भारत का दो पृथक राष्ट्रों, भारत और पाकिस्तान, में विभाजन भी लेकर आयी. आज़ादी और विभाजन के द्वैध के बीच इन रियासतों को लेकर तीन तरह की संभावनाएं खुली हुई थीं. पहली यह कि उनका भारतीय राज्य में विलय हो जाता. दूसरी संभावना थी कि वे स्वयं को पाकिस्तान राज्य में शामिल करने का निर्णय लेतीं. तीसरा रास्ता यह था कि इन दोनों संभावनाओं के विपरीत वो अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाए रखने का प्रयास करतीं.

भारतीय नजरिये से देखें तो अधिकतर देशी रियासतों ने उभरते हुए भारतीय राष्ट्र के साथ विलय के विकल्प को चुनना बेहतर समझा. उनमें से अधिकतर की भौगोलिक परिस्थिति ऐसी थी कि वे चारों ओर से भारतीय राज्य से घिरे हुए थे. ऐसी हालत में एक स्वतंत्र राज्य के रूप में उनका टिके रह पाना संदिग्ध था, यह वे समझ चुके थे. इसके

अलावा नवोदित भारतीय राज्य की ताकत के सामने उनकी कोई बिसात नहीं थी. बाकी बची कुछ रियासतों ने अंतिम दो विकल्पों को आजमाने का प्रयास किया जिनमें हैदराबाद, कश्मीर और जूनागढ़ का नाम प्रमुख है.

2.4 रियासतों का विलय क्यों अनिवार्य था?

आज़ाद भारत के सामने रियासतों के विलय की समस्या इतनी महत्वपूर्ण क्यों थी? विशाल भारतीय उपमहाद्वीप में घुन की तरह फैली इन रियासतों की वजह से भारतीय राज्य की सीमाओं का निर्धारण और उनका संरक्षण एक असंभव चुनौती थी. अंग्रेजों के हटते ही ज्यादातर रियासतों ने स्वतंत्र रहने के सपने देखने शुरू कर दिए थे. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने लम्बे समय तक रजवाड़ों में किसी भी प्रकार के दखल से खुद को अलग रखा. लेकिन 1938 के बाद से उसने प्रत्यक्ष रूप से प्रजा मंडल आन्दोलनों को न सिर्फ बढ़ावा दिया बल्कि उसे शेष भारत के आन्दोलन से जोड़ने की कोशिश भी की. देशी रियासतों के भीतर राजतंत्र पहले की तरह ही स्थापित था और वहाँ की जनता अधिकतर लोकतान्त्रिक अधिकारों से वंचित थी.

कुछ रियासतों जैसे बड़ौदा और मैसूर आदि ने कुछ क्षेत्रों जैसे शिक्षा आदि पर ध्यान दिया था लेकिन वहाँ भी प्रतिनिधित्व की कोई गुंजाइश मौजूद नहीं थी. अगर भारत को एक शक्तिशाली राष्ट्र-राज्य के रूप में दुनिया के नक्शे पर उभरना था तो वो अपने भौगोलिक क्षेत्र के भीतर एक विशाल आबादी को अलोकतांत्रिक शासकों के अधीन छोड़ना अहितकर था.

इसके अतिरिक्त अर्थव्यवस्था और व्यापार-वाणिज्य के नजरिये से भी भारतीय उपमहाद्वीप का इतने सारे हिस्सों में बंटा होना नुकसानदायक था. फिर भारत अपने समुद्रतट के काफी बड़े हिस्से भी वंचित रह जाता जो कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार-वाणिज्य की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण थे. इन रियासतों में मौजूद प्राकृतिक एवं खनिज संसाधनों पर भारत का कोई हक़ नहीं होता. पहले ही कई महत्वपूर्ण इलाके पाकिस्तान में चले जाने से कमजोर हुयी भारतीय अर्थव्यवस्था को निश्चित ही भारी नुकसान का सामना करना पड़ता.

ये रियासतें जिस तरह भारतीय उपमहाद्वीप में बिखरी हुयी थीं, भारत की आंतरिक सुरक्षा की दृष्टि से खतरा बन सकती थीं. फिर इनकी विदेश नीति और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में उनका झुकाव भारत के प्रति उनके व्यवहार को प्रभावित कर सकता था. कुछ रियासतें जैसे हैदराबाद आदि का पाकिस्तान के प्रति झुकाव भारत के लिए सदैव एक चुनौती बना रहने वाला था.

स्वतंत्र बने रहने की स्थिति में उनके भविष्य के बारे में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता था. ब्रिटिश प्रधानमंत्री क्लिमेंट एटली ने 20 फरवरी 1947 की अपनी घोषणा के बाद रजवाड़ों के शासकों का मनोबल बहुत ऊँचा हुआ और उन्हें लगा कि दो विशाल देशों— भारत और पाकिस्तान— के बीच वो अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने में कामयाब हो जायेंगे. यही वजह थी कि कई रियासतों ने 15 अगस्त 1947 को ब्रिटिश शासन के समाप्त होते ही स्वयं भी स्वतंत्र होने का दावा किया.

पाकिस्तान के जनक मोहम्मद अली जिन्ना भी चाहते थे कि भारत इस तरह की आंतरिक चुनौतियों से घिरा रहे. 18 जून 1947 को उन्होंने घोषणा की कि पैरामाउंटसी की समाप्ति के बाद सभी रियासतें स्वतंत्र और प्रभुसत्तासंपन्न राज्य के तौर पर मान्यता प्राप्त करेंगी. इसके अलावा वे स्वतंत्र रहने के विकल्प का चुनाव भी कर सकती थीं. जाहिर है इसका ज्यादा नुकसान भारतीय राज्य को भुगतना पड़ता क्योंकि ज्यादातर बड़ी रियासतें उसके अपने भूभाग के भीतर पड़ती थीं.

हालांकि बाद में ब्रिटिश सरकार एशिया के भीतर अपने संभावित सहयोगी के तौर पर भारत को देखने लगी तो उसने सैद्धांतिक रूप से भारत को छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़ने की नीति से पल्ला झाड़ लिया. भारतीय स्वाधीनता अधिनियम पर अपने भाषण में एटली ने अपनी पुरानी नीति को उलटते हुए कहा कि उन्हें आशा है कि सभी रियासतें कुछ समय में ब्रिटिश राष्ट्रमंडल या अन्य भारतीय राज्यों के भीतर अपना उचित स्थान तलाश लेंगी.

निश्चित रूप से भारतीय राष्ट्रवादी ऐसे भारत के लिए तैयार नहीं थे जो बुरी तरह छिद्रित हो. जहाँ सैकड़ों छोटी-बड़ी रियासतें भारतीय राज्य की स्वतंत्रता और संप्रभुता को खतरा पहुंचाएं. फिर ब्रिटिश भारत में चलने वाले भारतीय स्वाधीनता संघर्ष की आँच रजवाड़ों की जनता पर भी पड़ी थी और उनके भीतर भी स्वतंत्रता और लोकतंत्र की भावना बलवती हो गयी थी.

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने लम्बे समय तक रजवाड़ों के आंतरिक मामलों से दूरी बनाये रखी. उनका अनुमान था कि ऐसा न करने पर राजे-राजवाड़े खुलकर अपनी जनता की आकांक्षाओं का दमन करने लगेंगे. हालाँकि 19वीं सदी के चौथे दशक से इस नीति में भारी बदलाव आये थे और भारतीय स्वाधीनता संघर्ष व रजवाड़ों के भीतर के आन्दोलन के बीच गहरे अंतर्संबंध विकसित हुए थे.

इन वजहों से भारतीय और रजवाड़ों के जननेताओं ने शुरुआत से ही रियासतों की स्वतंत्रता के दावे को ठुकरा दिया. उन्होंने बार-बार इस बात पर जोर दिया कि देशी रजवाड़ों के सामने भारत में शामिल होने के अलावा और कोई विकल्प न दिया जाए. उनका मानना था कि राजनीतिक सत्ता पर अधिकार राजा का नहीं बल्कि जनता का होता और इसलिए देशी रियासतों की जनता भारतीय राष्ट्र का अभिन्न अंग है. इस आत्मविश्वास की वजह थी कि रियासतों की जनता प्रजा समितियों के नेतृत्व में स्वयं रजवाड़ों के विरुद्ध आंदोलित और संगठित थी और उसकी स्पष्ट सहानुभूति भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के साथ थी.

रियासतों के विलय का जो प्रभाव स्वतंत्र भारत पर पड़ा उसे हम रियासतों की जनता के लोकतंत्रीकरण के रूप में भी देख सकते हैं. भारत के लिए यह प्रभाव भविष्य की दिशा में एक सार्थक महत्व रखता है. यदि ऐसा न हो पाता तो भारत टुकड़े-टुकड़े में बंट जाता और आज यह विश्व का एक एकीकृत राष्ट्र न होता. इस भूभाग पर रहने वाले आज के भारतीय कभी भी भारत के नागरिक होते, वे संभवतः अपनी रियासतों या राज्य के निवासी होते. कहने का मतलब यह है कि रियासतों के सफलतापूर्ण विलय ने सम्पूर्ण भारत को एक राष्ट्रीय इकाई में के रूप में स्थापित कर दिया था.

पंडित जवाहर लाल नेहरू एवं वल्लभ भाई पटेल दोनों के इस विलयकरण में मुख्य भूमिका रही थी. दोनों ने इस सफलता के प्रति हर्ष(खुशी) व्यक्त करते हुए अपनी अलग अलग प्रतिक्रिया दी थीं. नेहरू ने कहा था— “यदि कोई व्यक्ति मुझसे छः माह पूर्व यह पूछता कि अगले छः महीने में क्या होगा? तो मैं यह नहीं कह सकता था कि अगले छः महीने में शीघ्र ही ऐसे परिवर्तन होंगे.” इसी प्रकार पटेल ने भी अपने शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा था कि “भारत की भौगोलिक, राजनैतिक और आर्थिक एकता का आदर्श जो शताब्दियों तक दूर का स्वप्न रहा और स्वतंत्रता के बाद भी वैसा ही दूर और कठिनता से प्राप्त होने वाला प्रतीक हो रहा था, वह अब पूर्ण रूप से प्राप्त हो गया है.”

इस प्रकार रियासतों का सम्पूर्ण विलय भारतीय उपमहाद्वीप में लोकतंत्र के फलने-फूलने में बहुत सहायक सिद्ध हुआ. लोकतांत्रिक संस्थाओं के निर्माण और संविधान निर्माण में भी इसने ठोस पृष्ठभूमि का निर्माण किया. नेहरू ने सितम्बर 1948 ई. में ही कहा था— “इस बाहरी एकीकरण से अधिक महत्व की बात यह है कि आंतरिक एकीकरण हुआ है. अर्थात् राज्यों में लोकतंत्र का विकास हुआ है.”

2.5 कैसे हुआ रियासतों का विलय?

इस दिशा में शुरूआती सफलता तब मिली जब अप्रैल 1947 की संविधान सभा में शामिल होकर कुछ रियासतों ने औपचारिक रूप से भारतीय राज्य में विलय की घोषणा कर दी. हालाँकि ज्यादातर रियासतों ने या तो इससे अलग रहने का निश्चय किया या सही समय के आकलन का. यहाँ तक कि त्रावणकोर, भोपाल और हैदराबाद जैसे रियासतों के राजाओं ने तो सार्वजनिक तौर पर अपने लिए स्वतंत्र रहने की दलीलें पेश करनी शुरू कर दीं.

ऐसे में भारत सरकार के उपप्रधानमंत्री और गृह मंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल की अगुवाई और वी०पी० मेनन जैसे दक्ष वार्ताकारों की मदद से देशी रियासतों के भारत में विलय की गंभीर सरकारी पहल शुरू हुयी. 27 जून 1947 को भारत सरकार ने इस काम के लिए सरदार पटेल की अध्यक्षता में बाकायदा रियासत विभाग का गठन किया और वी०पी० मेनन को इसका सचिव बनाया गया.

सरदार पटेल इन रियासतों के मंसूबों की वजह से नवोदित भारतीय राष्ट्र की एकता के सामने खतरे से पूरी तरह वाकिफ थे. इस काम की शुरूआत उन्होंने उन राजाओं से अपील के साथ की जिसकी रियासतें भारतीय सीमाक्षेत्र के अन्दर चारों ओर से घिरी हुयी थीं. सरदार पटेल ने कहा कि इन रियासतों के राजा तीन केन्द्रीय विषयों— विदेश, सेना और संचार— के मामले भारतीय संघ को सौंप दें. उन्होंने इस अपील के साथ धमकी भरे अंदाज़ में कहा कि अगर इन रियासतों के राजाओं ने ऐसा नहीं किया तो वे उनकी रियासतों में अनियांत्रित होते जा रहे जनांदोलनों को काबू करने में किसी प्रकार की सहायता नहीं करेंगे. साथ ही यह भी जोड़ा कि अगर अभी इस प्रस्ताव को नहीं स्वीकार किया गया तो 15 अगस्त के बाद यह शर्तें और भी कड़ी हो जायेंगी.

यह तुरूप का पत्ता था. रियासतों में तेजी से लोकप्रिय हो रहे जन आन्दोलनों, कांग्रेस के कठोर रुख और सरदार पटेल द्वारा दिखाई जाने वाली दृढ़ता के चलते अनेक राजाओं ने इस अपील को तुरंत स्वीकार कर लिया.

2.5 रियासतों के विलय का प्रथम चरण

15 अगस्त के पहले तक ही लगभग सभी रजवाड़ों ने भारत में शामिल होने का निर्णय ले लिया सिर्फ़ तीन को छोड़कर. इन तीन रियासतों में दो अपने आकार में बहुत विशाल थीं और भारतीय राज्य के एकीकरण के प्रयासों के लिए कठिन परीक्षा प्रस्तुत करने वाली थीं. इसलिए इन तीनों रियासतों के विलय की प्रक्रिया और परिस्थिति के बारे में हम अलग से चर्चा करेंगे.

2.6.1 जूनागढ़

जूनागढ़ सौराष्ट्र के तट पर स्थित छोटी सी रियासत थी. इस रियासत की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि यह चारों ओर भारत से घिरी हुयी होने के कारण उस पर बुरी तरह निर्भर थी. भौगोलिक रूप से पाकिस्तान के साथ विलय की कोई भी संभावना बहुत दिन नहीं टिकने वाली थी. बावजूद इसके जूनागढ़ के नवाब ने 15 अगस्त 1947 को अपने राज्य का विलय पाकिस्तान के साथ करने का निर्णय ले लिया.

जूनागढ़ का नवाब सांप्रदायिक मुस्लिम था और उसे भारत के साथ रहने के बजाय पाकिस्तान के साथ रहने में अपना ज्यादा हित दिखाई दिया. चूंकि जिन्ना और मुस्लिम लीग के सबसे बड़े समर्थक जमींदार और मुस्लिम रजवाड़े थे इसलिए नवाब जूनागढ़ का झुकाव उनकी तरफ़ स्वाभाविक था और अंततः उन्होंने सितम्बर 1947 ई. को पाकिस्तान में सम्मिलित होने की घोषणा भी कर दी. जबकि राज्य की जनता अधिकांशतः हिन्दू थी और वो भारत में विलय की जोरदार ढंग से मांग कर रही थी.

धीरे धीरे राज्य के नागरिकों ने अपने नवाब के निर्णय का विरोध किया और एक 'स्वतंत्र अस्थाई हुकूमत' की स्थापना कर ली. मजबूर होकर नवाब पाकिस्तान भाग गया, जिसके बाद जूनागढ़ के दीवान शाहनवाज भुट्टो ने 8 नवम्बर, 1947 को जूनागढ़ के भारत में विलय से सम्बन्धित एक पत्र भारत सरकार को लिखा. भुट्टो की प्रार्थना भारत सरकार ने स्वीकार कर ली और 9 नवम्बर 1947 को जूनागढ़ का प्रशासन अपने हाथ में ले ली.

राष्ट्रवादी भारतीय नेता शुरुआत से ही जनता की राय को राजे-रजवाड़ों से ज्यादा तवज्जो देते थे. इस लिहाज से नेहरू और पटेल दोनों ने यह माना कि जूनागढ़ के पेचीदा मामले का समाधान तलाशते हुए निर्णायक स्वर वहाँ की जनता का ही माना जाना चाहिए. इस मान्यता के तहत उन्होंने माना कि जूनागढ़ के भविष्य का निर्णय जनमत संग्रह द्वारा किया जाना चाहिए.

लेकिन नवाब जूनागढ़ की पाकिस्तान में विलय की घोषणा के साथ अब तीसरे पक्ष के तौर पर पाकिस्तान भी उपस्थित था. पाकिस्तान ने भारतीय पक्ष की अवहेलना करते हुए जूनागढ़ के पाकिस्तान में विलय को स्वीकार कर लिया. लेकिन राज्य की जनता अपने भविष्य को लेकर बुरी तरह सशंकित थी और किसी भी तरह नवाब के निर्णय को मानने को तैयार नहीं थी.

पाकिस्तान के हस्तक्षेप और नवाब के निर्णय के विरुद्ध यह जनमत और संगठित हो गया और जूनागढ़ में जनता का आन्दोलन जोर पकड़ने लगा. राज्य में क्रान्ति-व्यवस्था की बिगड़ती स्थिति को देख नवाब घबरा गया और राज्य छोड़कर भाग खड़ा हुआ. जूनागढ़ के नवाब शाहनवाज भुट्टो ने भारत सरकार को ऐसी स्थिति में हस्तक्षेप करने के लिए आमंत्रित किया. परिणामस्वरूप भारतीय सेना ने जूनागढ़ में प्रवेश किया और फरवरी 1948 में उसकी देखरेख में हुए जनमत संग्रह के माध्यम से जूनागढ़ भारतीय राष्ट्र का अभिन्न अंग बन गया.

2.6.2 कश्मीर

जूनागढ़ के विपरीत कश्मीर रियासत की हालत एकदम उलट थी. जहाँ जूनागढ़ का नवाब मुस्लिम था और बहुसंख्यक जनता हिन्दू वहीं कश्मीर का राजा हिन्दू था लेकिन वहाँ मुस्लिम आबादी बहुसंख्यक थी. कश्मीर की कुल जनसंख्या में मुस्लिमों की संख्या तकरीबन 75% थी. इसके अलावा कश्मीर जूनागढ़ से अलग ऐसी रियासत थी जिसकी सीमाएं भारत और पाकिस्तान दोनों से मिलती थीं. कश्मीर का राजा हरी सिंह भारत या पाकिस्तान में विलय न चाहकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखने को इच्छुक था. भारत से उसे लोकतांत्रिक और राजतंत्र-जमींदार विरोधी होने का भय था तो पाकिस्तान की बुनियाद जिस उग्र सांप्रदायिक आधार पर रखी गयी थी उससे उसे घबराहट होती थी.

लेकिन कश्मीर के लोकप्रिय नेता शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में वहाँ की जनता भारत में विलय की मांग जोरदार ढंग से कर रही थी. भारतीय नेतृत्व ने कश्मीर के मामले में भी अपनी ओर से कोई आक्रामक कदम उठाये बिना परिस्थितियों को विकसित होने देने का निश्चय किया क्योंकि यहाँ तो भारत में विलय की माँग एक लोकप्रिय नेता के द्वारा उठायी जा रही थी. इसलिए यह तय था कि जनता अपनी ओर से ही इस मामले में पहल करेगी तब भारत उसका न्यायसंगत ढंग से साथ देगा. गांधीजी ने तो 1947 में अपनी ओर से यह तक कह दिया था कि कश्मीर की जनता अपनी इच्छानुसार भारत या पाकिस्तान में विलय का निर्णय करने के लिए स्वतंत्र है.

लेकिन पाकिस्तान जनमत की अवहेलना पर तुला था और उसने जूनागढ़ और हैदराबाद के मामले में जनमत संग्रह को सिरे से नकार दिया था. यही नहीं उसने कश्मीर के मामले में आम जनता की इच्छा और निर्णय की

अवहेलना की कोशिशें भी शुरू कर दीं. इस वजह से भारत को कश्मीर विलय के मुद्दे पर अपनी नीतियों को आंशिक रूप से परिवर्तित करने पर मजबूर होना पड़ा.

22 अक्टूबर 1947 को पाकिस्तानी सैन्य अफसरों के नेतृत्व में कई पठानी कबायलियों ने कश्मीर में घुसपैठ करके उसकी सीमा का अतिक्रमण किया. राजा हरि सिंह की कमजोर सेना इनके आगे टिक न सकी और यह तेजी से कश्मीर की राजधानी श्रीनगर की ओर बढ़ने लगे. मजबूरन 24 अक्टूबर को राजा ने भारतीय सेना से मदद की गुहार की क्योंकि वो पाकिस्तान में अपनी स्थिति को लेकर बेहद असुरक्षित था.

ऐसी हालत में भारतीय नेतृत्व ने कश्मीर के राजा को औपचारिक रूप से भारत में विलय करने की अपील की क्योंकि ऐसा करने पर ही भारतीय सेना अपनी सीमा की रक्षा के तर्क से पाकिस्तानी घुसपैठ को नाकाम करने में मदद कर सकती थी. गवर्नर जनरल लार्ड माउंटबेटन ने भी स्पष्ट कर दिया था कि बगैर औपचारिक विलय के भारतीय सेना कश्मीर में प्रवेश नहीं कर सकती.

एक ओर जहाँ सरदार पटेल राजा हरि सिंह पर लगातार सशर्त सहायता का दबाव बनाये हुए थे वहीं शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में जनता की छटपटाहट बढ़ती जा रही थी. आखिरकार 26 अक्टूबर को यानी कबायली हमले के चार दिन बाद ही राजा हरि सिंह ने शेख अब्दुल्ला को रियासत के प्रशासन का प्रमुख बनाकर कश्मीर के भारत में विलय के औपचारिक दस्तावेजों पर हस्ताक्षर कर दिए.

इसके तुरंत बाद हवाई जहाज से भारतीय सेना को कश्मीर पहुंचाने का निर्णय लिया गया. दिलचस्प है कि सेना को कश्मीर भेजने के निर्णय को गाँधीजी का समर्थन भी प्राप्त था. जब नेहरुजी और सरदार पटेल ने गाँधीजी से इस बाबत बात की तो उन्होंने कहा कि कश्मीर को शैतानों के आगे समर्पण नहीं करना चाहिए और आक्रमणकारियों को तुरंत बाहर धकेल देना चाहिए. 27 अक्टूबर को करीब 100 हवाई जहाजों में भरकर हथियारबंद सैनिकों को कश्मीर घाटी पहुंचा दिया गया. इस तरह भारत ने कश्मीर को लेकर पाकिस्तान द्वारा छोड़े गए छद्म युद्ध को स्वीकार कर लिया गया. सबसे पहले श्रीनगर को कब्जे से मुक्त कराया गया फिर पूरी घाटी से कबायली और छद्म पाकिस्तानी सेना को बाहर खदेड़ दिया गया. लेकिन कई हिस्सों पर पाकिस्तान का कब्जा बरकरार रहा और कई जगहों पर दोनों पक्षों में मुठभेड़ चलती रही. अभी तक पाकिस्तान यह युद्ध छद्म रूप से लड़ रहा था. लेकिन भारत के हस्तक्षेप के बाद संभावना बन गयी कि शायद पाकिस्तान खुलकर युद्ध की घोषणा कर दे.

ऐसी परिस्थिति में माउंटबेटन की सलाह पर 30 दिसंबर 1947 को भारत सरकार कश्मीर की समस्या को संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् में भेजने को तैयार हो गयी. इस अपील में आग्रह किया गया था कि सुरक्षा परिषद् पाकिस्तान द्वारा अतिक्रमित किये गए कश्मीरी हिस्सों को खाली करवाए.

2.6.3 कश्मीर विवाद और नेहरु

यह ऐसा बिंदु है जिस पर बहुत वाद-विवाद होता चला आया है. नेहरु चाहते थे कि नवोदित देशों को आपसी युद्धों से जितना संभव हो बचना होगा. क्योंकि युद्ध किसी भी देश की अर्थव्यवस्था पर भारी बोझ डालता है. नेहरु की दृष्टि के मुताबिक नए आजाद हुए देशों को पहले अपने देश के भीतरी मोर्चों जैसे गरीबी, बेरोजगारी और अशिक्षा आदि पर काम करना चाहिए. नेहरु ने बाद के वर्षों में इस काम को बखूबी अंजाम भी दिया और औपनिवेशिक शोषण से खोखले हो चुके देश को अपने पैरों पर खड़ा करने में नेहरु की केन्द्रीय भूमिका को सभी स्वीकारते हैं.

दूसरा नेहरु चाहते थे कि तीसरी दुनिया के देश द्वितीय विश्वयुद्ध के शीतयुद्ध के जमाने में आपसी टकराव के मुद्दे अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं को सौंप दें जिनका शांतिपूर्ण हल निकाला जा सके. पहले विश्वयुद्ध के बाद बने लीग ऑफ़

नेशंस की विफलता और फिर द्वितीय विश्वयुद्ध ने पूरी दुनिया के सामने यह प्रश्न प्रस्तुत कर दिया था कि कैसे दुनिया को युद्धों से मुक्त किया जा सके. नेहरु मानते थे कि तीसरी दुनिया के देशों को अमेरिका और सोवियत संघ के ध्रुवीय समीकरणों से अलग गुटनिरपेक्ष रहते हुए शान्ति और सद्भाव के लिए काम करना चाहिए. नेहरु का यह विज़न हमें बाद के दिनों में उनकी गुटनिरपेक्षता की नीति में दिखाई देता है.

यह नेहरु का आदर्शवाद ही था जिसके वशीभूत होकर वे साम्राज्यवादी देशों के मंसूबों को भांप न सके. सुरक्षा परिषद् पूर्व साम्राज्यवादी देशों के हाथों की कठपुतली बन जाएगा, यह नेहरु अनुमान नहीं लगा सके. नेहरु विदेश नीति के इस मोर्चे पर गलत आकलन को लेकर बहुत पछताए क्योंकि सुरक्षा परिषद् ने मुख्य मामले पर ध्यान देने की बजाय ब्रिटेन और अमेरिका के इशारे पर पाकिस्तान को शाह देना प्रारम्भ कर दिया.

भारत की शिकायत को दरकिनार कर “कश्मीर समस्या” को भारत और पाकिस्तान के बीच विवाद बनाकर उसे हवा दी गयी. अंततः 31 दिसंबर को दोनों पक्षों ने युद्ध विराम की घोषणा कर दी और उसके बाद यथास्थिति लागू होने से कश्मीर का एक बड़ा हिस्सा पाकिस्तान के कब्जे में रह गया.

नेहरु संयुक्त राष्ट्र की कश्मीर मुद्दे पर भूमिका से बहुत निराश हुए थे. न्याय मिलने की उम्मीद से टूटे नेहरु ने फ़रवरी 1948 को विजयलक्ष्मी पंडित को लिखे पत्र में अपनी निराशा जाहिर की:

“मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था कि सुरक्षा परिषद् इस तरह का घटिया व पक्षपातपूर्ण व्यवहार कर सकता है जैसा कि उसने किया है. इन लोगों से दुनिया को व्यवस्थित रखने की उम्मीद की जाती है. यह बिलकुल आश्चर्य की बात नहीं है कि दुनिया टुकड़े-टुकड़े होती जा रही है. संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और ब्रिटेन ने इसमें गन्दी भूमिका निभाई है और प्रायः ब्रिटेन परदे के पीछे का सबसे बड़ा खिलाड़ी था.”

1951 में संयुक्त राष्ट्र ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें पाक अधिकृत कश्मीर से पाकिस्तानी सेनाओं को हटाने के बाद संयुक्त राष्ट्र की देखरेख में जनमत संग्रह का प्रावधान किया गया. यह प्रस्ताव भी असफल ही सिद्ध हुआ क्योंकि पाकिस्तान ने आज तक पाक अधिकृत कश्मीर जिसे वो “आज़ाद कश्मीर” कहता हैं से अपनी सेना नहीं हटाई है.

दूसरी ओर भारतीय कश्मीर के बारे में पाकिस्तान का मत है कि वो भारत द्वारा जबरन गुलाम बनाया गया है. इस तर्क को पुष्ट करने के लिए ही वो अपने यहाँ न सिर्फ उग्रवादी संगठनों को अपने यहाँ पनपने का अवसर देता है बल्कि उन्हें संसाधन और प्रशिक्षण भी मुहैया करता रहा है. ताकि दुनिया को यह दिखाया जा सके कि कश्मीर की जनता भारत के खिलाफ स्वयं ही संघर्ष छेड़े हुए है.

ब्रिटेन और अमेरिका और अब चीन की शह पर पाकिस्तान ने इसे काफी हद तक एक अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व का मुद्दा बना दिया है. साथ ही कश्मीर पर नियंत्रण बनाये रखने के लिए भारत सरकार ने भी इसे दुनिया के कुछ सबसे घने सैन्यीकृत क्षेत्रों में तब्दील कर दिया है. दोनों ही पक्षों— आतंकवादियों और भारतीय अर्धसैनिक बलों और सैन्यबलों की ओर से मानवाधिकारों का खुलकर उल्लंघन किया जाता है.

इस तरह आज तक भारत और पाकिस्तान के आपसी संबंधों की धुरी कश्मीर ही बना हुआ है. इसकी केन्द्रीयता की वजह से दोनों मुल्कों के बीच दोस्ती और आपसी तनाव कम करने के कोई भी प्रयास लम्बे समय तक नहीं टिक पाते. दोनों ही देशों ने संभावित युद्ध और तनाव की दशा से निपटने के लिए अपने सैन्य बजट बहुत बढ़ाये हैं जिसका सीधा असर इन देशों की आम गरीब जनता को भुगतना पड़ता है.

भारत के लिए कश्मीर उसका अभिन्न अंग है क्योंकि विलय के समय कश्मीर की जनता शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में भारत के साथ थी. हालांकि बाद के दिनों में पाकिस्तान के उकसावे पर यह मुद्दा काफी जटिल होता चला गया जिस पर यहाँ चर्चा करना समीचीन नहीं है. पाकिस्तान के लिए यह एक मुस्लिम बहुल आबादी का सांप्रदायिकता के मूलभूत “द्विराष्ट्र सिद्धांत” के आधार पर बने पाकिस्तान के साथ स्वाभाविक विलय है. जबकि नेहरूजी ने एक बार कश्मीर समस्या के सम्बन्ध में कहा था कि भारत की धर्मनिरपेक्षता की असली परीक्षा कश्मीर में होगी.

2.6.4 हैदराबाद

हैदराबाद भौगोलिक आकार के हिसाब से भारत की सबसे बड़ी रियासत थी. निज़ाम हैदराबाद ने 15 अगस्त 1947 से पहले ही भारत में विलय की किसी भी संभावना से इनकार कर दिया था. पाकिस्तान के प्रोत्साहन पर निज़ाम ने न सिर्फ स्वतंत्र रियासत का दावा पेश किया बल्कि किसी भी परिस्थिति से निपटने के लिए अपनी सेना का विस्तार शुरू कर दिया. दूसरी तरफ सरदार पटेल ने इस मामले में जल्दबाजी न करने का फैसला किया. इसकी सबसे बड़ी वजह यह थी कि माउंटबेटन हैदराबाद के निज़ाम के साथ समझौते के लिए तत्पर था. निज़ाम हैदराबाद रियासत के पाकिस्तान में विलय के भी खिलाफ था इस लिहाज से उसने भारत में विलय के गुप्त संकेत दिए थे इसलिए बेसब्री की कोई खास वजह तब तक दिखाई न देती थी. निज़ाम की ब्रिटिश सरकार की ओर से उम्मीदें तब खत्म हो गयीं जब ब्रिटिश पक्ष ने हैदराबाद को अलग डोमिनियन का दर्जा देने की किसी भी संभावना से इनकार कर दिया.

सरदार पटेल ने महसूस किया कि यह समय भारत के पक्ष में है. उन्होंने अपनी मंशा यह कहते हुए स्पष्ट कर दी की किसी भी ऐसे क्षेत्र को छोड़ा नहीं जाएगा जिससे कि मेहनत से तैयार किया गया भारतीय संघ नष्ट हो जाए. नवम्बर 1947 में भारत सरकार ने निज़ाम के साथ यथास्थिति बनाये रखने सम्बन्धी संधि पर हस्ताक्षर करवाने में सफलता प्राप्त की. इसमें यह भावना अन्तर्निहित थी कि जब तक संधि वार्ता चलेगी, निज़ाम भारत सरकार के प्रतिनिधि के तौर पर काम करता रहेगा और एक बार विलय की शर्तें तैयार होते ही औपचारिक विलय का काम आसान हो जाएगा.

लेकिन इस बीच कश्मीर मामले में सरकार की व्यस्तता देखकर निज़ाम का मन बदलने लगा. वो इस प्रयास में लग गया कि संधि वार्ता लम्बी खींच सके ताकि इस बीच वो अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाकर भारत पर अपनी संप्रभुता का दबाव बना सके. इस बीच राज्य के भीतर भी बहुत कुछ ऐसा घट रहा था जो हैदराबाद का राजनीतिक भविष्य तय करने में मददगार होने वाला था.

पहला कारक राज्य में उग्र मुस्लिम संगठन इतिहाद-उल-मुसलमीन का तेजी से विकास था. इस संगठन को रियासत के अधिकारियों का समर्थन प्राप्त था जिसके बल पर इसने जनता को डराना-धमकाना शुरू कर दिया. दूसरा कारक था कि 7 अगस्त 1947 को हैदराबाद रियासत कांग्रेस ने निज़ाम के शासन के खिलाफ और हैदराबाद के जनवादीकरण की माँग को लेकर आन्दोलन छेड़ दिया जो धीरे-धीरे बहुत शक्तिशाली होता चला गया. इस आन्दोलन में तकरीबन 20,000 सत्याग्रही जेल में डाल दिए गए.

रजाकारों और निज़ाम प्रशासन के अत्याचार से पीड़ित जनता भारतीय इलाकों की ओर पलायन करने लगी जिनको ठहराने के लिए अस्थायी कैंप लगाने पड़े. आन्दोलन के बीच ही एक धड़े ने हिंसक रुख अख्तियार कर लिया और वो जमींदारों पर हमला कर उनकी जमीनों को किसानों के बीच वितरित करने लगे.

इन अंदरूनी घटनाओं के बीच निज़ाम संधि वार्ता को लंबा खींचता रहा और सरदार पटेल की अधीरता बढ़ने लगी. जिस तरह रजाकार राज्य के भीतर जनता पर जुल्म ढा रहे थे, वो उनकी चिंता की एक और बड़ी वजह थी. 1948 में उन्होने नेहरूजी को भेजे एक पत्र में लिखा:

“मैं बहुत दृढ़ता से यह महसूस कर रहा हूँ कि अब वह समय आ गया है कि हमें यह साफ़ कर देना चाहिए कि हमें बिना किसी शर्त के विलय की स्वीकृति और एक जिम्मेदार सरकार के गठन से कम कुछ भी मंजूर नहीं है।”

अभी तक निज़ाम व रजाकारों के उकसावे के बावजूद भारत सरकार ने कोई कदम नहीं उठाया था. वहीं दूसरी ओर निज़ाम भारी तादात में हथियारों के आयात में जुट गया. भारत सरकार निज़ाम के मंसूबों पर कड़ी नज़र रखे हुयी थी और रियासत की अंदरूनी परिस्थिति के मद्देनज़र अंततः सब्र का बंद टूट गया. 13 सितम्बर 1948 को भारतीय सेना हैदराबाद में प्रवेश कर गयी.

निज़ाम ने अपनी ताकत का गलत आकलन किया था और तीन दिनों के भीतर ही उसे भारत के सामने आत्मसमर्पण करने को मजबूर होना पड़ा. नवम्बर में हैदराबाद जैसी विशाल रियासत का औपचारिक रूप से भारतीय राज्य में विलय हो गया. भारत सरकार ने निज़ाम के प्रति किसी दुर्भावना का परिचय न देते हुए उसे भारतीय राज्य के अधीन हैदराबाद के राजप्रमुख के रूप में बहाल कर दिया.

इस प्रकार हैदराबाद के विलय के साथ ही भारतीय संघ में देशी रजवाड़ों के विलय का एक महत्वपूर्ण चरण पूरा हुआ. न केवल हैदराबाद बल्कि पूरे देश में बड़ी संख्या में मुसलामानों ने भारतीय सरकार की हैदराबाद का भारतीय संघ में विलय की कार्यवाही का समर्थन किया जिससे स्वयं निज़ाम और पाकिस्तान के नेता भी आश्चर्यचकित रह गए.

2.7 रियासतों के विलय का दूसरा चरण

लेकिन अभी बहुत सारी छोटी-छोटी रियासतों के विलय का काम शेष था. कई छोटी रियासतों को या तो भारतीय संघ के अंतर्गत बने राज्यों में मिला दिया गया या उन्हें आपस में मिलाकर केंद्र शासित प्रदेश का दर्जा दे दिया गया. मध्य भारत, राजस्थान, पटियाला, पूर्वी पंजाब राज्य (पेप्सू), सौराष्ट्र व त्रावणकोर-कोचीन— इन पांच नए समूहों में अनेक रियासतों को मिला दिया गया. मैसूर, हैदराबाद और कश्मीर अलग राज्य ही बने रहे.

सत्ता व शक्ति के समर्पण के बदले रियासतों को कर मुक्त प्रिवीपर्स अनंत काल के लिए दे दिए गए. 1949 के बाद संविधान द्वारा प्रिवीपर्स की कुल रकम 4.66 करोड़ की गारंटी प्रदान की गयी. इन रियासतों के विलय ने पाकिस्तान के निर्माण के फलस्वरूप हुए नुकसान को काफी हद तक पूरा कर दिया और बंटवारे के जख्मों को भी कुछ हद तक भरने में मदद की.

2.8 अंतिम चरण और गोवा का विलय

भारत के पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्रतटों पर पांडिचेरी व अन्य फ्रांसीसी आधिपत्य वाले क्षेत्रों को भारत को सौंप दिया गया. लेकिन पुर्तगाली अपने अधीन क्षेत्रों को किसी भी कीमत पर छोड़ने को तैयार नहीं थे. इसके पीछे अमेरिका और ब्रिटेन का सीधा हाथ था क्योंकि भारत की आज़ादी के बाद यह लोग भारतीय उपमहाद्वीप में अपने सामरिक अड्डों की तलाश में जुट गए थे.

भारतीय सरकार अपनी पुरानी नीति के तहत शांतिपूर्ण विलय के पक्ष में थी और इसलिए हैदराबाद और कश्मीर जैसी रियासतों में भी उसने वहाँ की जनता की पहल पर भरोसा करना उचित समझा. गोआ में भी पुर्तगाली शासन के रुख को देखकर वहाँ की जनता ने पुर्तगाली प्रभुत्व के खिलाफ़ आन्दोलन छेड़ दिया. जैसा कि लाज़मी था पुर्तगाली शासन ने इस आन्दोलन को बेरहमी के साथ कुचलना शुरू कर दिया. अंततः नेहरु ने 17 दिसंबर 1961 की

रात गोवा में भारतीय सेना के प्रवेश का आदेश जारी कर दिया. गोवा के पुर्तगाली राज की इतनी शक्ति नहीं थी कि वो भारतीय सेना के साथ युद्ध लड़ सके इसलिए वहां के गवर्नर जनरल ने बिना किसी युद्ध के आत्मसमर्पण कर दिया.

2.9 विलय की तीन नीतियाँ

रियासत विभाग के अध्यक्ष सरदार वल्लभ भाई पटेल ने विलय कार्य के व्यवहार में तीन नीतियाँ अपनाई थीं. इनमें पहला था—रियासतों को संलग्न प्रान्तों में विलय कर देना. दूसरा था— रियासतों को संयुक्त कर उनका संघ बनाना. और तीसरी नीति थी— रियासतों को मिलाकर उन पर केंद्र का शासन स्थापित कर केन्द्रीय क्षेत्र (सेंट्रल यूनिन टेरिटरी) बनाना. पहली नीति के अंतर्गत उड़ीसा की 39 रियासतें उड़ीसा राज्य में मिला दी गईं, छत्तीसगढ़ की छोटी-छोटी रियासतें मध्य राज्य में विलीन कर दी गईं, गुजरात की कुछ रियासत जो बम्बई के नजदीक थी, बंबई राज्य में मिला दी गईं. दूसरी नीति के अंतर्गत सभी रियासतों को मिलाकर उनके संघ बनाये गये थे. इस श्रेणी में थे- राजस्थान, कोचीन व ट्रावनकूर की संयुक्त रियासतों का संघ और मध्य भारत, विन्ध्य प्रदेश, मत्स्य प्रदेश और पूर्वी पंजाब की रियासतों और पटियाला का संघ पेप्सू. तीसरी नीति के अंतर्गत कई छोटी-छोटी रियासतों को मिलाकर केंद्र प्रशासित प्रदेश बनाया गया था. इस श्रेणी में 61 रियासतों को मिलाकर कई केंद्र प्रशासित प्रदेश बनाये गये थे. इस प्रकार विलय का कार्य पूरा हुआ था.

2.10 सारांश

इस तरह, भारतीय रियासतों के भारतीय संघ में विलय की प्रक्रिया कई चरणों में पूरी हुयी और इसमें तकरीबन 14 साल लगे. भारतीय संघ के लिए रियासतों के एकीकरण का काम इतना महत्वपूर्ण था कि इसके बगैर आज के भारत की कल्पना भी नहीं की जा सकती. सैकड़ों भारतीय रियासतें ब्रिटिश कब्जे से आजाद हुए भारत के लिए सैकड़ों छिट्रों की तरह होतीं जिनकी जनता लोकतांत्रिक अधिकारों से वंचित और राजतंत्रीय प्रणाली के भीतर जीने को अभिशप्त होनी थी. इसलिए सरदार पटेल और जवाहरलाल नेहरू ने आपसी समझदारी, धैर्य और साहस का परिचय देते हुए आजादी के बाद टूटे-बिखरे भारत को एक बनाने में अपनी ऐतिहासिक भूमिका अदा की.

2.11 सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

चन्द्र, बिपिन, आजादी के बाद का भारत
चन्द्र, बिपिन, आधुनिक भारत, एनसीईआरटी
गुहा, रामचंद्र, गाँधी के बाद का भारत

2.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. देशी रियासतों के विलय पर एक निबंध लिखिये।

स्वतंत्र भारत: पड़ोसी देशों से सम्बन्ध (पाकिस्तान, चीन, नेपाल, म्यांमार एवं श्रीलंका)

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 भारत की विदेश नीति: वैश्विक सन्दर्भ
- 3.4 भारत की विदेश नीति: दक्षिण एशियाई सन्दर्भ
- 3.5 पाकिस्तान
 - 3.5.1 भूमिका
 - 3.5.2 कश्मीर को लेकर पाकिस्तान का विवाद
 - 3.5.3 शिमला समझौता और उसके बाद
- 3.6 चीन
 - 3.6.1 भूमिका
 - 3.6.2 विवादों की शुरुआत
 - 3.6.3 1962 के बाद भारत-चीन सम्बन्ध
 - 3.6.4 वर्तमान सम्बन्ध
- 3.7 नेपाल
 - 3.7.1 भूमिका
 - 3.7.2 स्वतंत्र भारत में नेपाल की स्थिति
 - 3.7.3 नेपाल में हालिया घटनाक्रम
 - 3.7.4 भारत और नेपाल: विवाद के बिंदु
- 3.8 भारत-श्रीलंका सम्बन्ध
 - 3.8.1 भूमिका
 - 3.8.2 भारत और श्रीलंका संबंधों का अतीत
 - 3.8.3 सिंहली-तमिल संघर्ष की पृष्ठभूमि में भारत-श्रीलंका सम्बन्ध
 - 3.8.4 कच्छद्वीप टापू विवाद
- 3.9 म्यांमार
- 3.10 सारांश
- 3.11. सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची
- 3.12 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

एक स्वतंत्र और संप्रभु राष्ट्र होने के नाते प्रत्येक राष्ट्र को अपने पड़ोसी राष्ट्रों के साथ संबंधों की एक नीति बनानी पड़ती है। हमारे स्वाधीनता संघर्ष के समय से ही स्वतंत्र भारत के अन्य देशों के साथ संबंधों पर गहन विचार-विमर्श शुरू हो गया था। आजादी के बाद इसी अनुभव के साथ बहुत सावधानीपूर्वक विदेश नीति का निर्धारण किया गया जिसमें भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू की दूरदृष्टि का बहुत योगदान रहा।

नेहरू की समझ थी कि तीसरी दुनिया के देशों को दो विश्वयुद्धों और अमेरिका और सोवियत संघ के बीच शीतयुद्ध के संकट के बीच तटस्थता की नीति अपनानी चाहिए। उनका मानना था कि तीसरी दुनिया के देश अगर इन तनावों के बीच पड़कर हथियारों की खरीद-फ़रोख़्त और भारी-भरकम सेनाओं के रखरखाव में फंस गए तो उनकी गरीबी और बदहाली को ख़त्म नहीं किया जा सकेगा। इसीलिए विदेश नीति के नियंताओं ने हमेशा से अपने पड़ोसी दक्षिण एशियाई देशों के अतिरिक्त सुदूर अफ्रीका तक के देशों से होते हुए विश्व महाशक्तियों तक टकराव को टालने और शांतिपूर्ण सहस्तित्व की धारणा को बल देने वाली नीति पर बल दिया। आज भी भारत अपने पड़ोसी देशों के साथ प्रथम आक्रमण की नीति का पालन करता है भले ही उसे पिछले सत्तर सालों में पाकिस्तान और चीन के साथ बार-बार युद्धों और झड़पों में उलझना पड़ा है।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको स्वातंत्र्योत्तर भारत की अपने पड़ोसी देशों के साथ नीति और सम्बन्धों से अवगत कराना है। कभी सहयोगपूर्ण और सौहार्दमय तो कभी तनावपूर्ण और मतभेदों से भरे हुए इन संबंधों के इतिहास, उनकी प्रकृति और विवेचना से आप भारत की विदेश नीति के कुछ महत्वपूर्ण आयामों से परिचित होंगे। भारत की वृहत्तर विश्व के साथ नीति के सन्दर्भ में हम फ़िलहाल इस इकाई अपने पड़ोसी देशों—पाकिस्तान, चीन, नेपाल, बर्मा और श्रीलंका—के साथ भारत के उतार-चढ़ाव भरे संबंधों के बारे में विस्तार से अध्ययन करेंगे।

3.3 भारत की विदेश नीति: वैश्विक सन्दर्भ

तकरीबन दो सौ साल की औपनिवेशिक गुलामी के दौर में भारत की विदेश नीति का निर्धारण ब्रिटेन के व्यापक औपनिवेशिक हितों को साधने के लिए किया जाता था। ब्रिटेन अपनी अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा और ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के साथ-साथ संसाधनों पर कब्जे के उद्देश्य से इन नीतियों का निर्धारण करता था। आजादी के बाद विश्व नीति के निर्धारण के सामने दो बड़ी गंभीर चुनौतियाँ थीं। पहली चुनौती एक के बाद एक दो विश्व युद्धों का होना था जिसकी वजह से पूरी दुनिया को बहुत विनाश का सामना करना पड़ा था।

द्वितीय विश्वयुद्ध तो ख़ास तौर पर बहुत ही ज्यादा विध्वंशक सिद्ध हुआ था क्योंकि उस समय तक सैन्य तकनीक और हथियारों की मारक क्षमता में भारी इजाफ़ा हो गया था। हमें पता है कि किस प्रकार विश्वयुद्ध के अंत में अमेरिका ने जापान के दो शहरों—हिरोशिमा और नागासाकी—पर परमाणु बम गिरा दिए थे जिसमें अपार क्षति हुयी थी। इस घटना के बाद दुनिया पर न सिर्फ़ तीसरे विश्वयुद्ध बल्कि महाविनाशकारी परमाणुयुद्ध का ख़तरा भी मँडराने लगा था।

दूसरी चुनौती थी विश्वयुद्ध के बाद की दुनिया में आर्थिक साम्राज्यवाद के बदले स्वरूप में संसाधनों और बाज़ार पर नियंत्रण की अमेरिकी चुनौती। यह संघर्ष 1917 की रूसी क्रान्ति के बाद दो समानान्तर विश्व व्यवस्थाओं के बीच का भी संघर्ष बना गया था जो कि पूँजीवाद और समाजवाद के दो ध्रुवों का निर्माण करता था। पूँजीवाद का

पैरोकार बनकर उभरा अमेरिका पूरी दुनिया पर अपने वर्चस्व को और अधिक मजबूत बनाना चाहता था. दूसरी ओर समाजवादी क्रान्ति को वैश्विक मॉडल बनाने की होड़ में सोवियत संघ दूसरे ध्रुव का निर्माण करना चाहता था.

इन दो ध्रुवों का दुनिया के अन्य देशों के ऊपर इतना दबाव था कि उनको मजबूरन इस या उस ध्रुव का हिस्सा बनना ही पड़ता था. नाटो और वारसा जैसी सैन्य संधियों की वजह से अमेरिका और रूस दुनिया भर की सेनाओं को एक सामरिक समझदारी में लाना चाहते थे. जिसकी वजह से गरीब और पिछड़े देशों को भी अपने सैन्य खर्चों में बढ़ोत्तरी करना स्वाभाविक था. इसके अतिरिक्त एक-दूसरे को घेरने की रणनीति में दोनों देशों को पूरी दुनिया में सैन्य अड्डे बनाने थे इसलिए भी तमाम देश अपनी भौगोलिक स्थिति की वजह से इन दो-ध्रुवीय व्यवस्था में आने को मजबूर थे.

भारत के विदेश नीति निर्धारण में पाकिस्तान हमेशा एक चुनौती की तरह खड़ा रहा क्योंकि वो भारत से अलग होकर एक राष्ट्र बना था और इस बँटवारे को लेकर उसके भीतर तमाम कुंठाएं दबी थीं. जैसे कश्मीर को लेकर पाकिस्तान ने आज़ाद होते ही एक छद्म युद्ध का नेतृत्व किया जिसके बाद कश्मीर के राजा हरी सिंह ने कश्मीर का भारत में औपचारिक विलय कर दिया. इसके बाद भी पाकिस्तान ने भारत के खिलाफ़ दो बड़े युद्ध 1965 और 1971 में लड़े और 1999 में कारगिल युद्ध लड़ा है.

पाकिस्तान भारत के खिलाफ़ इस युद्ध में अंतर्राष्ट्रीय शक्तियों का सहयोग चाहता था इसलिए वो शुरुआत से ही अमेरिकी ध्रुव के करीब जा बैठा. अमेरिका 1950 के दशक से ही दक्षिण एशिया और दक्षिण-पूर्व एशिया में सोवियत संघ को घेरने के लिए साउथ ईस्ट एशिया ट्रीटी आर्गनाइजेशन (सीटो) और सेंट्रल ट्रीटी आर्गनाइजेशन (सेंटो) के माध्यम से अपने सैन्य सहयोगी तलाश रहा था. पाकिस्तान इसमें सहयोगी बन बैठा और इस तरह शीतयुद्ध की आँच सीधे भारत के दरवाजे तक आ पहुँची.

इस बीच भारतीय नेतृत्व एक बात पर सहमत था कि नवस्वतंत्र देशों को दोनों ध्रुवों से सामान दूरी बनाते हुए अपने आंतरिक विकास पर ध्यान देना चाहिए. नेहरू इस नीति के सबसे बड़े पैरोकार थे और इसीलिए अपनी अंतरिम सरकार के दौरान ही उन्होंने विदेश नीति के कुछ मूलभूत आधार नीतिबद्ध कर दिए थे. इन आधारों में शामिल थे— साम्राज्यवाद और नस्लवाद का अंत, दोनों ध्रुवों से अलग रहने की नीति और चीन आदि पड़ोसी और अन्य एशियाई और अफ्रीकी देशों के साथ गहरे दोस्ताना सम्बन्ध. नेहरू चाहते थे कि भारत जब विश्व मंच पर खड़ा हो तो किसी ध्रुव के पराश्रित होकर नहीं बल्कि एक संप्रभु और स्वतंत्र देश के रूप में अपनी बात रखने का साहस जुटा सके.

नेहरू की सोवियत संघ और समाजवादी विश्व व्यवस्था के साथ वैचारिक सहमतियाँ थीं लेकिन वो सोवियत संघ की आक्रामक नीति से खुद को सफलतापूर्वक अलग रख सके. उनकी यह भी सफलता थी कि न सिर्फ़ वो दोनों ध्रुवों से दूर रहे बल्कि स्वतंत्र भारत की आवश्यकता के अनुसार उन्होंने समय-समय पर दोनों महाशक्तियों को एक-दूसरे से संतुलित भी किया जैसे कश्मीर मुद्दे पर सोवियत संघ ने भारत का साथ देकर अमेरिकी महत्वाकांक्षाओं पर विराम लगाया.

चीन के प्रति नेहरू सहानुभूतिपूर्ण रुख रखते थे और चाहते थे कि भारत और चीन जैसे दो नवस्वतंत्र देश आपसी सीमा विवादों में न उलझकर पूरी दुनिया के सामने शांतिपूर्ण सहस्तित्व का मॉडल पेश करें. नेहरू की यह सदेच्छा उनकी गुटनिरपेक्षता की नीति से सामने आती है जिसका उद्देश्य दो ध्रुवों के बरक्स तीसरी दुनिया के एशियाई, अफ्रीकी, दक्षिण अमेरिकी और युगोस्लाविया जैसे यूरोपीय देशों के गुटनिरपेक्ष महासंघ का निर्माण था. हालांकि नेहरू को चीन के प्रति अपनी इस नीति को लेकर 1962 में तब गंभीर आघात लगा जब कुछ वर्षों तक सीमाई झड़पों के बाद चीन ने नेफा की ओर से भारत पर हमला कर दिया.

गुटनिरपेक्षता का अर्थ किसी भी तरह निरपेक्षता नहीं थी बल्कि पाँच मूल तत्वों के आधार पर दुनिया के सामने विदेश नीति की एक नयी दृष्टि पैदा करना था. यह पाँच आधार जिनको 1955 की बांडुंग कांफ्रेंस में व्याख्यायित किया गया था, थे— (1) एक-दूसरे की सीमाओं और संप्रभुता को लेकर परस्पर सम्मान; (2) परस्पर अनाक्रमकता की नीति; (3) एक-दूसरे के घरेलू मामलों में दखलंदाजी न करना; (4) समानता और परस्पर लाभ; (5) शांतिपूर्ण सहस्तित्व. भारत की विदेश नीति के यह मूल आधार आज सत्तर साल बाद भी थोड़े-बहुत बदलावों के साथ कायम हैं और आज भी भारत सैद्धांतिक रूप से इन नीतियों से अपने आपको अलग नहीं करता है.

3.4 भारत की विदेश नीति: दक्षिण एशियाई सन्दर्भ

अफ़गानिस्तान से नीचे और म्यांमार से पहले तक का समूचा भूभाग जिसमें भारत, पाकिस्तान, नेपाल, भूटान, श्रीलंका, बांग्लादेश और मालदीव आते हैं, दक्षिण एशिया कहलाता है. सामान्य तौर पर इसके एक बड़े हिस्से को भारतीय उपमहाद्वीप भी कहा जाता था जो 1947 के विभाजन से पहले तक भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश के रूप में एक समेकित राष्ट्र का हिस्सा था.

इस भूराजनीतिक हिस्से के साझा राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हित हैं और इसीलिए 1985 में इन सभी देशों ने एक बेहतर साझा भविष्य के निर्माण के लिए साउथ एशियन एसोसिएशन फॉर रीजनल कोऑपेरेशन (SAARC) की स्थापना की थी. इस समूचे भूभाग में हिन्द महासागर और हिमालय पर्वत श्रृंखला इसे एक अलग भौगोलिक इकाई के रूप में स्थापित करता है. इसीलिए यह पूरा क्षेत्र सांस्कृतिक, भाषाई, नृजातीय, सामाजिक और ऐतिहासिक समानताओं से बंधा हुआ है.

इस भूभाग की यह भी खासियत है कि लम्बे समय तक इस इलाके को औपनिवेशिक शोषण और दमन का सामना करना पड़ा है इसलिए यह एकसमान रूप से उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के दुष्प्रभावों से ग्रसित है. यहाँ तक कि विभाजन की वजह से भारत का अज तीन देशों में बँटवारा भी इस इलाके के भीतर तमाम समस्याओं की जड़ बना हुआ है. यह सर्वविदित है कि 1947 में भारत से टूटकर पाकिस्तान और फिर 1971 में पाकिस्तान से टूटकर बांग्लादेश बना है. यह विभाजन आपसी बँटवारे और तनाव की वो ऐतिहासिक जड़ें हैं जिनकी वजह से एकजुट और सर्वसम्मत प्रयासों को हमेशा गहरी चुनौती बर्दाश्त करनी पड़ी है.

इस विभाजन के बावजूद भारत इस इलाके का सबसे ताकतवर आर्थिक और सामरिक देश है जिसके पास एक मजबूत अर्थव्यवस्था होने के साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीय साख भी है. इस नाते उसकी हमेशा इस इलाके का नेतृत्व करने की आकांक्षा रहती है. तकरीबन सवा अरब की विशाल जनसंख्या, समृद्ध मध्यवर्ग से युक्त बाज़ार, बेहतर आर्थिक ढाँचा और दुनिया की महत्वपूर्ण सैन्य शक्ति होने के नाते भारत यहाँ का सबसे प्रभावी राष्ट्र है. पिछले कुछ दशकों से भारत की इस सर्वोच्चता को सीधे तौर पर चीन से चुनौती बनी है जो एक साथ भारत और अमेरिका दोनों को सामरिक दृष्टि से हिन्द महासागर क्षेत्र में घेरना चाहता है.

भारत के ठीक ऊपर स्थित चीन एक विशाल देश है जिसका सीधा प्रभाव इस इलाके पर पड़ता है. चीन की वृहत्तर योजना इस इलाके पर भारत के प्रभाव को कम करना और अपनी अंतर्राष्ट्रीय सामरिक व् आर्थिक स्थिति को मजबूत बनाना है. भारत के साथ इसके तनावपूर्ण सीमाई सम्बन्ध और 1962 का युद्ध दोनों देशों के साथ-साथ अन्य देशों के साथ संबंधों को भी संवेदनशील और जटिल बनाते हैं. इस इलाके में अमेरिका के व्यापक आर्थिक और सामरिक हित छुपे हुए हैं जिसकी वजह से यह सारे देश एक दूसरे के प्रति संदेह और असुरक्षा के भाव से भरे रहते हैं. सोवियत संघ के विघटन के पहले वह भी इस इलाके में अपनी प्रभावी दखलंदाजी के लिए व्यग्र रहता था.

एक तीसरा पक्ष पाकिस्तान है जो प्रत्यक्ष अमेरिकी शह पर हमेशा दक्षिण एशिया में भारतीय प्रभुत्व को चुनौती देता रहा है. हाल के दशकों में उसने भारत के सामान्य प्रतिस्पर्धी चीन के साथ मिलकर भारत को हर तरफ से घेरने की नीति अपनाई है. इस तरह यह इलाका अपने आप में दुनिया के कुछ सबसे संवेदनशील इलाकों में शुमार किया जाता है. क्योंकि तीन बड़ी सैन्य शक्तियाँ इस इलाके में अपने आर्थिक और राजनीतिक हितों को साधने के लिए निरंतर सीमाओं पर उलझती रहती हैं.

3.5 पाकिस्तान

3.5.1 भूमिका

विभाजन की पृष्ठभूमि में भारत तथा पाकिस्तान के सम्बन्ध शुरुआत से ही खराब रहे हैं. अब तक इन दोनों देशों के बीच 1947, 1965, 1971 में बड़े युद्ध तथा 1999 में कारगिल का युद्ध हो चुका है. इस तनावपूर्ण स्थिति के बीच दोनों देशों के बीच सम्बन्धों को सामान्य बनाने के लगातार प्रयास हुए, लेकिन दीर्घकालीन सफलता नहीं मिली. परमाणु हथियारों के युग में अब दोनों ही देश परमाणु युद्ध में समर्थ हैं और इसलिए भारत-पाकिस्तान सम्बन्ध न सिर्फ इन दोनों देशों के बीच बल्कि पूरे विश्व के लिए एक संकट की तरह देखे जाते हैं.

भारत की आजादी मिलने के पहले से ही 1940 से मुस्लिम लीग के नेतृत्व में पाकिस्तान नामक एक अलग राष्ट्र बनाने की मांग उठ चुकी थी. भारत का बँटवारा करके भारत और पाकिस्तान दो अलग राष्ट्र अस्तित्व में आये थे. जाहिर सी बात है इन दो देशों के बीच दो भिन्न तरह के राष्ट्रवाद का अंतर था. भारत जहाँ एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र बना रहा वहीं पाकिस्तान एक इस्लामिक राष्ट्र बन गया. इसके अलावा दूसरा मतभेद अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के आकलन का था.

भारतीय नेतृत्व कहीं ज्यादा परिपक्वता के साथ तीसरी दुनिया के देशों के बुनियादी मुद्दों पर ध्यान देने के लिए गुटनिरपेक्षता और क्षेत्रीय सहमति पर आधारित विदेश नीति बनाने के पक्षधर थे, वहीं पाकिस्तान जैसे भारत का प्रतिराष्ट्र बनने पर तुला हुआ था. कश्मीर को लेकर उसने जो विवाद 1947 के अंत से शुरू किया वो आज तक दोनों देशों के बीच तनाव की मूल जड़ है.

इसी प्रतिक्रिया की वजह से पाकिस्तान नाटो और अमेरिकी शक्तियों का सहयोगी बन बैठा और वहाँ लोकतंत्र अपनी जड़ें नहीं जमा पाया. जिसकी वजह से पाकिस्तानी राष्ट्रवाद आज भी सैन्य राष्ट्रवाद है जहाँ सेना का दखल नीति निर्धारण में बहुत महत्वपूर्ण होता है. इसलिए यह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि दोनों देशों के आपसी संबंधों के बीच हमेशा एक खाई की तरह बनी रही. इन दोनों देशों के बीच सीमा का निर्धारण 'रेडक्लिफ़ आयोग' द्वारा बहुत ही असावधानीपूर्वक और जल्दबाजी में किया गया था. इसलिए दोनों देशों के बीच की सीमारेखा जिसे रेडक्लिफ़ लाइन कहा जाता है, अपने आप में विवाद का विषय बनी रही.

उस पर से पाकिस्तान की नज़र हमेशा से कश्मीर पर इसलिए बनी रही क्योंकि मुस्लिम बहुत प्रांत होने के नाते पाकिस्तान उसका स्वाभाविक विलय चाहता था. जबकि कश्मीर की जनता ने शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में पाकिस्तान के साथ जाने या स्वतंत्र बने रहने के विकल्पों को ठुकराकर भारत के साथ जाने का निश्चय किया था. पाकिस्तान इस यथार्थ को कभी स्वीकार न कर पाया और अपनी सामर्थ्य और संसाधन भारत के खिलाफ संघर्ष में नष्ट करता रहा है.

3.5.2 कश्मीर को लेकर पाकिस्तान का विवाद

ब्रिटिश शासन की फूट डालो एवं शासन करो की नीति का परिणाम तथा जिन्ना के द्विराष्ट्र सिद्धांत के कारण ही पाकिस्तान एक अलग देश बना था. विभाजन के तुरंत बाद ही दोनों देशों के बीच कश्मीर के विलय को लेकर

विवाद का आरम्भ हो गया था. तबसे लेकर आज तक पाकिस्तान कश्मीर की इस समस्या के समाधान को ही भारत के साथ सम्बन्धों में सुधार की पूर्वशर्त मानता है. जबकि दूसरी ओर भारत का मत है कि कश्मीर भारत का अंदरूनी मसला है और अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर इसकी चर्चा करना भारत की संप्रभुता के खिलाफ़ है.

ब्रिटिश शासन के समय जम्मू और कश्मीर एक देशी रियासत थी. भारत के बँटवारे के समय सभी रियासतों को यह स्वंत्रता दी गई कि वह यह चयन कर सकता है कि वो भारत या पाकिस्तान किसके साथ रहेगा या स्वतंत्र रहना चाहेगा. जम्मू कश्मीर के तत्कालीन शासक हरी सिंह ने भारत व पाकिस्तान किसी के साथ भी इस रियासत का विलय नहीं किया क्योंकि वे एक स्वतंत्र कश्मीर का स्वप्न देख रहे थे. कश्मीर के साथ एक खास बात यह थी कि इस बहुसंख्यक मुस्लिम रियासत के शासक हिन्दू थे. एक ओर जहाँ हिन्दू राजा भारत में विलय के लिए तैयार नहीं था तो दूसरी ओर शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में कश्मीरी जनता भारत के विलय को लेकर जबरदस्त दबाव बनाये हुयी थी.

लेकिन ऊहापोह की स्थिति का फायदा उठाकर पाकिस्तान ने छद्म रूप से सैनिक पहल करके इस रियासत को अपने क्षेत्र में मिलाने का प्रयास किया. इसी के तहत अक्टूबर 1947 में पाकिस्तानी सेना द्वारा समर्थित कबाइलियों ने जम्मू कश्मीर पर सशस्त्र आक्रमण कर दिया. तब राजा हरी सिंह घबरा गये और उन्होंने भारत सरकार से कश्मीर की रक्षा का अनुरोध किया. भारत ने कहा कि बिना विलय के भारत कश्मीर की मदद सैद्धांतिक तौर पर नहीं कर सकता इसलिए जम्मू कश्मीर के भारत में विधिवत विलय के उपरांत भारत ने पाकिस्तान आक्रमणकारियों को हटाने के लिए अपनी सेना भेजी.

भारत-पाकिस्तान के बीच अक्टूबर 1947 से दिसम्बर 1948 तक संघर्ष चला और संयुक्त राष्ट्र की मध्यस्थता से 1 जनवरी 1949 को दोनों देशों के बीच युद्ध का औपचारिक विराम हुआ. यह तय किया गया कि स्थितियाँ सामान्य होते ही एक जनमत संग्रह के माध्यम से कश्मीर की जनता की राय के आधार पर ही कश्मीर का भविष्य तय होगा. लेकिन इसकी दो पूर्वशर्तें हैं कि पाकिस्तान अपनी सेनाओं को वापस बुलाएगा और कश्मीर में 1947 के पूर्व की स्थिति बहाल कर दी जायेगी.

युद्ध विराम के समय जम्मू कश्मीर के एक हिस्से पर पाकिस्तानी सेनाओं का कब्जा बना रहा, जिसे आज पाक अधिकृत कश्मीर (POK) के नाम से जाना जाता है और जो आज भी पाकिस्तान के नियंत्रण में है. 1954 से जम्मू कश्मीर की जनता भारत की संसद में निरंतर अपनी प्रतिनिधि निर्वाचित करती रही है. भारत का तर्क है कि चुनाव के माध्यम से यह स्पष्ट है कि कश्मीर की जनता भारत का एक अंग बना रहना चाहती है इसलिए जनमत संग्रह की अब कोई आवश्यकता नहीं है. यह मामला संयुक्त राष्ट्र संघ में लम्बित है तथा पाकिस्तान अब भी जनमत संग्रह का मांग करता है.

दूसरी तरफ़ पाकिस्तान दो दशकों से आतंकवाद को बढ़ावा देकर कश्मीरी जनता में भारत के विरुद्ध आक्रोश उत्पन्न करता रहा है. आतंकवादियों के वैचारिक प्रशिक्षण देना, उनको हथियार चलाने की ट्रेनिंग देना और हथियार-गोला-बारूद मुहैया कराने से लेकर भारतीय सीमा में घुसपैठ में मदद करना तक पाकिस्तान की शाह पर हो रहा है. इसलिए कश्मीर की समस्या दिनों-दिन जटिल होती जा रही है क्योंकि एक तरफ़ पाकिस्तान समर्थित आतंकवादी आन्दोलन और दूसरी तरफ़ सेना और पुलिस द्वारा इसके दमन के बीच कश्मीर में लोकतंत्र को बुरी क्षति हुयी है और लोग इस समस्या से ऊब कर किसी समाधान की तलाश में फ़ौरी समाधानों की ओर झुक रहे हैं.

3.5.3 शिमला समझौता और उसके बाद

1965 और 1971 की लड़ाई में पाकिस्तान की बुरी पराजय और दूसरे युद्ध के बाद पाकिस्तान से टूटकर बांग्लादेश के निर्माण के बाद भारत और पाकिस्तान के बीच 1972 में ऐतिहासिक शिमला समझौता हुआ. यह समझौता ऐसे माहौल में हुआ था जिसमें पाकिस्तान के पास कोई अन्य विकल्प नहीं बचे थे और भारत की ओर से स्थितियों को सामान्य बनाने के प्रयास किये गए. लेकिन चूंकि पाकिस्तान को भी अब भारत द्वारा बांग्लादेश मुक्ति संग्राम में मदद करने की टीस उठ रही थी, यह समझौता भी बड़ी हद तक कागजी साबित हुआ.

इस समझौते ने हमेशा के लिए कश्मीर मुद्दे को खत्म करने की पहल करते हुए वास्तविक नियन्त्रण रेखा को ही दोनों देशों की सीमा मानने का प्रस्ताव किया. तब तक शेख अब्दुल्ला वापस भारत आ चुके थे और कश्मीर में नेशनल काँग्रेस की सरकार बन चुकी थी, भारत कश्मीर को लेकर अपने दावे पर और मजबूती के साथ खड़ा हो गया था. लेकिन भारत सरकार पाकिस्तान के साथ सीमा विवाद को खत्म करने के लिए वास्तविक नियन्त्रण रेखा को ही सीमा मानने के लिए तैयार हो गयी, यह बड़ी बात थी.

पाकिस्तान की ओर से शिमला समझौते का कोई सम्मान नहीं किया गया. उसके बाद से वैश्विक परिस्थितियों में एक तेज बदलाव देखने में आया. मध्य एशिया और पश्चिम एशिया में सोवियत संघ के प्रभाव को रोकने के लिए अमेरिका ने इस्लामिक कट्टरपंथ को बढ़ावा देने की नीति अपनाई. उसके इस काम में सबसे स्वाभाविक सहयोगी पाकिस्तान बना और उसके मार्फत अफगानिस्तान में तालिबान के मुजाहिदीन को बढ़ावा देने, उन्हें प्रशिक्षित करने में पाकिस्तान की भूमिका निर्णायक रही. पाकिस्तान और इस्लामिक कट्टरपंथ की नजदीकियों ने उसे कश्मीर को भी इस्लामिक आतंकवाद का हिस्सा बनाने को प्रेरित किया.

इसी बीच कश्मीर में पाकिस्तानी मदद से स्थानीय लोगों को संसाधन मुहैया कराये गए और जम्मू कश्मीर लिबरेशन फ्रंट की स्थापना हुयी. इसके माध्यम से पाकिस्तान दुनिया को यह यकीन दिलाना चाहता था कि भारत कश्मीर के लोगों की इच्छा का दमन कर रहा है क्योंकि यहां के स्थानीय लोग ही भारत से अलग होना चाहते हैं. इसके बाद कई आतंकवादी संगठन उपजे जिनके प्रशिक्षण शिविर पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर में खुलेआम चलाये जाते हैं. इन आतंकी संगठनों के अंतर्राष्ट्रीय आतंकी संगठनों जैसे अल कायदा और अब इस्लामिक स्टेट के साथ संबंधों के सूत्र बार-बार उजागर किये जाते हैं.

इस तरह पाकिस्तान ने हमेशा ही भारत के साथ अपने संबंधों में न सिर्फ कश्मीर को केंद्र में रखा बल्कि उसने कश्मीर के मुद्दे को और भी ज्यादा उलझाने का प्रयास किया है. 1999 में कारगिल युद्ध के समय भी कश्मीर में घुसपैठ की कोशिशों ने भारत को मुश्किलों में डाल दिया था. लेकिन एक बार फिर पाकिस्तान को इस युद्ध में पराजय का सामना करना पड़ा. उसके बाद आजाद भारत की संप्रभुता पर सबसे बड़े हमले के रूप में भारतीय संसद पर आतंकी हमले के बाद भारत पाकिस्तान दोनों की सेनाएं आमने-सामने आ गयीं.

बावजूद इसके 2004 में एक बार फिर भारत की पहल पर एक समग्र वार्ता हुयी जिसके आठ महत्वपूर्ण बिंदु थे—

- अ). गुजरात में सर क्रीक क्षेत्र पर सम्प्रभुता का विवाद
- ब). तुलबुल नैविशन परियोजना पर पाकिस्तान की आपत्तियों के समाधान
- स). सियाचिन क्षेत्र में सीमांकन सम्बन्धी विवाद
- क). आतंकवाद तथा नशीली दवाओं के अवेध व्यापार पर नियन्त्रण
- द). मैत्रीपूर्ण आदान-प्रदान को प्रोत्साहन
- त). आर्थिक तथा व्यापारिक सहयोग को बढ़ावा

- प). विश्वास उत्पन्न करने वाले उपायों सहित शांति एवं सुरक्षा की समस्याओं पर विचार
म). कश्मीर समस्या के समाधान के उपाय

लेकिन यह वार्ताएँ भी सिर्फ एक दिखावा ही बनकर रह गयीं क्योंकि यह वो दौर था जब पाकिस्तान प्रशिक्षित आतंकियों ने मुंबई में 2006 में सात ट्रेनों के भीतर बम विस्फोट किये और फिर 2008 में मुंबई में कई जगहों पर ताबड़तोड़ फायरिंग ने पूरे देश को हिलाकर रख दिया.

इस तरह पाकिस्तान हमेशा से ही आतंकवाद का सहारा लेकर भारतीय राष्ट्र को क्षति पहुँचाने का काम करता है. इसके लिए पाकिस्तान की राजनीतिक स्थिति भी बहुत हद तक जिम्मेदार है. पाकिस्तान में लोकतंत्र की स्थिति कभी भी मजबूत नहीं हो सकी है. पाकिस्तानी सैन्य अपनी राजनीतिक प्रभुत्व को बनाये रखने के लिए समय समय पर भारत के साथ तनाव को बढ़ाने के प्रयास करती है. लोकतंत्र के अभाव के कारण साम्प्रदायिक एवं प्रतिक्रियावादी तत्वों का ज़बरदस्त उभार हो चुका है और इसने पाकिस्तानी जनता के प्रगतिशील और शांतिप्रिय तबकों को नीति-निर्धारण में हाशिये पर धकेल दिया है. इन्हीं कट्टरवादी तत्वों के कारण पाकिस्तान में तालिबान सहित अन्य उग्रवादी एवं आतंकवादी समूहों का फलने-फूलने का अवसर प्राप्त होता है। इन्हीं सब कारणों से भारत एवं पाकिस्तान के बीच निरंतर तनाव बना हुआ है तथा शांति बहाली के प्रक्रिया में बाधा आती रहती है.

3.6 चीन

3.6.1 भूमिका

भारत और चीन दुनिया की सबसे पुरानी और निरंतर चलने वाली सभ्यताएं और दोनों के बीच सांस्कृतिक और धार्मिक संबंधों की परंपरा भी ऐतिहासिक रूप से हजारों साल पुरानी है. एक दूसरे को जानने-समझने की इस परम्परा का पता हमें उन यात्रियों के वृत्तांतों से चलता है जो समय-समय पर भारत या चीन गए. चीन की ओर से द्वेन्सांग, फाहियान, सुंग यून और इत्सिंग जैसे यात्रियों ने भारत के बारे में विस्तार से लिखा है तो भारत से चीन गए यात्रियों की फेहरिस्त में कुमारविजय, जिनगुप्त, जिनभद्र और बोधिधर्मा के नाम प्रमुख हैं.

भारत और चीन हजारों सालों तक दुनिया की दो सबसे बड़ी अर्थव्यवस्थाएं भी रही हैं जिनके पूरी दुनिया के साथ प्रगाढ़ आर्थिक सम्बन्ध थे. इस नाते भी भारत और चीन के बीच संपर्क के सेतु बने रहे. यह परस्पर सम्बन्ध धर्म और आध्यात्म के क्षेत्र में भी इतने प्रगाढ़ थे कि चीन में बौद्ध धर्म का जितना स्वागत हुआ उतना दुनिया के किसी अन्य हिस्से में नहीं हुआ.

आधुनिक काल में भारत और चीन दोनों ही साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी शक्तियों के चंगुल में फंसे रहे इसलिए उनके बीच के संबंध कड़वाहट से भर गए. हालाँकि लगभग एक ही समय दोनों देशों ने अपने कंधों से साम्राज्यवाद का जुआ उतार फेंका और जहाँ भारत 1947 में ब्रिटिश राज से आज़ाद हुआ, चीन में 1949 की कम्युनिस्ट क्रांति एक नए युग का आगाज़ बनी.

भारत ने चीन के साथ अपने रिश्तों की शुरुआत बड़े दोस्ताना ढंग से की. चीनी क्रांति जो 1949 में हुई थी इसके बाद चीन की कम्युनिस्ट सरकार की मान्यता देने वाला पहला गैर-कम्युनिस्ट देश भारत ही था. नेहरू ने न सिर्फ दुनिया में चीन को मान्यता दिलाने के लिए अपने प्रभाव का इस्तेमाल किया बल्कि संयुक्त राष्ट्र संघ में भी उसके प्रवेश को लेकर गंभीर प्रयास किये.

नेहरू एक ओर जहाँ गुटनिरपेक्षता की नीति को आदर्श मानते थे, चीन ने स्वाभाविक रूप से सोवियत संघ के ध्रुव के करीब रहने में ही भलाई समझी. 1954 में दोनों देशों के बीच शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के पांच सिद्धांत यानि पंचशील की घोषणा हुई. इसके पहले जब चीनी प्रधानमंत्री चाऊ एन लाइ भारत आये तो यहाँ उनका जोरदार स्वागत किया गया. तीन महीने के भीतर ही नेहरू बीजिंग गए और वहाँ एशिया की खुशी और सम्पन्नता के लिए भारत और चीन की प्रगाढ़ दोस्ती पर जोर दिया. 1955 में बांडुंग कांफ्रेंस में इन रिश्तों को और औपचारिक व सांस्थानिक बना दिया.

3.6.2 विवादों की शुरुआत

लेकिन 1962 में चीन द्वारा भारत पर किया गया आक्रमण से भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू का भरोसा चीन के प्रति दोस्ती से उठ गया. चीन के विस्तारवादी नीति के आगे भारत का एक नयी विश्व व्यवस्था देने का सपना विफल हो गया. कुछ लोग नेहरू को इसके लिए असफल और आदर्शवादी ठहराते हैं लेकिन कुछ विशेषज्ञों का मानना है कि चीन के साथ गर्मजोशी भरे व्यवहार ने कम से कम 15 वर्षों तक भारत के उत्तर-पूर्वी सीमा पर अनावश्यक अशांति को टाले रखा. हालाँकि नेहरू किसी आदर्शवाद के चलते चीन का समर्थन नहीं कर रहे थे, आधुनिक अध्ययन बताते हैं कि सीमाई सैन्य बंदोबस्त पर भी नेहरू ने पर्याप्त ध्यान दिया था.

भारत ने शुरुआत से ही अपने पड़ोसी देशों के विरुद्ध विस्तारवादी नीतियों का विरोध किया है. लेकिन भारत के लिए अपनी इस नीति को बनाये रखने की दिशा में पाकिस्तान के अलावा चीन हमेशा से एक गंभीर चुनौती पेश करता रहा है. 1950 में भारत और चीन के बीच स्थित तिब्बत को चीन ने हड़पकर अपनी सीमाओं का विस्तार कर लिया. इससे भारत और चीन के बीच ऐतिहासिक रूप से जो एक मध्यवर्ती राज्य बना चला आ रहा था, खत्म हो गया. शुरुआत में भारत ने चीन के इस कदम का खुले तौर पर विरोध नहीं किया. लेकिन जब तिब्बत के धार्मिक नेता दलाई लामा ने ऐसी स्थिति में भारत से शरण माँगी और भारत ने उसे स्वीकार कर लिया.

तिब्बत के मसले पर भारत के रुख से चीन चिढ़ गया और उसने भारत के साथ कई मोर्चों पर सीमा विवाद शुरू कर दिए. चीन अंग्रेजी शासन के समय निर्धारित सीमा को नहीं मानता है. भारत तथा चीन के बीच निर्धारित मैकमोहन रेखा को चीन नकारता रहा है. इसी कारण चीन भारतीय भू-क्षेत्रों में पड़ने वाली दो इलाके जम्मू कश्मीर के लद्दाख वाले हिस्से के अक्साई चीन और अरुणाचल प्रदेश के आधिकांश हिस्सों को अपना क्षेत्र मानता है.

1950-51 में चीन में प्रकाशित मानचित्रों में भारत के एक बहुत बड़े हिस्से को चीन का अंग दिखाया गया, भारत की शिकायत के बावजूद चीन सरकार ने यह कहते हुए कि यह पुरानी सरकार की मानचित्र है कहकर टाल दिया. 3500 कि.मी. लम्बी भारत-चीन सीमा के दो भाग थे जिनमें पूर्वी भाग के मध्य सीमा का निर्धारण मैकमोहन रेखा द्वारा 1914 में किया गया था, लेकिन चीन इसे साम्राज्यवादी सीमा रेखा कहकर इसे मान्यता प्रदान नहीं कर रहा है और भारत के अरुणाचल प्रदेश में 90 हजार वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर दावा करता रहा है.

सीमावर्ती इन छुटपुट झड़पों के बाद भी नेहरूजी को यह विश्वास रहा कि चीन भारत पर कभी हमला नहीं करेगा. चीन ने विस्तारवादी नीतियों को अपनाते हुए 1957 से 1959 के बीच भारत के अक्साई- चीन इलाके पर भी कब्जा कर लिया. परन्तु 1962 में चीन ने नार्थ ईस्टर्न फ्रंटियर प्रोविन्स या नेफा या आज के अरुणाचल प्रदेश की ओर से भारत पर हमला कर दिया और असम के मैदानों से पहले ही वापस लौट गया. भारत और चीन के परस्पर संबंधों को यह युद्ध और उसमें मिली पराजय बुरी तरह प्रभावित करती रहती है.

दूसरे भाग पश्चिमी क्षेत्र में चीन की सीमाएं लद्दाख क्षेत्र से मिलती है। 1962 के युद्ध के बाद से ही चीन ने अक्साई चीन क्षेत्र में भारत की 38 हजार वर्ग किलोमीटर भूमि पर अधिकार कर लिया। उसके बाद चीन ने पाकिस्तान से एक समझौते के तहत 1963 में पाक अधिकृत कश्मीर का 5180 वर्ग किलोमीटर भू-भाग प्राप्त किया। इसके बदले में चीन ने पाकिस्तान को 1965 तथा 1971 में सैनिक हथियार एवं सुविधा प्रदान की।

3.6.3 1962 के बाद भारत-चीन सम्बन्ध

इस युद्ध के बाद भारत-चीन बीच होने वाली वार्ता शिथिल पड़ गई और दोनों देशों के बीच सम्बन्ध एकदम गर्त में चले गए। चीन की तरफ से यह कोई सम्पूर्ण युद्ध नहीं था और आसाम के मैदानों के पहले ही चीनी सेनाओं ने एकतरफा ढंग से युद्ध विराम कर दिया। जब नेफा की पहाड़ियों में चीनी सेना तेजी से उतर रही थी और लगभग समूचा सर्वोच्च भारतीय नेतृत्व देश के बाहर था, यह रणनीति बनाई गयी कि आसाम के मैदानों में चीन का ज़ोरदार ढंग से मुकाबला किया जाएगा। लेकिन चीन पूर्ण युद्ध से बचते हुए पीछे हट गया और भारत के कुछ हिस्सों पर कब्जा करके बैठ गया। तकरीबन 38,000 स्क्वायर किलोमीटर भारतीय इलाका चीन के नियंत्रण में चला गया।

चीन 1962 के युद्ध से कुछ फौरी फायदे चाहता था। नेहरु की विश्वनेता के तौर पर बन रही छवि को इस युद्ध ने बेतरह नुकसान पहुँचाया। दूसरे देश के भीतर नेहरु के आदमकद को वामपंथियों और दक्षिणपंथियों की ओर से घोर आलोचना का सामना करना पड़ा। तीसरे, गुटनिरपेक्षता की नीति को गहरा धक्का लगा क्योंकि इसके बाद नेहरु को मजबूरन पश्चिमी ताकतों से सहयोग की अपील करनी पड़ी। इसके पहले चीन को भारत और सोवियत संघ के आपसी संबंधों को लेकर भी काफी गहरी चिंता थी। चौथे, भारतीय सेना का मनोबल बुरी तरह नीचे गिर गया जो कि 1965 और 1971 में पाकिस्तान के खिलाफ युद्धों में मिली जीत के बाद ही बढ़ाया जा सका।

हालाँकि तबसे लेकर आज तक सीमा विवाद जबतब भारत और चीन के बीच संबंधों को प्रभावित करते रहे हैं। चीन ने हमेशा भारत पर एक दबाव बनाने के उद्देश्य से सीमाई विवादों को हवा दी है। जैसे 2009 में अरुणाचल प्रदेश में भारतीय प्रधानमंत्री की यात्रा पर चीन ने बेवजह का विवाद बनाते हुए अपनी आपत्ति दर्ज की। इसी वर्ष चीन ने जम्मू कश्मीर के भारतीय निवासियों को नत्थी वीजा जारी करने की शुरुआत करके कश्मीर की स्थिति को भी विवादित करने का प्रयास किया। उसका मत यह है कि कश्मीर के लोगों को आत्मनिर्णय का अधिकार मिलना चाहिए। यहाँ तक कि चीन भारत में कश्मीर के विलय को लेकर भी विवाद खड़ा करता रहता है और पाक अधिकृत कश्मीर में पाकिस्तान को संरचना निर्माण में भारी निवेश कर रहा है।

दोनों देशों के बीच पूर्ण राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने में दस साल से अधिक लग गये। इंदिरा गाँधी ने वरिष्ठ विदेश सेवा अधिकारी के० आर० नारायणन की चीन में राजदूत के रूप में नियुक्ति करके इस बर्फ को पिघलाने का प्रयास किया। इस तरह 1976 के अंत में दोनों देशों के बीच पूर्ण राजनयिक सम्बन्ध स्थापित हुए और लम्बे अंतराल के बाद एक शीर्ष नेता के तौर पर तत्कालीन विदेश मंत्री अटल बिहारी वाजपेयी 1979 में चीन के दौर पर गये। तत्पश्चात कई दौर की बातचीत भारत और चीन के बीच सीमा विवादों को सुलझाने के लिए उच्च अधिकारियों के बीच हुयी।

इसके बाद 1988 में राजीव गाँधी चीन की राजनयिक यात्रा पर गये। नए बदलते विश्व में इस बात की जरूरत महसूस की गयी दो देशों के बीच परस्पर संबंधों की आधारशिला मजबूत आर्थिक आधार पर भी विकसित की जा सकती है। इसके अलावा वैज्ञानिक और तकनीकी सहयोग, शैक्षिक और सांस्कृतिक संबंधों को लेकर भी दोनों पक्षों के बीच कई समझौते संभव हुए। इसलिए नब्बे के दशक से चीन के साथ भारत के संबंधों में ज्यादा जोर व्यापारिक मसलों

पर रहा है और सीमाई विवाद को हमेशा पीछे रखने के प्रयास किये गए हैं. इसके बाद चीनी राष्ट्रप्रमुखों का भारत आना और भारतीय प्रधानमंत्री का चीन जाना नरसिम्हाराव सरकार के दौर में भी जारी रहा. नरसिम्हा राव के चीन दौर की सबसे बड़ी उपलब्धि रही कि दोनों देश इस बात पर राजी हुए कि वे वास्तविक नियंत्रण रेखा पर शान्ति स्थापित करने के लिए प्रतिबद्ध रहेंगे.

हालाँकि 1998 में भारत द्वारा परमाणु परीक्षण के बाद चीन के साथ उसके सम्बन्ध फिर तनावपूर्ण हो गए. इसकी वजह थी कि तत्कालीन रक्षा मंत्री जॉर्ज फ़र्नांडीज ने चीन के खतरे को देखते हुए भारत के परमाणु परीक्षण को सही ठहरा दिया था. इसी तरह की एक चिट्ठी जो कि भारतीय प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी की ओर से अमरीकी राष्ट्रपति को लिखा था, वो लीक होने से भी चीन बिफर गया. हालाँकि सन 2000 में विदेश मंत्री जसवंत सिंह ने चीन जाकर चीनी पक्ष को आश्चस्त किया कि भारत चीन को अपने मित्र के तौर पर देखता है, खतरे के तौर पर नहीं. सन 2000 में चीनी प्रमुख झू रोंगज़ी के पाँच दिवसीय भारत यात्रा ने एक बार फिर राजकीय स्तर पर दोनों देशों के संबंधों को गति प्रदान की.

3.6.4 वर्तमान सम्बन्ध

चीन 1960 के दशक से ही दक्षिण एशिया में अपने सामरिक प्रभाव में वृद्धि करने का प्रयास करता रहा है. लेकिन पिछले कुछ दशकों में उसे अप्रत्याशित सफलता मिली है. 1990 के दशक से इसने भारत के पड़ोसी देशों के साथ सामरिक संबंधों का विकास करते हुए पाकिस्तान, बांग्लादेश, श्रीलंका आदि को बंदरगाह तथा नौसैनिक सुविधाएं प्रदान करके भारत को सामरिक दृष्टि से घेरने की कोशिश की. चीन की इस नीति को भारत को घेरने की रणनीति अथवा मोतियों की माला की संज्ञा दी जाती है.

सन 2014 में चीन ने हिन्द महासागर से होकर चीन और यूरोप को जोड़ने वाली समुद्र मार्ग के विकास का प्रस्ताव रखा है. इस प्रोजेक्ट को 21वीं शताब्दी मेरीटाइम सिल्क रूट परियोजना के नाम से जाना जाता है. इस परियोजना के तहत चीन भारत के पड़ोसी देशों में बंदरगाह एवं ढाँचागत सुविधाओं का विकास करेगा तथा इसके माध्यम से एशिया एवं यूरोप के बीच व्यापार का संचालन करेगा. इसी परियोजना का एक दूसरा भाग एक स्थल मार्ग का निर्माण भी है जो चीन एवं मध्य एशिया से होकर यूरोप तक जायेगा. इन दोनों परियोजनाओं को सम्मिलित रूप से वन बेल्ट वन रोड अथवा ओबेरा योजना के नाम से जाना जाता है. चीन ने मई 2007 को इस योजना को सफल बनाने के लिए शिखर सम्मेलन बीजिंग में आयोजित किया था जिसमें सभी दक्षिण एशियाई देशों ने भाग लिया था लेकिन भारत ने इसका विरोध करते हुए इसमें शामिल होने से इंकार कर दिया क्योंकि यह परियोजना भारत के पाक अधिकृत कश्मीर से होकर गुजरती है.

यह सर्वविदित तथ्य है कि स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू के दोस्ताना समर्थन के कारण ही आज चीन संयुक्त राष्ट्र संघ का स्थाई सदस्य है. अब जब संयुक्त राष्ट्र संघ में सुधार की बात हो रही है तो चीन इसका विरोध कर रहा है ताकि भारत को इसकी स्थाई सदस्यता न मिल सके. इसके अलावा चीन एन. एस. जी. (न्यूक्लियर सप्लायर ग्रुप) में भारत की सदस्यता की राह में भी रोड़े अटका रहा है.

चीन आज दुनिया की आर्थिक और सामरिक महाशक्ति के रूप में स्थापित हो चुका है. जिस तरह के सस्ते समान का उत्पादन चीन में हो रहा है, पूरी दुनिया इसके उत्पादों से पटी पड़ी है. विश्व व्यापार का संतुलन बुरी तरह से चीन की ओर झुक गया है और पूँजीवाद के चरम पर पहुँच चुकी अमेरिकन और यूरोपीय अर्थव्यवस्थाओं के सामने

विशाल घरेलू बाज़ार और सघन घरेलू मैन्युफैक्चरिंग के कारण चीन का आज कोई अन्य आर्थिक विकल्प नहीं दिखता है।

व्यापार का यह संतुलन आज बिल्कुल चीन के पक्ष में हो गया क्योंकि चीन का लगभग सभी देशों में किये गये निर्यात वहाँ से किये गए आयात से कहीं ज्यादा है। यहाँ तक कि भारत तथा चीन के बीच व्यापार बहुत इतनी तेजी से बढ़ गया है कि पिछले एक दशक में ही भारत चीन से सबसे ज्यादा आयात करने वाला देश बन गया है। इस आर्थिक स्थिति में या तो चीन भारत में अपने आर्थिक हितों को देखते हुए अपने विवादों के शांतिपूर्ण समाधान तलाशने का प्रयास करेगा या फिर अपनी श्रेष्ठतर आर्थिक स्थिति का लाभ लेते हुए भारत पर दबाव बनाने की नीति अपनाएगा।

3.7 नेपाल

3.7.1 भूमिका

भारत और नेपाल के बीच प्राचीनकाल से ही गहरे ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, समाजिक तथा आर्थिक सम्बन्ध रहे हैं। भारत तथा नेपाल एकमात्र ऐसे पड़ोसी देश है जिनके बीच खुली सीमा का सिद्धांत लागू है। यह खुली सीमा 1850 किलोमीटर लम्बी है जो कि भारत के पाँच राज्यों सिक्किम, पश्चिम बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश तथा उत्तराखंड को छूती हुयी गुजरती है। ब्रिटिशकाल में नेपाल आंतरिक मामलों में पूरी तरह स्वतंत्र था लेकिन विदेश नीति में ब्रिटिश सरकार का प्रभाव हुआ करता था। जब भारत स्वतंत्र हुआ तो 1950 में दोनों देशों ने शांति और मित्रता संधि पर हस्ताक्षर किये थे। नेपाल एक चारों ओर भूमि से घिरा राज्य होने के कारण आयात-निर्यात के लिए पूरी तरह भारतीय समुद्र तटों पर निर्भर है। इसीलिए भौगोलिक दृष्टि से भी नेपाल की भारत पर निर्भरता उसे भारत के करीब लाती है।

3.7.2 स्वतंत्र भारत में नेपाल की स्थिति

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने 17 मार्च 1950 को दिए गये अपने वक्तव्य में स्पष्ट किया था कि भारत और नेपाल के मध्य कोई सामरिक समझौता न होने के बावजूद नेपाल पर किये गये किसी भी आक्रमण को भारत सहन नहीं कर सकता है। इसकी साफ़ वजह यह भी है कि नेपाल पर किया जाने वाला कोई भी सम्भावित आक्रमण भारत की सुरक्षा के लिए निश्चित रूप से खतरा है। दोनों देशों की विदेश नीति का मुख्य आधार सन 1950 की मैत्री एवं शांति संधि रही। यह संधि दोनों देशों के मध्य व्यापारिक संधि का आधार भी बनी।

1951 में उत्पन्न राजनीतिक विवाद के समाधान हेतु मई 1951 में नेपाल के महाराजा त्रिभुवन दिल्ली पहुँचे और पंडित नेहरू की मध्यस्थता के पश्चात उन्होंने आर्थिक क्षेत्र में सहयोग भारत के साथ हर तरह से सहयोग करने का वचन दिया। लेकिन नेपाल में राजनीतिक दलों की गुटबंदी के कारण अराजकता, भ्रष्टाचार एवं हिंसा चरम सीमा तक पहुँच गई। इस स्थिति से निपटने के लिए नेपाल ने भारत से सैनिक सहायता की मांग के साथ ही सैना एवं प्रशासन के पुनर्गठन के लिए सहायता की मांग की और भारत ने यथाशक्ति सहायता प्रदान भी की।

1955 में नेपाल के 'टंका प्रसाद आचार्य' के प्रधानमंत्री बनने से नेपाल की विदेश नीति में एक नया मोड़ आया। इनके निर्देशन में नेपाल का चीन की तरफ झुकाव होने लगा जिसके प्रमाण 1955 में तिब्बत को लेकर चीन और नेपाल के मध्य एक संधि से मिलते हैं जिसके कारण भारतीय नीति निर्माताओं को चिंता होने लगी। इसी को ध्यान में रखते हुए भारत के राष्ट्रपति डॉ राजेंद्र प्रसाद ने 1956 में नेपाल की यात्रा की।

नेहरूजी की मृत्यु के पश्चात प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री ने पूर्व की भांति ही नेपाल के प्रति अपना दोस्ताना दृष्टिकोण बनाये रखा। इन्होंने गांधीवादी विचारक एवं अर्थशास्त्री मन्नाराइज अग्रवाल को राजदूत बनाकर नेपाल भेजा।

इन्होंने खुली कूटनीति के माध्यम से नेपाली जनता के हृदय तक भारतीयता को पहुँचा दिया. परिणामस्वरूप भारत-नेपाल समझौता के तहत सीमावर्ती कस्बे सुगौली और सीमावर्ती नेपालघाटी में ओखारा घाटी के बीच 128 मील लम्बी सड़क मार्ग का निर्माण करने का निश्चय किया.

1965 में शास्त्री जी ने कोसी परियोजना की घोषणा की जिसका उद्देश्य नेपाल को बाढ़ से बचाना एवं बिजली व सिंचाई का लाभ देना था. इन सब कारणों से 1965 में नेपाल नरेश ने भारत की यात्रा की और इंदिरा गाँधी के समयकाल 1966 में नेपाल के प्रधानमंत्री 'सूर्य बहादुर थापा' ने भी भारत की यात्रा की. जब इंदिरा गाँधी 1974 में नेपाल गयीं तो दोनों के मध्य कई समझौते हुए जिसके कारण दोनों देशों के संबंधों में अप्रत्याशित प्रगाढ़ता आने लगी.

3.7.3 नेपाल में हालिया घटनाक्रम

नेपाल में राजनीतिक और समाजिक संकट तब गहरा गया जब जून 2001 में नेपाल में पूरे राजवंश की हत्या कर दी गई. यह भारत-नेपाल संबंधों की दृष्टि से एक गंभीर चुनौती थी क्योंकि नेपाल के राजवंश ने हमेशा भारत के प्रति बहुत ही सकारात्मक रुख अपनाया था. भारतीय विदेश एवं रक्षा मंत्री जसवंत सिंह ने तत्काल नेपाल की यात्रा की और संकट के दौरान सहायता देने का आश्वासन दिया. वर्ष 2004 में प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह के नेतृत्व वाली यू.पी.ए. सरकार ने अपनी विदेश नीति में पड़ोसियों से मधुर सम्बन्ध बनाने की प्रथमिकता दी. इसी दौरान 6-9 जून 2006 को नेपाली प्रधानमंत्री कोइराला भारत यात्रा पर आये और भारत ने नेपाल को 100 करोड़ रूपया की आर्थिक सहायता की घोषणा की गयी.

माओवादियों के लम्बे संघर्ष एवं जनांदोलन से नेपाल में 240 वर्षों से चली आ रही राजशाही मई 2008 में समाप्त हो गई. नेपाल के नवनिर्वाचित संविधान सभा ने अपनी पहली बैठक में प्रधानमंत्री गिरजा प्रसाद कोइराला ने एक प्रस्ताव पारित करके नेपाल को धर्मनिरपेक्ष संघीय लोकतान्त्रिक गणराज्य घोषित कर दिया. सितम्बर 2008 में नेपाली सत्तासीन प्रधानमंत्री 'पुष्प कमल दहल' भारत

और 2009 में माधव कुमार प्रधानमंत्री बनने के बाद भारत यात्रा पर आये. माधव कुमार एवं मनमोहन सिंह के बीच द्विपक्षीय वार्ता में 59 वर्ष पुरानी शांति एवं मैत्री संधि की समीक्षा के लिए सहमत हुए. माधव कुमार ने आश्वासन दिया कि "नेपाल भारत विरोधी किसी भी गतिविधि के लिए अपनी जमीन का इस्तेमाल नहीं होने देगा. भारत की ओर से घोषणा की गई कि भारत नेपाल में 22 करोड़ की लागत से एक पॉलिटेक्निक कॉलेज का निर्माण और सड़क के विस्तार के साथ ही राष्ट्रीय पुलिस अकादमी की इमारत के लिए रु. 320 करोड़ रूपया देगा. 2011 में तत्कालीन नेपाली प्रधानमंत्री बाबुराम भट्टराई ने भारत की यात्रा की तथा व्यापार एवं सुरक्षा सहित विभिन्न क्षेत्रों में विकास हेतु समझौता किया. वर्ष 2014 प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी पड़ोसी देशों के प्रति सम्बन्ध बढ़ाने की प्राथमिकता देते हुए नेपाल की यात्रा की तथा नेपाल की संविधान सभा और संसद को सम्बोधित किया और नेपाल के आंतरिक मामलों में दखल न देने तथा सहयोग करने का वचन दिया.

3.7.4 भारत और नेपाल: विवाद के बिंदु

ऐतिहासिक रूप से देखा जाए तो भारत एवं नेपाल के बीच काफी सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध रहे, लेकिन नेपाल में नये संविधान बनने के बाद कुछ मतभेद उत्पन्न हो गये हैं जिनमें मधेशी एवं नया संविधान तथा चाइना फैक्टर प्रमुख है. नेपाल के नये संविधान में मधेशियों के प्रति हो रही भेदभाव नीति को लेकर भारत चिंतित है.

दरअसल मधेशी भारतीय मूल के नेपाली लोग हैं जो नेपाल के दक्षिणी भाग में निवास करते हैं इसलिए इस क्षेत्र को मधेश के नाम से जाना जाता है। 1814 -16 में ब्रिटिश नेपाली युद्ध के दौरान अंग्रेजों ने नेपालियों द्वारा कब्जा

किये गये सभी क्षेत्रों पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया था. भारतीय तराई के अधिकांश क्षेत्र अंग्रेजों के नियन्त्रण में आ गये थे लेकिन अवध एवं मिथिला का छोटा-सा हिस्सा नेपाल में मिल गया था जिसे मधेश कहते हैं. मधेश क्षेत्र का क्षेत्रफल 24100 वर्ग किलोमीटर है जो कि नेपाल के कुल क्षेत्रफल का 17% क्षेत्र है जिसमें नेपाल के 20 जिले स्थित हैं तथा 55% आबादी रहती है. इस क्षेत्र में 22% मधेशी और 29% गैर मधेशी हैं.

नये संविधान में तराई मधेश के 20 दक्षिणी जिलों में सिर्फ 8 जिलों को ही मधेश राज्य में शामिल किया गया है. मधेशियों का मानना है कि नेपाली संसद में उन्हें जनसंख्या के आधार पर सीटें नहीं मिलेगी और न ही कोई मधेशी राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री बन सकेगा. इसके अलावा नेपाली सेना, प्रशासन, पुलिस में मधेशियों को प्रतिनिधित्व न देकर उन्हें दोगले दर्जे के नागरिक बनाया गया है. इसके जवाब में मधेशियों ने अपने आक्रोश को उग्र करते हुए भारत द्वारा निर्यात की जाने वाली सामग्री को रोककर नेपाल एवं भारत के मध्य खाई पैदा कर दी है. नेपाल ने भी भारत पर आरोप लगाया कि भारत की नाकेबंदी की वजह से ही तेल के टैंकर नेपाल नहीं आ रहे हैं. जबकि भारत का कहना था कि ट्रक के रुकने का कारण भारत नहीं बल्कि नेपाल में नये संविधान में अपनी भागीदारी नहीं मिलने से नाराज लोगों का प्रदर्शन है.

संदेह और विवाद का एक दूसरा विषय चीन का भारत और नेपाल के मामलों में दखल देना है. चीन नेपाल से करीबी बनाकर भारतीय सीमाओं को और सीधे तौर पर निगरानी लेने के लिए आतुर है. दरअसल ब्रिटिश सरकार भी चीन के प्रति सुरक्षा को लेकर आशंकित थी और 1950 में चीन की सेनाओं के तिब्बत में प्रवेश के बाद भारत तथा नेपाल दोनों चीन के प्रति आशंकित हुए थे. लेकिन 1962 में भारत- चीन युद्ध के बाद नेपाल का झुकाव चीन की तरफ होने लगा और 1965 में चीन ने दोनों देशों के बीच काठमांडू-कोदारी राजमार्ग के निर्माण पर सहमति व्यक्त कर अपनी मशाएं साफ़ कर दी थीं.

2008 में नेपाल में लोकतान्त्रिक आंदोलन की सफलता के बाद राजशाही का अंत हो गया तथा संविधान सभा चुनाव में माओवादियों ने सबसे बड़ा दल होने के नाते सरकार का गठन किया. माओवादी पार्टी चीन से वैचारिक सम्यता रखती थी इसलिए प्रधानमंत्री पुष्प कमल दहल ने पूर्व कूटनीतिक परम्परा को तोड़ते हुए भारत की यात्रा से पहले चीन की यात्रा की. इस कारण नेपाल में चीन का आर्थिक एवं राजनीतिक प्रभाव बढ़ने लगा. 2015 में मधेशी आंदोलन के बाद चीन ने नेपाल को तेल तथा आवश्यक वस्तुओं का भी आपूर्ति किया जो कि भारतीय विदेश नीति के लिए एक बड़ी विफलता सिद्ध हुयी. चीन का यह दखल यहीं तक नहीं रुका है बल्कि 2016 में नेपाल के प्रधानमंत्री के.पी.शर्मा ओली की चीन यात्रा के वक्त दोनों देशों ने व्यापार तथा पारगमन की संधि पर भी हस्ताक्षर किये. नेपाल ने चीन की वन बेल्ट तथा वन रोड योजना में भी भाग लेने पर अपनी सहमति व्यक्त की है. यहाँ तक कि दोनों देशों ने 2017 में अपना पहला संयुक्त सैनिक अभ्यास भी किया. भारत-नेपाल संबंधों के लिए यह एक गंभीर चिंता का विषय है.

3.8 भारत-श्रीलंका सम्बन्ध

3.8.1 भूमिका

भारत-श्रीलंका सम्बन्ध सामान्य तौर पर मित्रतापूर्ण, सौहार्दमय एवं तनावपूर्ण रहे हैं. गौरतलब है कि श्रीलंका भारत की दक्षिणी सीमा से सटा हुआ है. यह हिन्द महासागर में स्थित है और इसका कुल क्षेत्रफल 25,332 वर्ग मील है. 1 करोड़ 50 लाख से ऊपर की जनसंख्या में लगभग 64 प्रतिशत जनता बौद्ध धर्म में विश्वास करती है. 14 प्रतिशत

लोग हिन्दू धर्मावलम्बी है तो 9 प्रतिशत ईसाई, 6 प्रतिशत इस्लाम में विश्वास करने वाले और शेष अन्य धर्मों से सम्बंधित हैं। श्रीलंका में लगभग 15 प्रतिशत निवासी तमिल भाषी हैं और शेष निवासी सिंहली भाषा बोलते हैं।

भारत-श्रीलंका का सम्बन्ध अति प्राचीन है। भारत में उदित बौद्ध धर्म की जब भी बात की जाएगी तब तब श्रीलंका का नाम अवश्य ही स्मरण किया जायेगा। अशोक के पुत्र 'महेन्द्र' चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में श्रीलंका में बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु भेजे गए थे। मध्यकाल के दरम्यान में भी हम इन दो देशों के बीच एक प्रकार का आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध देखते हैं।

3.8.2 भारत और श्रीलंका संबंधों का अतीत

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा करें तो 16वीं शताब्दी में पुर्तगाली श्रीलंका आयर और उन्होंने यहाँ अपना उपनिवेश स्थापित कर लिया। 1658 में डचों ने पुर्तगालियों को पराजित करके श्रीलंका पर अपना शासन स्थापित कर लिया। उसके बाद 1796 में अंग्रेजों ने डचों से सत्ता छीन ली और 1802 में श्रीलंका को अंततः ब्रिटिश साम्राज्य का उपनिवेश घोषित कर दिया गया। इस तरह भारत की तरह श्रीलंका पर भी लगभग डेढ़ सौ सालों तक ब्रिटेन का कब्जा रहा। उसके बाद 4 फरवरी 1948 को श्रीलंका को स्वंत्रता प्राप्त हुई।

संयुक्त अतीत के चलते भारत की भांति श्रीलंका भी राष्ट्रमंडल का सदस्य बन गया और भारत की ही भांति श्रीलंका भी गुट-निरपेक्षता तथा शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीतियों में विश्वास करता है। श्रीलंका गुट-निरपेक्ष आन्दोलन (Non-Alignment Movement) के आरंभ (1961) से ही इसका सक्रिय सदस्य देश है। छ; अन्य देशों के साथ साथ श्रीलंका दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग संगठन {सार्क} का संस्थापक सदस्य भी है। भारत की ही तरह श्रीलंका की भी संयुक्त राष्ट्र और विश्व शांति में पूरी आस्था है।

3.8.3 सिंहली-तमिल संघर्ष की पृष्ठभूमि में भारत-श्रीलंका सम्बन्ध

भारत और श्रीलंका के बीच विवाद की जड़ श्रीलंका में सिंहली और तमिल दो प्रमुख जातीय समूहों के बीच का संघर्ष है। स्वंत्रता पूर्व इन दोनों समूहों के बीच हिंसक संघर्ष का इतिहास रहा है जो कि स्वंत्रतता के बाद भी यह बहुत दिनों तक जारी रहा। श्रीलंका की आजादी के बाद 'सिंहली राष्ट्रवाद' ने शिक्षा और राजनीतिक प्रशासन में तमिलों की उपस्थिति को समाप्त करने की मांग की क्योंकि सिंहली राष्ट्रवादियों का मानना था कि "श्रीलंका में तमिलों के साथ कोई रियायत नहीं बरती जानी चाहिए क्योंकि श्रीलंका सिर्फ सिंहली लोगों का है"। इन स्वरूपों को देखते हुए 1976 में तमिल अधिकारों के लिए संघर्ष करने के लिए लिबरेशन टाइगर्स ऑफ़ तमिल ईलम उर्फ़ लिट्टे की स्थापना हुयी जो कि अपने तौर-तरीकों में उग्रवादी सैन्य संगठन था।

इस तरह सिंहली राष्ट्रवाद द्वारा तमिलों के प्रति उपेक्षा से भरे बरताव से उग्र तमिल राष्ट्रवाद की आवाज बुलंद होती है 1983 के बाद से यह उग्र तमिल संगठन लिट्टे श्रीलंकाई सेना के साथ सीधे संघर्ष में उलझने लगा। जिसका परिणाम हमे वहां हुए 1983 के गृहयुद्ध के रूप में देखने को मिलता है। इस संघर्ष के दरम्यान तमिल संगठनों ने श्रीलंका के तमिलों के लिए एक अलग देश की मांग करना प्रारम्भ कर दिया।

भारत के साथ यह विवाद श्रीलंका के संबंधों को इस तरह प्रभावित करता था क्योंकि यह समस्या श्रीलंका में रह रहे भारतीय तमिलों से जुड़ी थी। इस सन्दर्भ में भारत के तमिल नेताओं और जनता का भारतीय सरकार पर भारी दबाव रहता था कि वह श्रीलंकाई तमिलों के हितों की रक्षा करने के लिए आगे बढे। भारतीय सरकार ने भी समय समय पर तमिलों के सवाल पर श्रीलंका की सरकार से बातचीत की कोशिश की लेकिन श्रीलंका के इन तमिल मसलों में भारतीय सरकार प्रत्यक्ष रूप से 1987 में जाकर ही शामिल हुई। जिसके तहत भारत की सरकार ने श्रीलंका से एक

समझौता किया तथा श्रीलंका सरकार और तमिलों के बीच रिश्ते सामान्य करने के लिए भारतीय शान्ति सेना को भेजा गया. लेकिन भारतीय सेना वहाँ जाकर शान्ति एक प्रयासों के बजाय लिट्टे के साथ सैन्य संघर्ष में फँस गई. भारतीय सेना की श्रीलंका में उपस्थिति को श्रीलंकाई जनता ने पसंद नहीं किया क्योंकि श्रीलंकाई जनता के लिए यह असह्य था कि भारत श्रीलंका के अंदरूनी मामलों में दखलंदाजी करे. भारत का श्रीलंका में शान्ति सेना भेजना एक तरह से असफल साबित हुआ और 1989 में भारत ने अपनी 'शांति सेना' बिना लक्ष्य हासिल किये वापस बुला ली. यहाँ तक कि यही वजह थी कि लिट्टे ने साजिश करके 1991 में भारतीय प्रधानमंत्री राजीव गाँधी की हत्या करके अपना बदला चुकाया.

3.8.4 कच्छद्वीप टापू विवाद

पाक जलडमरूमध्य के बीच कच्छद्वीप एक किलोमीटर लंबाई व डेढ़ किलोमीटर चौरा क्षेत्रफल वाला टापू है. यह टापू श्रीलंका की ज़मीन से 10.5 नॉटिकल मील की दूरी पर है तथा भारत की जमीन से 12.5 नॉटिकल मील की दूरी पर है. दोनों ही देश अलग-अलग वजहों से इस पर अपना अधिकार मानते हैं. भारत और श्रीलंका की स्वतन्त्रता के पश्चात 1949 से इस टापू पर प्रभुसत्ता को लेकर दोनों देशों के मध्य विवाद खड़ा हो गया. अंततः भारत ने इस संदर्भ में उदार दृष्टिकोण अपनाते हुए 28 जून 1974 को इस टापू पर श्रीलंका का आधिपत्य स्वीकार कर लिया. इस प्रकार शांतिपूर्ण ढंग से यह विवाद सुलझाकर दोनों देशों ने अपने दूरदर्शिता एवं परिपक्वता का परिचय दिया.

3.9 म्यांमार

भारत तथा बर्मा के बीच प्राचीन काल से ही ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध रहे हैं। ब्रिटिश काल में म्यांमार (तब का बर्मा) भारत का अंग रहा है. 1935 में बर्मा भारत से अलग हुआ था और 1948 में म्यांमार को आजादी प्राप्त हुई थी. भारत तथा बर्मा के बीच 1640 किलोमीटर की थल सीमा है और क्षेत्रफल की दृष्टि से बर्मा भारत का दूसरा सबसे बड़ा पड़ोसी देश है.

सन 1884-1948 तक म्यांमार में ब्रिटेन का शासन रहा और उसके बाद लम्बे समय तक म्यांमार में सेना का प्रभुत्व रहा है. भारत ने 1990 के दशक तक म्यांमार के सैनिक शासन के साथ सकारात्मक लगाव की नीति अपनाई. लोकतंत्र को कुचलने के लिए सैन्य ने 1990 से ही आंग-सान सू को नजरबंद कर रखा था. लेकिन अन्तराष्ट्रीय दबाव के चलते नवम्बर 2010 में इन्हें नजरबंदी से रिहा करना पड़ा था. पहली बार 27 मई 1990 को सू की की पार्टी ने आम चुनाव में हिस्सा लिया था. इनकी पार्टी ने तकरीबन 80% सीटों पर दर्ज की थी. इस अवधि में दोनों देशों के बीच उच्चस्तरीय यात्राओं का आदान प्रदान चलता रहा. 1987 में भारत के प्रधानमंत्री राजीव गाँधी ने म्यांमार की यात्रा की थी लेकिन लोकतान्त्रिक आंदोलन का समर्थन करने के कारण 1990 के दशक में भारत तथा म्यांमार के सम्बन्ध आमतौर पर तनावपूर्ण बने रहे.

सन 2010 के बाद म्यांमार में लोकतंत्र की स्थापना के प्रयास तेज हुए. भारत में 1990 के दशक में म्यांमार की लोकतान्त्रिक नेता आंग सान सू की के नेतृत्व में लोकतंत्र की स्थापना हेतु आंदोलन चलाये गये जिसके कारण भारत एवं म्यांमार के सैनिक शासन के बीच सम्बन्ध खराब हो गये. अंततः 2015 के लोकतान्त्रिक चुनाव के बाद म्यांमार में आंग सान सू की के राजनीतिक दल 'नेशनल लीग फॉर डेमोक्रेसी' को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ. इस प्रकार भारत तथा म्यांमार के बीच लोकतंत्र की प्रक्रिया के साथ-साथ आपसी संबंधों की नींव भी मजबूत हुई.

2011 एवं 2012 में म्यांमार के राष्ट्रपति यू थिन सीन एवं अगस्त 2016 में वर्तमान राष्ट्रपति यू० हतिन क्याव ने भारत की राजकीय यात्राएं कीं. इन उच्चस्तरीय यात्राओं के परिणामस्वरूप भारत एवं म्यांमार के बीच कई लाभकारी

कार्यक्रमों का क्रियान्वयन किया जा रहा है. इनमें दोनों देशों के बीच अपराधिक मामलों में सहयोग का समझौता, कलादान हाईवे का निर्माण, आनंद मंदिर का जीर्णोद्धार, सितवे बंदरगाह का निर्माण तथा अन्य विकास कार्यक्रम शामिल हैं. भारत ने इस अवधि में म्यांमार के विकास के लिए 297 मिलियन डॉलर के लोन तथा 477 मिलियन डॉलर के अनुदान दिए हैं. भारत के सहयोग से बने म्यांमार के सितवे सीपोर्ट का संचालन आरम्भ हो गया है और इस बंदरगाह के द्वारा भारत की अपनी उत्तरी-पूर्वी राज्यों तक पहुँच आसान हो गई है.

भारत तथा म्यांमार के बीच सम्बन्ध वर्तमान में सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है. भारत के उत्तरी पूर्वी क्षेत्रों की सुरक्षा तथा विकास, इन क्षेत्रों के साथ सम्पर्क, दक्षिण पूर्वी देशों के साथ भारत के सम्बन्ध, चीन के विरुद्ध सामरिक संतुलन, उर्जा सुरक्षा, समुद्री सुरक्षा, यातायात तथा व्यापार की दृष्टि से म्यांमार भारत के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है. सितवे बंदरगाह पर भारत को सुविधाएं मिल जाने के कारण उत्तरी पूर्वी क्षेत्रों के साथ भारत के सम्पर्क का एक नया मार्ग खुल गया है. म्यांमार में तेल तथा गैस के प्रचुर भण्डार होने के कारण उर्जा के क्षेत्र में सहयोग की व्यापक सम्भवनाएं हैं.

आसियान का सदस्य होने के नाते म्यांमार भारत की लुक ईस्ट नीति की सफलता के लिए सहायक है. बिम्स्टेक के सदस्य के कारण म्यांमार भारत को क्षेत्रीय एकीकरण के साथ साथ दक्षिण एशिया तथा दक्षिण पूर्व एशिया के मध्य अंतः क्षेत्रीय सहयोग बढ़ाने में सहायक है. इस प्रकार भारत म्यांमार राजनीतिक, आर्थिक एवं तकनीकी विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है. वर्तमान में म्यांमार में लोकतंत्र की प्रक्रिया भी क्रमशः मजबूत हो रही है जिससे दोनों देशों के बीच भविष्य में भी सम्बन्धों के मजबूत होने की सम्भावना है.

3.10 सारांश

इस प्रकार देखें तो भारत अपने पड़ोसी देशों के साथ संबंधों के मामले में एक उदार और आगे बढ़कर सम्बन्ध बनाने की नीति का हामी रहा है. लेकिन जो विवाद उसे अपने औपनिवेशिक अतीत की वजह से विरासत में मिले हैं उनकी वजह से उसे पाकिस्तान के साथ बेवजह के विवादों और युद्धों में उलझना पड़ता है. इसके अलावा एक ही क्षेत्र में चीन और भारत जैसी दो महाशक्तियों की वजह से उनके बीच की आपसी प्रतिस्पर्धा तनाव और विवाद का कारण बनती रही है. इसके बावजूद भारत ने अपने पड़ोसी देशों के साथ आर्थिक संबंधों को तवज्जो देते हुए उनके साथ अपने संबंधों को प्रगाढ़ बनाने का भरपूर प्रयास किया है.

3.11 सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

1. चन्द्र, बिपिन, आजादी के बाद का भारत
2. चन्द्र, बिपिन, आधुनिक भारत, एनसीईआरटी
3. गुहा, रामचन्द्र, भारत गाँधी के बाद
4. समकालीन विश्व राजनीति, एनसीईआरटी राजनीति विज्ञान (कक्षा-12)

3.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत के अपने पड़ोसी देशों के साथ संबंधों पर चर्चा कीजिए।